वैदिकदर्शनेष्वात्मस्वरूपविमर्शः

A CRITICAL STUDY OF THE NATURE OF THE SELF IN THE VEDIC PHILOSOPHIES



तरति शोकमात्मवित्

प्रणेता

स्वामी गुरुपादानन्द सरस्वती

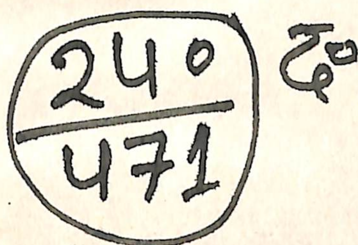
१९९०



वैदिकदर्शनेष्वात्मस्वरूपविमर्शः

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य

'चक्रवर्ती' (पी-एच. डी.) उपाधये स्वीकृतः शोधप्रबंधः



प्रणेता सम्पादकश्च

स्वामी गुरुपादानन्द सरस्वती

वेदान्तशास्त्राचार्यः, चक्रवर्ती (पी-एच. डी.),

प्राच्यविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः

काशी हिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी

प्रकाशक

स्वामी गुरुपादानन्द सरस्वती

श्रीब्रह्मानन्द मठ, के. २२/११, पञ्चगङ्गाघाट

वाराणसी

१९९०

ग्रन्थोऽयं भारतसर्वकारस्य मानवसंसाधनविकासमन्त्रालयस्य
शिक्षाविभागस्यार्थिकसाहाय्येन मुद्रितः ।

मूल्यम् : ३७ रुप्यकाणि

प्रथमसंस्करणम्—१००० प्रतिरूपाणि

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्-
स्वामी गुरुपादानन्द सरस्वती
श्रीब्रह्मानन्द मठ
के. २२/११, पञ्चगङ्गाघाट,
वाराणसी–२२१००१

मुद्रकः—रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
कमच्छा, वाराणसी

VAIDIKA DARŚANEṢVĀTMASVARŪPA VIMARŚAḤ

(A Critical Study of the Nature of the Self in the Vedic Philosophies)

By

SWAMI GURUPADANANDA SARASWATI
Vedāntāchārya, Ph.D.

Publisher
SWAMI GURUPADANANDA SARASWATI
SRI BRAHMANANDA MATH
K. 22/11, Panchganga Ghat
Varanasi
1990

This Thesis has been approved for the award of the Degree of Chakravarti
(Doctor of Philosophy),
BANARAS HINDU UNIVERSITY IN 1983

(This book is published with the financial assistance from the Department of Education, Ministry of Human Resource Development, Government of India)

Ist Edition, Copies 1000

Price : Rs. 37.00

Copies available at :—
Swami Gurupadananad Saraswati
Sri Brahmananda Math
K. 22/11, Panchganga Ghat,
Varanasi - 221001

Printed at :—
Ratna Printing Works
Kamachha, Varanasi.

❀ ॐ ❀

विद्वद्वरेण्यानां न्याय-वेदान्त-साङ्ख्य-योगाचार्याणां दर्शनशास्त्रविशारदानां मम विद्यागुरूणां निर्देशकमहोदयानां श्रीमत्पण्डितकेदारनाथ-त्रिपाठिमहानुभावानां प्राक्कथनपूर्वकं

शुभकामना

प्राक्कथनम्

प्रस्तुतस्य "वैदिकदर्शनेष्वात्मस्वरूपविमर्शः" इत्यभिधानशोधग्रन्थस्य प्रणेता स्वामी श्रीमद्गुरुपादानन्दसरस्वती काशीहिन्दूविश्वविद्यालयतो लब्धवेदान्तशास्त्राचार्योपाधिर्लब्धचक्रवर्ती (पी-एच० डी०) इत्युपाधिश्च स्वाध्ययनकाले "ब्र० गुरुपादचैतन्यः" इति नाम्ना क्रमशः ऋषिकेशे, हरिद्वारे, काश्यां दक्षिणामूर्ति-संस्कृतमहाविद्यालये काशी हिन्दू विश्व-विद्यालये चाऽधीयान आसीत्। प्रारम्भादेवायं प्रतिभासम्पन्नोऽध्ययने परिश्रमशीलः स्वभावतो विनीतश्चाऽसीत्। एभिर्गुणैरयं गुरुवर्गस्य सदा स्नेहपात्रं विद्यार्थिसमुदाये सम्मानितश्चासीदिति ममानुभवः। आचार्य-परीक्षायां सङ्काये प्रथमश्रेण्यां सर्वप्रथमस्थानं लब्धमेभिः। अद्वैतवेदान्तं सश्रद्धमधीयानोऽप्ययमेतज्जिज्ञासयैव दर्शनान्तराणि स्माधीते यत् नैकट्येन तेषां दर्शनान्तराणामपि प्रतिपाद्यतत्त्वानि ज्ञातव्यानीति। येन तेभ्यो वेदान्तदर्शनस्य वैशिष्ट्यं स्फुटं प्रतीयेत श्रुतयोऽप्युपदिशन्ति 'नेति नेति' इति रीत्या अरुन्धतीन्यायेन च ब्रह्मस्वरूपावबोधनम्।

एतत् संस्काराबद्धान्तःकरणा इमे आचार्यपरीक्षोत्तीर्णतानन्तरं शोध-कार्यमपि उपर्युक्तविषय एव सम्पादयितुमैच्छन्। तत्र च निर्धारित-समयावधावेव तत् पूरयित्वा "डाक्टरेट" उपाधिमधिगतवन्तः। यद्यपि काशीहिन्दूविश्वविद्यालयसेवातो मम निवृत्त्यनन्तरं शिक्षामन्त्रालय-योजनायां हरिद्वारे स्थितस्य ममैभिः सम्पर्कः किञ्चिद्भग्न इवाभूत्, तथापीमे काश्यामेवावस्थाय पण्डितराजस्य एस० सुब्रह्मण्यशास्त्रिणोऽपि महत्त्वपूर्णनिर्देशसौभाग्यमध्यगच्छन्निति महत्प्रमोदविषयोऽभूत्। एतदर्थं तान् विद्वद्वरेण्यान् प्रति अहमपि भूयसीं कृतज्ञतामावहामि। शोधकार्य-मिमे संन्यासग्रहणानन्तरमेव प्रारभ्य पर्यपूपुरन्। तदवधावेव इमे महता

शिरोरोगेण पीडिता अभूवन्। ततो वर्षत्रयानन्तरं तस्यैव रोगस्य पूर्णचिकित्सार्थं देहल्यामेव चिकित्सालये शल्य (शिरः) चिकित्सार्थं प्रविष्टाः। तत्र पूर्णनैरुज्यमधिगत्य कतिपयैर्मासैः स्वस्था भूत्वा इमे विचारितवन्तो यत् किमनेन स्वान्तःसन्तोषमात्रजननप्रयोजनेन-डाक्टरेट-उपाधिप्राप्तिमात्रप्रयोजनेन वा शोधप्रबन्धलेखनश्रमेण, यद्येकत्र सङ्कलिता आलोचिताश्च आत्मविषयकविचाराः बहूनां जिज्ञासूनां दृष्टिगोचरतां न प्राप्नुयुरिति।

अत एव शोधप्रबन्धममुं ग्रन्थरूपेण प्रकाशयितुं बद्धपरिकरा इमे तदर्थमचेष्टन्त। तदर्थमेतेषां प्रार्थनां मम समर्थनञ्चाधिगत्य काशीहिन्दू-विश्वविद्यालयस्य शिक्षणोपकुलसचिवेन शीघ्रमेव तत्प्रकाशनानुमतिर्दत्ता। ततोऽस्य पाण्डुलिपिः एभिः सुप्रसिद्धे "रत्ना प्रिंटिंग" मुद्रणालये समर्पिता। इत्थमेतेषां स्वामिवर्याणां संलग्नतया मुद्रणायलस्य सत्वरप्रयासेन प्रकाशितो भूत्वायं ग्रन्थो विद्वत्समाजस्य, महात्मनां, सामान्यजनवर्गस्य च समक्ष-मुपस्थापितो जातः। नूनमयमभिनवो ग्रन्थो विदुषां महात्मनाञ्च परितोषाय कल्पेतेति मन्ये।

एवमयं शोधग्रन्थो विश्वविद्यालयेषु विद्वद्वर्गेषु सामान्यजिज्ञासुषु चाधिकाधिकामुपयोगितां साधयेदिति विश्वसिमि।

अन्ते श्रीकाशीविश्वेश्वरं भगवतीमन्नपूर्णाञ्च प्रार्थये यदिमान् स्वामिवर्यानग्रेप्येवंविधकार्यसम्पादनाय दीर्घायुषः शरीरवाङ्मनोभिर्निकामं स्वस्थान् रक्षेतामिति शम्।

केदारनाथत्रिपाठी 'दर्शनरत्नम्'

न्याय-वेदान्त-साङ्ख्य-योगाचार्यः

वाचस्पतिः (डी० लिट्)

निर्देशको भूतपूर्वदर्शनविभागाध्यक्षश्च

प्राच्यविद्याधर्मविज्ञानसङ्काये

का.हि.वि.वि.

भू.पू. प्रधान गवेषकः (U.G.C.)

मकरसंक्रान्तिः, २०४६ वि० सं०

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठानामध्यात्मविद्यासार्व-
भौमानां वेदान्तचिन्तनैकपराणामपि सनातधर्मसंरक्षणे निरन्तर-
तत्पराणां पदवाक्यप्रमाणपारावारीणानां यतिकुलचूडामणीनां
निरञ्जन-पीठाधीश्वराणामनन्तश्रीविभूषिता-
नामाचार्य-महामण्डलेश्वराणां

स्वामिमहेशानन्दगिरिमहाराजानां शुभाशोर्वचनम्

भारतीयदर्शन आस्तिकता, ईश्वर में विश्वास को न मानकर परलोक में रहने वाले आत्मा का विश्वास मानता है। अतः सांख्य व पूर्वमीमांसा अनीश्वरवादी होकर भी आस्तिक हैं। पाणिनि ने भी इसे ही स्वीकारा है। यतः आत्मा अहम्प्रत्यय से अपरोक्ष सिद्ध है, अतः आत्मा के विशेषज्ञान विषयक मतभेदों के आधार पर ही दर्शनों का भेद सिद्ध है। स्वामी गुरुपादानन्द सरस्वतीजी ने भारतीय दर्शनों में प्रतिपादित एतद्विषयक विचारों को एकत्र करके सामान्य पाठकों का उपकार किया है।

पाश्चात्य दर्शन क्लेशनिवृत्त्यर्थ प्रवृत्त नहीं है, यह मान्यता भारत में प्रचलित है। क्लेश का स्वरूप यदि जन्ममरण प्रवाह है, तो यह बात ठीक है। यतः जन्ममृत्युसन्तति वे स्वीकारते ही नहीं। पर अज्ञान को ही यदि वास्तविक क्लेश स्वीकार किया जाय, तब तो ज्ञानेच्छा या जिज्ञासा तो उनके Philosophy का पर्याय होने से क्लेशनिवृत्ति ही उनकी दृष्टि थी, स्वीकारनी ही पड़ेगी।

न्याय, सांख्य व वेदान्त तो जिज्ञासाशास्त्र ही हैं, यह निर्विवाद स्वीकारना ही होगा। अथ च वे दर्शन में जीवन के सभी प्रश्नों को लेते हैं। नीतिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र उपासनाशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, परलोकशास्त्र, तर्कशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञानशास्त्र आदि सभी बातों पर दर्शन की दृष्टि से विचार अपेक्षित रहता है। परन्तु भारत में metaphysics या तत्त्वमीमांसा पर ही दर्शन के ग्रन्थों में प्रायः विचार आता है। वेदान्तदर्शन यद्यपि अन्य विषयों का भी यत्र तत्र निर्देश करता है, परन्तु वह भी पूर्णरूपेण इन विषयों की मीमांसा में प्रवृत्त नहीं होता। इसलिये भारत में दर्शन जीवन को प्रभावित नहीं कर पाया है। निवृत्ति-मार्ग में ही इसका उपयोग रह गया है। अतः पाश्चात्यदर्शन विनोद या व्यक्तिगत विषय है, यह विचारणीय उक्ति है। भारतीय दर्शनपर यह आक्षेप संगत हो सकता है। जोवन से सम्बद्ध होने के कारण ही वहाँ की परम्परा का प्रकार यहाँ से भिन्न है। यहाँ प्राप्त ज्ञान का संरक्षण ही प्रधान

है। वहाँ प्राप्त ज्ञान का प्रयोग से प्राप्त तात्कालिक व तद्देशीय निर्देशन प्रधान है।

सभी दर्शनों का मूल वेद में है, इसका प्रमाण उपस्थापित करना आवश्यक है। राजतन्त्र प्रजातन्त्र का वेद में कथन भी प्रमाण उपस्थापन के बिना प्रतिज्ञामात्र ही रह जाता है। इन तन्त्रों का क्या स्वरूप था इत्यादि भी प्रतिपादन की अपेक्षा रखते हैं। स्वर्गादि पदार्थों के समान बहिस्त, हेवेन आदि पदार्थों का परिचय वेद में मिलना तो दुर्लभ ही होगा। अतः वैदिकदर्शन एवं पाश्चात्यदर्शनों को स्वतन्त्र ही स्वीकारना श्रेयस्कर है। बौद्धों के अनात्मवाद एवं कर्मसिद्धान्त में जो विरोध है, उसको दिखलाने से ही वैदिक आत्मवाद पुष्ट हो सकता है।

सांख्यसूत्रों के आधार पर सांख्य का वैदिकत्व सुन्दर बना है। पर योग के विषय में आनुश्रविक से श्रौत प्रतिपादित लेना चिन्त्य है। इसी प्रकार ईश्वर स्वीकृतिमात्र से वैदिक ईश्वर का ग्रहण भी संदिग्ध हो पड़ा है। विचार व योग प्रक्रियाओं का साम्य प्रदर्शित किया जाता तो सम्भवतः अधिक सफलता होती। इसी प्रकार हीनयानी बौद्ध दर्शनों में मूलग्रन्थों का सन्दर्भ अपेक्षित था। शून्यवाद एवं जैन दर्शनों में प्रामाणिक ग्रन्थों के सन्दर्भों से विचार में उज्ज्वलता आयी है। स्वामीजी की प्रखर बुद्धि अन्य दर्शनों के अवगाहन में चतुर है, यह जैन दर्शन के प्रसंग में स्पष्ट हो जाता है।

न्यायदर्शन अपवर्ग के प्रति ज्ञान व समाधि या उपासना का सह-समुच्चय स्वीकार करता है। अविद्या ही न्याय दर्शन में कारण है, मिथ्या-ज्ञान नहीं, क्योंकि मिथ्या पदार्थ उनके यहाँ स्वीकृत ही नहीं है। उनके यहाँ ज्ञान का विषय तो सदा सत्य ही होता है, चाहे अलौकिक सन्निकर्ष के कारण ही हो। मोक्ष में आनन्द भासर्वज्ञ ने स्वीकारा है। एवं वर्तमान में न्याय के प्रकाण्ड पण्डित बदरीनाथ शुक्ल जी ने अपनी शतश्लोकी में इसका प्रतिपादन किया है। इस तरफ निर्देश करना भी आवश्यक था।

यद्यपि क्रियायोग भी पतञ्जलि को स्वीकृत है, पर उसके बिना क्लेश-निवृत्ति को वे असम्भव नहीं मानते वरन अष्टांग योग ही योगसूत्रों में प्राधान्येन वर्णित है। योग से ईश्वर की प्रसन्नता भी योगसूत्रों में वर्णित नहीं है। योग से समाधि सिद्ध होती है। यही योगसूत्र की मान्यता है। योगदर्शन में प्रतिपादित क्रियाओं को पूर्वमीमांसा व उत्तरमीमांसा तो स्वीकारता नहीं व न्यायसूत्र भी नहीं स्वीकारते। अतः सभी दर्शन इसे

स्वीकार करते हैं, यह कहना तो अर्थवादमात्र ही मानना पड़ेगा। वर्तमानकाल के कुछ विचारकों का निष्काम कर्म व योग का सभी साधना-प्रक्रिया में प्रवेश कराने का यत्न तो असाम्प्रदायिक ही मानना होगा। इसी प्रकार मीमांसा आत्मा में कर्तृत्वाभाव कहीं भी प्रतिपादित नहीं करता। उत्तरमीमांसोक्त जैमिनि मत का संग्रह यदि इष्ट हो तो निर्देश आवश्यक था। मीमांसा के प्रसंग में खण्डदेव प्रतिपादित ईश्वर आदि का आत्मविषयक विचार भी इस प्रकार के संग्रह में अपेक्षित था ही। भास्करादिमतविचारों में उनके भाष्य उद्धृत करना आवश्यक था। दार्शनिक विचारप्रवाह में पृ० १२३ में भाष्यकारों का रागद्वेष प्रतिपादन अनिष्ट ही है। सत्यासत्यनिर्णय में ही प्रवृत्ति रुचिकर रहती है। स्वमत वर्णन व उपसंहार प्रकरण बड़े सुन्दर है।

इस ग्रन्थ के सम्यक् परिशीलन से लोगों को न केवल आत्मविषयक वरन वैष्णव तथा शैव आचार्यों के मतों का भी संक्षिप्त पर समग्र परिचय प्राप्त हो जायेगा। साधना, मोक्षस्वरूप आदि का वर्णन विद्वान् लेखक ने सुन्दर तथा सुरुचि से पूर्ण किया है। अद्वैतवेदान्त का तो बड़ा ही सुन्दर व हृदयग्राही विवेचन है। अतः आत्मजिज्ञासु को इसे अवश्य पढ़ना चाहिए।

हम लेखक से आशा करते हैं कि वे इसी प्रकार से और ग्रन्थरत्नों का भी निर्माण करेंगे। दशाधिक वर्षों से लेखक से व्यक्तिगत परिचय के नाते हम यह कह सकते हैं कि वे निरभिमानी एवं शास्त्र में प्रविष्टधी हैं। इस प्रकार के महापुरुषों की देश में बड़ी आवश्यकता है। साधना से अनुभूत तत्त्व का प्रतिपादन ही ग्रन्थ में वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करता है। अन्यथा रटी हुई बातों की पुनरावृत्ति को शोधप्रबन्ध के नाम से आजकल प्रचारित किया जाता है। लेखक में प्रतिभा है एवं साधना भी। अतः उनकी लेखनी सशक्त है। भगवान् उमारमण से प्रार्थना है कि वे उन्हें स्वस्थ व दीर्घजीवन प्रदान कर भारत का लाभ करें।

श्रीसंन्यासाश्रम, देहली
मार्गशीर्ष सुदि ५,
२०४६ वि०

भगवत्पादीयो
महेशानन्द गिरि

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणामात्मविद्यानिष्ठानां विरक्तशिरोमणीनां "योगवेदान्त" प्रचारकार्येऽनवरततत्पराणां लोकहितैषिणां यति-पुङ्गवानां परमोदाराणां श्रीशिवानन्दाश्रमाध्यक्षाणां मम दीक्षागुरूणामनन्तश्रीविभूषितानां "स्वामि चिदानन्दसरस्वती" पादानां

शुभाशीर्वादाः

FOREWORD

Om Shri Satguruparamatmane Namah !

Worshipful Adorations to Bhagawan Shri Vishwanatha, the Lord of Varanasi City !

May the divine grace of the Almighty Lord and the choicest blessings of most worshipful Gurudev Shri Swami Sivanandaji Maharaj be upon the holy Author of this original research work—Vaidika Darshaneshu Atma-swarupa Vimarsha – wherein he has made a scholarly attempt to study and bring out the various implications with which the term ATMAN has been used in the different schools of Indian philosophy. God, Man and the Universe form the essential theme of all philosophical studies. Brahman, jiva and jagat are the subject of investigation. The Immortal SELF as the inner Reality of man, the forgetting of this essential nature (due to Avidya) being the cause of "bondage" of the Jiva and the necessity of removing this veil of Avidya through suitable Sadhana for realizing REALTY, form the central core of Indian Philosophy as also its basic thesis. Thus, all systems of our philosophy demand a very clear grasp and understanding of the triple principles of the Supreme

Reality (Brahman), the individual being (jiva) and the phenomenon of this Universe (Jagat). Therefore, the present research work carried out by Shri Swami Gurupadananda Saraswatiji and the resultant thesis on the Self (Atmatattva) would be found of great interest to scholars and of valuable help to fellow researchers in the field of Indian Philosophy.

The Author has requested for a brief Foreword as a token of blessings even though I am by no means a Sanskrit scholar nor have I any background of systematic traditional "adhyayana" of the Shad Darshanas. This is purely due to his Guru-bhakti and "shishya bhavana" on his part in keeping with orthodox tradition. I am very glad to note here that the thesis is the outcome of a good deal of careful, critical study and a fairly wide ranging exploration into varied sources of philosophical literature as is evidenced by the substantial Bibliography listed by the studious Author at the end of this thesis. It is quite noteworthy that Shri Swami Gurupadanandaji has not confined his investigations and research to the traditional SHAD-DARSHANAS only but pursued his investigative studies into the field of other non-theistic schools as well. His study therefore includes the Jaina Darshana, the Baudha Darshana in its fourfold branches of Madhyamika, Yogachara, Sautrantika and Vaibhashika and not excluding the third epicurian school of the Charvaka darshana. Except this last mentioned school, all the other schools accept the

fact of Re-birth (punar-janma) of the jivatma. In addition to the above, mention also has been made of the views on Atma Swarupa of the different Acharyas including Vallabhacarya and Nimbarka-charya. The beliefs held in the different Sampradayas like the Shaiva and Vaishnava have also been stated. Within the 5 chapters of the work these numerous views have been stated with supporting quotations appropriate to the point of view being brought out. The concluding fifth chapter sums up the Author's own view after a consideration of the various declarations studied from the different scriptural sources.

I invoke the Gurukripa of worshipful Gurudev Swami Sivanandaji Maharaj upon this Thesis and wish the Author a progressive future as a scholar and a Vedanti Sadhaka and Tapasvi Yati. May the Lord bestow upon him all the four Purusharthas in this very life. I appreciate the help and encouragement he has received from his research director as well as other elders of holy Varanasi.

Swami Chidananda

विविधविद्याविशारदानां मम वेदान्तविद्यागुरूणां पण्डितराजानां श्रीमताम् एस्. सुब्रह्मण्यशास्त्रिमहोदयानां

शुभकामना

श्रीगुरुपादानन्दस्वामिभिः 'डॉक्टर' पदवीस्वीकरणाय काशीहिन्दूविश्वविद्यालयद्वारा समर्पितं दर्शनविवेचनात्मकं ग्रन्थमद्राक्षम्। महता क्लेशेन द्वैताद्वैतविशिष्टाद्वैतशुद्धाद्वैतदर्शनानां विस्तरेण स्वरूपं तत्तद्दर्शनेषु मोक्षसाधनानि तत्तद्दर्शनानुयायिभिः कर्तव्यानि श्रवणमनननिदिध्यासनानि च सपरिकरमत्र विवेचितानि सन्ति। अद्वैतदर्शनस्य च सर्वोत्कर्षः प्रतिपादितो वर्तते।

मन्ये दर्शनविविदिषूणां समेषां लौकिकानां वैदिकानाञ्च ग्रन्थोऽयं सहायको भविष्यतीति। पूर्वकाले माधवाचार्याः सर्वदर्शनसंग्रहाख्यं ग्रन्थं रचयित्वा तत्तत्द्दर्शनानि तत्तद्ग्रन्थरीत्योपपाद्य अन्ते श्रीशाङ्करदर्शनस्य प्रभावं, तस्यैव साक्षान्मोक्षसाधनत्वं च विविच्य प्रादर्शयन्। इमे तु गुरुपादानन्दस्वामिनः आधुनिकदर्शनेषु कृतपरिश्रमाः, माधवाचार्यैरनुपपादितान्यपि दर्शनानि तत्तद्ग्रन्थानुसारेण प्रतिपादितवन्त इति विशेषः। मोक्षसाधनं तु तत्तद्दर्शनानुसारेणैव तत्तद्दर्शनानुयायिभिरनुष्ठेयं भवतीति।

ग्रन्थोऽयं आधुनिकलौकिकानां विषयजिज्ञासूनाञ्च महते उपकाराय भविष्यतीति मम महान् प्रमोदः।

पण्डितराजः

एस्० सुब्रह्मण्य शास्त्री

३०. १२. १९८९

श्रीगणेशाय नमः

प्रस्तावना

अस्मिन् प्रपञ्चे चतुर्विधः पुरुषार्थो मानवजीवनस्य प्रधानं लक्ष्यमिति लोकान् शास्त्राणि उपदिशन्ति। ते च पुरुषार्था धर्मार्थकाममोक्षाख्याः सन्ति। तेषु मध्ये मोक्ष एव परमपुरुषार्थ इति वर्णितम्। स च मोक्षः श्रुतिस्मृतिषु आत्मज्ञानादेव भवतीति प्रतिपादितम्। तथा च श्रुतयः "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वाऽरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्। (बृ. आ. २.४.५)" "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ई. उ. ७) "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" (ई. उ. ११) "आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्" (के. उ. २-४) "आत्मानं चेद्विजानीयात् अयमस्मीति पूरुषः किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत्" (बृ. आ. ४.४.१२) "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय (श्वे. ३. ८) ज्ञात्वादेवं सर्वपाशापहानिः" (श्वे. १. ११) "तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति [श्वे. ६. २०] "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्", "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः", "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः" (बृ. आ. ४. ४. २१) "तदात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः" (श्वे. ३.२.१४) इति।

स्मृतयश्च यथा—"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥" (भ. गी. ४. ३८) सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि' (भ. गी. ४. ३६) ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा (भ. गी. ४. ३७) तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः। गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ (भ. गी. ५-१७) अत्र सर्वत्राऽऽत्मज्ञानमेवाधिकृत्योक्तं श्रुतिस्मृतिषु।

किञ्च, "ज्ञानं संन्यासलक्षणम्" (महा. अश्व. ४३-२५)

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वञ्च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥ इति पञ्चदश्याम्।

अतस्तज्ज्ञानमेव दृढीकर्तव्यमिति ममहितैषिणामुपदेशानुसारेण शोध-प्रबन्धकार्ये प्रवृत्तोऽहम्। तत्र केन रूपेण ? कियन्ति दर्शनानि ? वैदिकानि वा अवैदिकानि वा ? इत्याद्या जिज्ञासा स्वाभाविकी। अतस्तन्निर्णयाय तदानीन्तनकाशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य प्राच्यविद्याधर्मविज्ञानसङ्काये दर्शनविभागाध्यक्षाणामाचार्यश्रीकेदारनाथत्रिपाठिमहोदयानां निर्देशेन भारतीय-प्रसिद्धदर्शनेषु प्रतिपादितात्मतत्त्वमेव विवेचनीयम्, येन मनननिदिध्यासनं लेखनकाले तस्यैव भूयोभूयश्चिन्तनं च भवति। उपनिषद्वाक्यानुसारेणोत्तमं तत्त्वचिन्तनं मध्यमं शास्त्रचिन्तनमित्यनुसारेण शास्त्रोक्तानुसारमेव कर्तव्यमिति। तत्र पूर्वपक्षरूपेणावैदिकदर्शनानाम् उत्तरपक्षरूपेण च वैदिकदर्शनानां, तत्रापि वेदान्तदर्शनस्य विभिन्नमतानां तत्तद्दर्शनानुसारमात्मतत्त्वं प्रतिपादनीयम्। यतोहि तेषामनुयायिनोऽपि लाभान्विता भवेयुरिति। प्रतिपादनसमये तेषां मतेषु प्रतिपादितमात्मतत्त्वं (ब्रह्म) जीवजगत्तत्त्वं च "ससाधनं मोक्षश्च प्रतिपादनीयाः। अन्ते तर्क-द्वैतप्रतिपादकदर्शनानि अद्वैतमते एव पर्यवसायितव्यानि। उक्तञ्च—नैषा तर्केण मतिरापनेया" (क. उ. १. २. ९) 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् (ऐ. १.१) आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः इत्यारभ्य कस्मान्नु बिभेमीति तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्धयभेष्यद् द्वितीयाद्वै भयं भवतीति" (ब्र.आ. १.४.२, २) सर्वत्र द्वैतदर्शनेषु भयमेवेति श्रुतिवाक्यम्। एवमद्वैतप्रतिपादकवाक्यानि एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग् भूत्वा अनेकशः" "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी" सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति (बृ.आ. ४. ३. ३२) माण्डूक्ये च "प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः" शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद (मा. उ. ७.१२) "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति" (तैत्ति. उ. ब्र. व. ९) अतो विवेचनसमये तत्र-तत्र पूर्वाचार्याणामपि आक्षेपसमाधानानि मनसिकृत्वा सम्पादयेदिति निर्देशकमहोदयानां पथप्रदर्शनानुरूपं लिखितोऽयं ग्रन्थ आत्मज्ञानसाधनार्थञ्चेति। तदुक्तम् "आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया" इति। तत्र केषुचित् स्थलेषु विषयस्पष्टतायै मूलग्रन्थातिरिक्ताः हिन्दीभाषीयग्रन्था अपि अवलोकिताः। यथा—विभिन्न लेखकानां भारतीय दर्शनानि" बौद्ध दर्शन मीमांसा" इत्यादयः।

तत्र प्रथमाध्याये "दर्शनानां सामान्यपरिचयः" इति शीर्षकं व्युत्पत्तिप्रदर्शनपूर्वकं दर्शनपदार्थं निरूप्य प्राच्यपाश्चात्यदर्शनयोः किञ्चित्तुलना

च कृता, यथा तेषामुत्पत्तिकारणयोः। दर्शनस्य लक्ष्यञ्च प्रदर्शितम्। तत्र भारतीयदर्शनानां प्रतिगामिविधया-अनुगामिविधया वा वेद एव मूलमिति। तत आत्मविमर्शशब्दयोरर्थविमर्शश्च कृतः। पुरुषार्थचतुष्टय-मध्ये मोक्ष एव परमपुरुषार्थ इति सर्वेषां दार्शनिकानां मतम्। किन्तु स्वरूपे भेदस्तु अस्त्येव। मोक्षस्तु आत्मज्ञानेन भवतीति बौद्धान् चार्वाकांश्च विहाय सर्वैरङ्गीकृतम्। एवं वैदिकदर्शनानां सामान्य-सिद्धान्तो अवैदिकदर्शनानां सामान्यसिद्धान्तश्च लघुकायेन (सारांशेण) लिखितः। येन भारतीयदर्शनानां पदपदार्थान् ज्ञातुं सौकर्यं भवेदिति।

द्वितीयाध्याये—"आस्तिकदर्शनानां वैदिकत्वविमर्शः इत्यत्र तत्त-दर्शनानां सूत्रभाष्येषु प्रतिपादितान् वैदिकदृष्टान्तान् सङ्कलय्य तानि सर्वाणि एकदेशीयानि वा समग्राणि वेति विचारितम्। एवमवैदिक-दर्शनेष्वात्मस्वरूपविचार इत्यत्र पूर्वपक्षरूपेणावैदिकदर्शनानां चार्वाक-शून्यवाद-विज्ञानवाद-वैभाषिक-सौत्रान्तिकानामवान्तरभेदपूर्वकं जैनानामपि आत्मस्वरूपं प्रादर्शयम्।

तृतीयाध्याये—षड्वैदिकदर्शनेषु मध्ये "न्याये-वैशेषिके साङ्ख्ये-योगे-पूर्वमीमांसादर्शने प्रतिपादितमात्मस्वरूपं यथामति विवेचितम्।

चतुर्थाध्याये—प्रायशः समस्तवेदान्तप्रस्थानानां प्रसङ्गे ब्रह्मसूत्राण्या-श्रित्य विभिन्नाचार्यैः प्रतिपादितं तत्तन्मतानुसारमात्मस्वरूपमुपस्थापयन् ब्रह्म-जगज्जीव-साधन-मोक्षस्वरूपाणि च तत्तद्दर्शनानुसारं वर्णयितुमयतम्। अस्य निबन्धस्य बृहत्कायत्वभयात् भाष्यकृदाचार्याणामेव मूलभाष्या-नुसारमेव सम्पादितम्। किन्तु निम्बार्काचार्याणां भाष्यस्यात्यल्पत्वात् तस्य प्रसिद्धव्याख्यानमेकं वेदान्तपारिजातनामकमपि परिशीलितं मया विषय-स्फुटीकरणाय। एवं श्रीशङ्करभगवत्पादादारभ्य श्रीबलदेवविद्याभूषणपर्यन्ता-नामेव दर्शनानि गृहीतानि। यथा—अद्वैत-औपाधिकभेदाभेद विशिष्टा-द्वैत - द्वैत - शुद्धाद्वैत—स्वाभाविकभेदाभेद- शैवविशिष्टाद्वैत-शक्तिविशिष्टाद्वैत-अविभागाद्वैत-अचिन्त्यभेदाभेददर्शनानामेवाऽऽत्मतत्त्वं प्रादर्शि। तत्र शक्ति-भाष्यमानन्दभाष्यञ्च त्यक्तम्। तत्र शक्तिभाष्यस्य तन्त्रसम्बद्धत्वात्, आनन्दभाष्यं तु श्रीभाष्यरूपमेव वर्णितमिति हेतोः।

पञ्चमाध्याये — समग्रदर्शनानां यथाक्रम-प्रतिपादितमात्मस्वरूपं शब्दाद्वैतञ्च यथामति विमृश्यान्ते सिद्धान्तरूपेणाद्वैतवेदान्तदर्शनमेव सर्व-

दर्शनानां मुकुटमणिरिवेति स्वाभिप्रायः प्रकाशितः। यतस्तत्रैव वेद-वेदान्तेषूक्तसगुणनिर्गुणयोर्व्यवस्था वेदप्रदिपादितानां समेषां देवानामुपासनायां तुल्यफलञ्च लब्धुं शक्यते। अन्यदर्शनेषु एतादृशव्यवस्था कुत्रापि न दृश्यते। एवमत्र जीवन्मुक्तिव्यवस्थापि अपरोक्षज्ञानात्मिका, अन्यत्र सद्योमुक्ति-विदेह-क्रम मुक्तिश्च परोक्षात्मिका भवति।

व्यवहारेऽपि दृश्यते यदद्वैतभावनया समाजोऽपि सुखं शान्तिञ्च प्राप्तुं शक्नुयादिति। एवं न द्वैतभावनया जीवब्रह्मैक्यरूपो मोक्षः सिध्येत्।

प्रत्यक्षेणापि दृष्टं यदचिरप्रवृत्त एकात्मतायज्ञे सर्वे विभिन्नवादिनः, केषुचित् स्थलेषु अन्यधर्मावलम्बिनोऽपि महता हर्षेण—एकत्रीभूय एकात्मताभावनां प्रकटितवन्तः। अतोऽन्ते श्रीभगत्पादशङ्कराचार्यान् स्तुवन्निमं शोधग्रन्थं पूरितवानहम्।

अनेन कार्येण भगवान् श्रीविश्वेशोऽम्बाऽन्नपूर्णा च प्रसीदताम्।

एवमेतेन विदुषां परितोषश्छात्राणाञ्च लाभो भवेच्चेत् नूनमहं कृतार्थो भवेयमिति।

ॐतत्सत्

भगवत्पादीयः

स्वामी गुरुपादानन्द सरस्वती

कृतज्ञतानिवेदनम्

स्वीकृतशोधप्रबन्धस्यारम्भसमयादिदानीं यावत् परमपूजनीयानां निरञ्जनपीठाधीश्वराणामाचार्य-महामण्डलेश्वराणामनन्तश्रीविभूषितानां श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठानां "स्वामि महेशानन्दगिरि" पादानां पथप्रदर्शनेन आशीर्वादेन च पूर्णतां गतं शोधकार्यमिदमिति परं हर्षमनुभवामि । अनुसन्धानकाले वेदान्तविषये तत्तदाचार्याणामेव भाष्यमवलम्ब्य तावदेव कार्यं कुरु, नो चेत्, विषयबाहुल्यात् पूरयितुं न शक्नोषीति तेषामाज्ञामवधार्याऽऽश्रित्यैव च कार्यमिदं पूरितवानहम् । ग्रन्थप्रकाशनसमयेऽपि तैः सस्नेहं मम काश्चन त्रुटयः संकेतिताः । एवमग्रे सावधानतया एतादृशकार्यं कर्तुं सस्नेहमादिष्टोऽहम् । एवं तेषां कृपा सदा मयि भूयादिति भूयोभूयः प्रार्थये ।

एवं मम दीक्षागुरुचरणानां श्रीशिवानन्दाश्रमाध्यक्षाणां स्वामिचिदानन्दसरस्वतीपादानां महदनुकम्पयैव ममाध्ययनं शोधकार्यम् एतत्प्रकाशनञ्च पूर्णतां गतमिति मन्ये । तेषामनुग्रहो मयि सदा भवत्विति मम हार्दी कामना ।

अस्मिन् शोधकार्ये सौविध्यसाधनाय अग्रे प्रचारकार्याय स्वकीयकेदारघट्टस्थितश्रीकुमारस्वामिमठे स्थानप्रदातॄणां महन्तमहोदयानां कैलासमुनीनां श्री-ल-श्रीकाशीवासिमुत्तुकुमारतम्बिरान्स्वामिपादानामौदार्यं नूनं प्रशंसनीयम् । मन्येऽग्रेऽपि ते एतादृशे धर्मकार्येऽग्रण्यः स्युरिति केदारेश्वरं प्रार्थये ।

मम वेदान्तशास्त्राध्यापकानां मध्ये गुरुवर्याः पण्डितराजाः श्रीमन्तः एस. सुब्रह्मण्यशास्त्रिण आचार्य पण्डितश्रीकेदारनाथत्रिपाठिनः सन्ति । तेषां यथार्थपथप्रदर्शनेन शोधकार्यं पुस्तकप्रकाशनञ्च सुकरं जातम् । अतोऽग्रेऽपि उभयोर्गुरुवर्ययोः शुभकामनापूर्वकमित्थमेव मार्गदर्शनं लभेयेत्याशासे । अस्य ग्रन्थस्य मुद्रणकालेऽनेकान् विघ्नान् विनिवर्त्य महता परिश्रमेण साहाय्यं कृत्वा कार्यमिदं पूर्णं कुर्वाणौ श्रीनीलकण्ठशर्म-हीरेमठ-महेश्वरदेवावपि ममात्यन्तं धन्यवादार्हौ स्तः । तयोः साहाय्यं भविष्यत्कालेऽपि सम्प्राप्येतेति वाञ्छामि ।

अस्य ग्रन्थस्य मुद्रणकर्तारः "रत्ना प्रिन्टिंग" मुद्रणालयाधिकारिणः प्रशंसार्हाः, यैः सुन्दरं मुद्रणं सम्पाद्य ग्रन्थोऽयं समये प्रस्तुतः ।

अन्येऽपि ये प्रत्यक्षतः परोक्षतश्चापि साहाय्यं कृत्वा कार्यपूर्तिकर्तारस्तेभ्योऽपि कृतज्ञतां निवेदयामीति शम् ।

ॐतत्सत्
भगवत्पादीयः
स्वामी गुरुपादानन्द सरस्वती
(प्रणेता प्रकाशकश्च)
वसन्त पञ्चमी, २०४६ वि० सं०

विषयानुक्रमणिका

ग्रन्थानां सङ्केतार्थाश्च

छां. उप.	छान्दोग्योपनिषद्
तैत्ति. उप.	तैत्तिरीयोपनिषद्
महा. वा.	महावाक्योपनिषद्
ऐत. उप.	ऐतरेयोपनिषद्
बृह. आर. उप (बृ. उ.)	बृहदारण्यकोपनिषद्
मां. उप.	माण्डूक्योपनिषद्
भ. गी.	भगवद्गीता
ब्र. सू.	ब्रह्मसूत्रम्

ब्र. सू. शां. भा.	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्
भा. दर्श. बल.	भारतीयदर्शनबलदेवउपाध्याय
भा. द.	भारतीयदर्शन
ई. उप.	ईशावास्योपनिषद्
कौलोप.	कौलोपनिषद्
श्वेता.	श्वेताश्वतरोपनिषद्
महा. नारा.	महानारायणोपनिषद्
कठ. उप.	कठोपनिषद्
ऋ. वे.	ऋग्वेदः
स. द. सं.	सर्वदर्शनसंग्रहः
मां. का.	माण्डूक्यकारिका
न्या. सू.	न्यायसूत्रम्
वै. सू. उ. वृ.	वैशेषिकसूत्र उपस्कारवृत्तिः
वै. सू.	वैशेषिकसूत्रम्
सां. प्र. भा.	साङ्ख्यप्रवचनभाष्यम् ।
ब्र. बि.	ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
मी. द.	मीमांसादर्शनम्
शां. भा.	शाङ्करभाष्यम्
बौ. द. मी.	बौद्धदर्शनमीमांसा
मा. शा. का.	माध्यमकशास्त्रम् (कारिका)
त्रि. वि. मा. सि.	त्रिशतिकाविज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः
स. सि. सं.	सर्वसिद्धान्तसंग्रहः
तत्त्वा. सू.	तत्त्वाधिगमसूत्रम्
न्या. सू. भा.	न्यायसूत्रभाष्यम्
वै. सू.	वैशेषिकसूत्रम्
सा. तत्त्व. कौ.	साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी
सां. का.	साङ्ख्यकारिका
यो. सू.	योगसूत्रम्
यो. सू. भा.	योगसूत्रभाष्यम्
श्लो. वा.	श्लोकवार्तिकम्
नारा. उ.	नारायणोपनिषत्

वे. कौ.	वेदान्तकौमुदी
भा. टी.	भाष्यटीका
पा. यो. सू. भो.	पातञ्जलयोगसूत्रभोजवृत्तिः

——

अशुद्धिसंशोधनम्

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पङ्क्ति
द्विविध	द्विविधम्	२	२१
सर्वविदित	सर्वं विदितम्	४	३
जैनमत्प्रादुभावात्	जैनमतप्रादुर्भावात्	७	२५
आत्मनात्मना	आत्मानात्मना	८	७
सांसार	संसार	,,	२२
आत्मचिन्तने	आत्मचिन्तनेन	९	१२
एव ते	एवं ते	११	२
सर्वव्यापि	सर्वव्यापी	१२	१८
स	सः	,,	१९
चेतना	चेतनाः	२६	२०
अभिप्रेति	अभिप्रैति	३०	२४
कार्यंकरण सङ्घतो	कार्यकरणसङ्घातो	३८	१३
स्वभागान्	स्वभोगान्	,,	२६
पूगपूर्णानां	पूगचूर्णानां	३८	१८
पुरुषार्थो	पुरुषार्थौ	३९	१३
संस्कृतमस्थायी	संस्कृतमस्थायि	,,	२८
चैत्रात्मना	चैत्रात्मनो	५२	१९
ज्ञानपयोगो	ज्ञानोपयोगो	५३	१४
श्रुतज्ञानोपयोगः	श्रुताज्ञानोपयोगः	,,	१६
परिमाणधिकरण	परिमाणाधिकरण	५५	९
क्रिमिशरीरस्थो	कृमिशरीरस्थो	५५	१४
मिथ्यादर्शन	मिथ्यादर्शनं	५६	४
सूक्ष्मेकक्षेत्रवेवादः	सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढः	,,	२७
ज्ञानाहाः	ज्ञानोहाः	५८	१४
बुद्धिरूपोलब्धि	बुद्धिरुपलब्धि	५८	२६
जीवात्माने	जीवात्मने	५९	८

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्टम्	पङ्क्ति
नित्यात्म	नित्यात्मा	६१	१२
विकारः	विकाराः	,,	२७
कृतोऽनीति	कृतोऽस्तीति	६२	४
वीतरागजन्यादर्शनात्	वीतरागजन्मादर्शनात्	११	,,
त्रिभिऋृणैऋृणवान्	त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान्	६२	२२
क्लेशानुबद्धायं	क्लेशानुबद्धोऽयं	,,	२५
तदनन्तरपायाद	तदनन्तरापायाद	,,	२७
अग्नेर्माणवकः	अग्निर्माणवकः	६३	३
सम्पद्यमान	सम्पद्यमानः	११	५
प्रशंस्यते	प्रशस्येत	११	७
क्लेशानुधायाविच्छेदा	क्लेशानुबन्धाविच्छेदा	११	९
बाधः	बाधा	११	१४
विद्ध सर्वं	विद्धं सर्वं	११	१६
अप्राप्तश्च	अप्राप्ताञ्च	,,	२२
केषाञ्चियामते	केषाञ्चिन्मते	,,	२३
प्रत्यक्ष	प्रत्यक्षं	,,	२५
इन्द्रियव्यापारे	इन्द्रियव्यापारैः	६४	६
शरीरः	शरीर	,,	११
स्वशरीरन्तस्यात्मना	स्वशरीरान्तर्गतस्यात्मनः	,,	८
शरीरातिक्तं	शरीरातिरिक्तं	११	२०
दारुयन्त्रस्यैव	दारुयन्त्रस्येव	११	२१
तस्यात्मननः	तस्यात्मनः	,,	२२
सापहासमुक्तम्	सोपहासमुक्तम्	६६	१३
शास्त्रभूचे	शास्त्रमूचे	६६	१५
मुच्यन्त	मुच्यते	,,	२४
भेदोः	भेदो	,,	२७
च्छव्याद	च्छब्दाद	६७	२१
जुषमाणमजोऽन्यः	जुषमाणामजोऽन्यः	६८	२९
विवेकमन्तं	विवेकवन्तं	७१	१७
पङ्ग	पङ्गु	७१	११

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पङ्क्ति
सात्विक	सात्त्विक	,,	२१
तत्वज्ञो	तत्त्वज्ञो	७४	१२
त्रिगुणत्मकाभ्यां	त्रिगुणात्मकाभ्यां	७५	२६
द्रष्टुत्वादिकञ्च	द्रष्टृत्वादिकञ्च	७५	२
दृश्यस्योयोगोबन्धः	दृश्यस्योपयोगो	७८	२६
सुखात्मकख्याति	सुखात्मख्याति	११	२९
त्तमनङ्गगुलि	त्तमनङ्गुलि	८०	४
जिहवो	जिह्वो	११	५
परिहायाय	परिहाराय	८४	८
अघोगतर्तिति	अधोगतिं	९३	२२
ज्ञानान्मिक्ति	ज्ञानान्मुक्ति	८५	७
येषामाविद्यादिकं	येषामविद्यादिकं	११	१४
स्वरूपश्चेतनः	स्वरूपतश्चेतनः	९९	१५
शङ्करदर्शने	शाङ्करदर्शने	१००	११
ब्रह्मतत्वमिति	ब्रह्मतत्त्वमिति	१०४	८
पतिर्गणेश	पतिर्गुणेशः	४	२२
अचिदंशस्तु	अचिदंशास्तु	१०८	११
बौद्धा	बोद्धा	१०९	१८
एवं	एवम्	११०	१०
व्यवतिहार	व्यतिहार	११२	११
विद्युत् प्रात्त	विद्युतं प्राप्य	११३	११
अथह्योऽनीदृशः	अथ ह्योऽनीदृशः	११४	२०
परज्योतिः	परञ्ज्योतिः	११८	२
अवष्णवानां	अवैष्णवानां	१२२	२५
कांचन	कांश्चन	१२६	२६
जोवो	जीवो	१२४	८
बिस्फुल्लिङ्गा	विस्फुलिङ्ग	१२७	१०
गुरुपसूत्रि	गुरूपसत्ति	१२७	२४
ज्ञानतिरौभावाद्	ज्ञानतिरोभावात्	१२८	१५
मुक्ति मर्यादा	मुक्ति र्मर्यादा	१२८	२०

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पङ्क्ति
यावद्दृष्टव्यय	यावद् द्रष्टव्यम्	,,	२७
विशिषंन्ति	विशिषन्ति	१३०	२३
मुक्तं	मुक्त	१३२	२३
परमात्मनो प्राकृत	परमात्मनोऽप्राकृत	१३४	५
अहमर्थ स्वरूपतो	अहमर्थः स्वरूपतो	१३६	११
सर्ववेधः	सर्वविद्य	१३८	७
र्गणेशः	र्गुणेशः	१४२	३
शिक्तत्वं	शिवतत्त्वं	,,	९
उपादानज्ञान	उपादानज्ञानं	१४४	२१
यर्दजितं	यदार्जितं	१४५	१९
श्रुति	श्रुतिः	१४६	२
अष्टमो	अष्टमी	१४७	३
सकलकास्तेन	सकलकामास्तेन	१५०	१२
भोज्यं	भोग्यं	१५३	७
मुपनङ्क्रति	मुपसङ्क्रामति	१५४	१०
परमेश्वरत्येवेति	परमेश्वरस्येवेति	१५५	३
भेदमिति	भेद इति	१५६	९
जन्यत्यं	जन्यत्वं	,,	१३
बुद्धिवृत्त	वुद्धिवृत्ति	१५९	४
षष्ठीत्यैक्य	षष्ठीत्यैक्य	,,	२०
ज्ञानकर्मसमुच्चयमनुष्ठेयम्	ज्ञानकर्मसमुच्चयोऽनुष्ठेयः	१६१	१३
श्रुनिस्मृतिश्च	श्रुतिः स्मृतिश्च	१६६	११
आत्मानविभुः	आत्मा न विभुः	,,	१४
व्याप्नुयातदिति	व्याप्नुयादिति	१६७	१८
सर्वे प्राप्नुवन्ति	सर्वं प्राप्नुवन्ति	१७१	२४
तत्रायं	तत्राद्यं	१७२	११
स्वगुणे	स्वगुणैः	१७३	६
ब्रह्ममेत्यद्वैन	ब्रह्मेत्यद्वैत	,,	१२
कालकारो	कालकालो	१७४	५
जगदधेतुरुपांसितः	जगद्धेतुरुपासितः	१७५	२१

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पङ्क्ति
नारायणो	नारायणः	१७६	१७
सन्	सत्	,,	२१
जीवात्मो	जीवात्मा	१७८	४
वितृष्ण पूर्विका	वितृष्णापूर्विका	१८१	१८
अधर्माश्चेति	अधमाश्चेति	१८२	८
शक्तिमानश्चेति	शक्तिमांश्चेति	१९०	२२
जीवात्मपरात्मनौ	जीवात्मपरमात्मानौ	१९३	१४
व्याकरणाणीति	व्याकरवाणीति	१९५	११
अव्यक्तशब्स्य	अव्यक्तशब्दस्य	१९६	४
सूल्म	सूक्ष्म	,,	६
परमव्यक्रमिति	परमव्यक्तमिति	,,	१२
जीव अमात्मानमेव	जीवात्मनामेव	,,	११
अत्रेदमाकृतम्	अत्रेदमाकूतम्	२०२	११
शब्दस्त्व	शब्दतस्त्व	,,	२१
मम्मत	सम्मत	,,	२४
अन्त्यवर्णोः	अन्त्यवर्णो	२०३	५
जीब्रह्मणो	जीवब्रह्मणो	२०३	२०
व्यवहारादर्शानात्	व्यवहारादर्शनात्	२०६	६
श्रुतिषूपवेश	श्रुतिषु प्रवे	२०७	११
सप्तेषु	सुप्तेषु	२०८	१५
तथार्षीणां	तथर्षीणां	२०९	२६
ब्रह्मेवा	ब्रह्मैवा	२१४	९
श्रुत्युक्तद्वैत	श्रुत्युक्ताद्वैत	२१५	४
मचक्षुः श्रोत्रं	मचक्षुरश्रोत्रं	२१८	९
ग्राह्यमिति	ग्राह्य इति	२२०	५
किञ्चिज्ञो	किञ्चिज्ज्ञो	,,	१८
गोउपादाचार्यो	गौडपादाचार्यो	२२१	७
एबम्	एवम्	२२२	११
ज्ञानमन्तं	ज्ञानमनन्तं	,,	२०
मीमांसकाश्चा	मीमांसकाश्च	२२४	१३

——

॥ ॐ ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

वैदिकदर्शनेष्वात्मस्वरूपविमर्शः

यस्य स्मरणमात्रेण जीवो भवति पावनः ।
शङ्करं तमहं वन्दे लोकानुग्रहविग्रहम् ॥ १ ॥
प्राणिनां दुःखहर्तारौ ज्ञानदौ भवमुक्तये ।
शिवानन्दचिदानन्दावाऽऽश्रये गुरुसत्तमौ ॥ २ ॥

दर्शनानां सामान्यपरिचयः

दर्शनपदार्थः—

भारतीयसंस्कृतवाङ्मयेषु द्विविधं साहित्यं प्रसिद्धं विद्यते, तच्च वैदिक-लौकिकभेदेन ज्ञायते। तत्र वैदिकं ऋग्यजुःसामाथर्वाणो वेदाः, शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दो, ज्योतिषञ्चेति तदङ्गानि च सन्ति।[1] तदन्यत् सर्वमितिहासपुराणादिकं लौकिकमेवेति। लौकिकसाहित्येषु वेदानुगामि, वेदाननुगामीति द्विविधं वर्तते। परन्तु अस्मिन् देशे प्राचीन-समयात् वेदानुगामि साहित्यमेवाभ्यर्हितम्।

वेदानुगामिसाहित्येषु शाखोपशाखाभेदेनानेकानि शास्त्राणि प्रादुर्भूतानि। तेषु शास्त्रेषु दर्शनशास्त्राणि षट् प्राधान्यमर्हन्ति।

दर्शनशब्दस्तु 'दृशिर् प्रेक्षणे' इति धातोरनुबन्धलोपे 'ल्युट्च' 'करणा-धिकरणयोश्च'[2] इत्याभ्यां सूत्राभ्यां करणे भावे च ल्युटि 'युवोरनाकौ' इत्यनादेशे[3] 'कृत्तद्धितसमासाश्च'[4] इति प्रातिपदिकत्वात् सुप्रत्यये 'अतोऽम्'[5] इत्यनेन सोरमि 'दर्शनम्' इति पदं निष्पद्यते।

---

१. मु० उप० १।१।५।३।

२. अष्टा० सू० ३।३।११५-३।३।११७।

३. ,, ७।१।१।

४. ,, १।२।४६।

५. ,, ७।१।२४।

दर्शनशब्दस्य करणव्युत्पत्त्या केन ? कस्य ? कथम् ? दर्शनमिति जिज्ञासा जायते—केन करणेन किं वस्तु कथं दर्शनीयमिति हृदयम् ।

अत्र दर्शनीयं वस्तु दार्शनिकदृष्टया तावत् संसारः, आत्मतत्त्वञ्च । 'सृगतौ' इत्यनुशासनात् सरति गच्छतीति संसारः । तत्र तावत् किमस्य दृश्यमानस्य संसारस्य तात्त्विकस्वरूपमिति विचारणीयम् । अर्थात् अयं संसारः कुत आयातः ? कस्मिन् स्थितः ? अवसाने कुत्र गच्छतीति । एवमेव आत्मतत्त्वमधिकृत्य कोऽहम् ? किं मम स्वरूपम् ? किमस्य कर्तव्यमकर्तव्यम् कर्म ? जोवनस्य किं प्रयोजनमित्यादीनां सर्वेषां प्रश्नानामुत्तरं दर्शनप्रदर्शित-पद्धत्या निर्णेतव्यं भवति । भावव्युत्पत्त्या च दर्शनशब्दः साक्षात्कारार्थः । साक्षात्कारश्च मुख्यतयाऽऽत्मनोऽभिप्रेयते ।

तदेतदुक्तम्—बृहदारण्यकोपनिषदि मैत्रेयीब्राह्मणे[1] याज्ञवल्क्येन स्वप्रियां भार्यां प्रति यत् 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितं भवती'ति । अयमेव सारतम उपदेश इति मन्यते । किञ्च—'य आत्मा अपहतपाप्मासोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः'[2] 'आत्मेत्येवोपासीत'[3] 'आत्मानमेव लोकमुपासीत'[4] 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'[5] इत्यादि विधानेषु सत्सु 'कोऽसावात्मा किं तद्ब्रह्म, इत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपसमर्पणेन सर्वे वेदान्ता उपयुक्ताः—'नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्येवमादयः । तदुपासनया शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो मोक्षो भविष्यतीति[6] । तत्त्वं तावद् द्विविध क्षराक्षरनाम्ना प्रसिद्धम् । तत्र संसारस्तावत् क्षर इत्युच्यते । अक्षरं तु ब्रह्मैव भवति । तदुक्तं भगवद्गीतायाम्—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते[7] ॥

---

१. बृ० उ० २।४।५ ।

२. छा० उप० ८।७।१ ।

३. बृ० उ० १।४।७ ।

४. बृ० उप० १।४।१५ ।

५. मुण्ड० ३।२।९ ।

६. ब्र० सू० शा० भा० १।१।४।४ ।

७. भ० गी० १५।१६ ।

अक्षरस्तु पुरुषः, आत्मा, ब्रह्म, सत्यं, क्रतुः, प्राणः, ॐ तत् सदित्यादिभिरनेकैः शब्दैः व्यवह्रियते। अतस्तत्स्वरूपमेवास्मिन् निबन्धे विवेचयामः।

पाश्चात्यदृष्टौ दर्शनम्—

पाश्चात्यदेशे दर्शनस्य नाम 'फिलासफीति' शब्देन कथ्यते। अयं शब्दो द्वयोः शब्दयोर्मेलनेन ग्रीकदेशे समुत्पन्नः। तत्र फिलोसशब्दस्यार्थस्तु प्रेमानुरागो वेति। सोफियाशब्दार्थो विद्या इति। अतः 'फिलोसफी' शब्दार्थस्तु विद्यायामनुरागः प्रेम वेति निश्चीयते। तेऽपि विद्यां तु 'आत्मविद्या' इत्येव मन्यन्ते आत्मज्ञानानुरागं वक्तुं गौरवमनुभवन्ति।

तत्र प्राक्काले यो विद्वान् जीवजगदीश्वराणां तत्त्वं जिज्ञासुः, स 'फिलोसफर' इति शब्देन कथ्यते। तत्राधुना भौतिकरसायनज्योतिषादीनां यानि सामान्यज्ञानानि सन्ति, तज्ज्ञानवानपि 'फिलोसफर' इति पदेन व्यवह्रियते। अतो यस्य कस्यचित् विषयस्य सामान्यज्ञानवान् 'फिलोसफर' इति विशेषज्ञानवान् तु विज्ञानीति प्रयुज्यते। फिलोसफी तु जगतो वैचित्र्यं दृष्ट्वा तद्रहस्यविचारविषये आरब्धं शास्त्रमुच्यते। परन्तु अत्र भारते दर्शनं तावत् प्रमात्मकज्ञानं प्रति कारणमिति विशेषः। एवं तत्र जीवजगदीश्वराणां सामान्यज्ञानमेव फिलोसफीति संकुचितार्थः शब्दः। अत्र भारते दर्शनपदं तावत्—एकविज्ञानेन सर्वं विदितं भवतीति व्यापकार्थम्। 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति'[1] श्रुतिवाक्यम्। अयमेव प्राच्यपाश्चात्ययोः दर्शनपदार्थे विशेषः। भारतीयदर्शनानि तु आधिभौतिकाऽऽधिदैविकाऽऽध्यात्मिकक्लेशनिवारणाय प्रवृत्तानि। पाश्चात्ये तथाविधक्लेशनिवारणाय न प्रवृत्तं दर्शनम्, किन्तु जगद्विषयकस्वकुतूहलनिवारणायैव तत्प्रवृत्तिः। अतः पाश्चात्यानां भारतीयानाञ्च दर्शनशब्दार्थे महान् भेदः प्रयोजने भेदश्च विद्यते।

श्रुतौ तु दर्शनीयविषयस्तावत् आत्मैवेति असकृदुच्यते। तदुक्तम्—बृहदारण्यके—'स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यारभ्य 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती'ति[2]।

---

१. मुण्ड० १।१।३।

२. बृ० उ० ४।५।६।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वविदितम्' इति आत्मनो विज्ञानेन सर्वमिदं ज्ञातं भवतीति। यत् कल्पनारहितं तत् सत्, तस्य प्रमाज्ञानमेव दर्शनमिति समुदितार्थः। अस्मिन् पक्षे दृष्टिर्दर्शनमिति दर्शनशब्दस्य भावव्युत्पत्तिः। अतः पाश्चात्यदर्शनापेक्षया भारतीयदर्शनमुत्कृष्टतरमस्ति परमपुरुषार्थसाधनमपि चास्ति।

दर्शनशास्त्रस्य प्रयोजनम्—

उपनिषद्वाक्यानुसारेण तत्त्वसाक्षात्कार एव जीवनस्य लक्ष्यमित्युक्तम्। यथा—प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।[1] 'य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः'[2] इति। भगवद्गीतायामपि—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥[3]
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥[4]

इत्यादिषु श्रुतिस्मृतिषु आत्मसाक्षात्काररूपप्रयोजनाय सर्वत्रोपदेशः कृतः। मनुस्मृतावपि आत्मनो दर्शनं लक्ष्यीकृत्योक्तम्—

सम्यग् दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न स बध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥[5] इति।

मोक्षशास्त्रेषु बन्धस्तावत् शुभाशुभकर्मणां फलमेवास्ति। इमानि कर्मफलानि धर्माधर्मरूपेण जीवं बध्नन्ति। अतः स फलोपभोगाय विभिन्नदेहं प्राप्य तेन स्वार्जितानि कर्मफलानि उपभुङ्क्ते। यावत् कर्मफलानि सन्ति तावत् संसरणमस्ति। दर्शनं तावत् तानि बन्धहेतुरूपाणि कर्माणि छिनत्ति। अतस्तैः बन्धफलं नोपपद्यते।

---

१. मु० उ० २।२।४।
२. छा० उ० ८।७।१।
३. भ० गी० ४।३४।
४. ,, ,, ३।२८।
५. म० स्मृ० ६।७४।

प्रयोजनं तु तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः, तद्ब्रह्मस्वरूपानन्दावाप्तिश्च।[1] येन तत्त्वज्ञानं जायते तद्दर्शनमित्युच्यते। अत आत्मस्वरूपानन्दप्राप्तिरेव परमप्रयोजनम्। 'तरति शोकमात्मवित्',[2] 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'[3] इत्यादि-श्रुतेः। सर्वेषु दर्शनेषु तापत्रयनिवारणाय निःश्रेयसाऽऽत्यन्तिकानन्दप्राप्तये च यतितव्यमिति स्पष्टमेवोक्तम्। अतः संसारान्मुक्तये तत्त्वसाक्षात्कारः कर्तव्यः। स एव परमपुरुषार्थो यन्मोक्षपदेनोच्यते। स च मोक्ष आत्म-साक्षात्कारेणोपलभ्यते। अतस्तत् सिद्धिरेव दर्शनस्य प्रयोजनमिति दर्शन-शास्त्राणामुपयोगः। शास्त्रशब्दस्यापि व्युत्पत्तिः आगमग्रन्थेषु इत्थं वर्णिता भवति। यथा—

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते॥
शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षणवेदिभिः।
शंसनं भूतवस्त्वेकविषयं न क्रियापरम्॥

शास्त्रशब्दस्य व्युत्पत्तिस्तावत् द्वाभ्यां धातुभ्यां भवति।

'शास अनुशिष्टौ' 'शसि इच्छायाम्' इति। शासनं तु विधिनिषेधरूपम्। शंसनं ज्ञानस्वरूपम्। शासनं क्रियापरम्, शंसनमन्यद् वस्तुबोधनम् न तत् क्रियापरमिति तयोर्भेदः। अत्र शास्त्रं खलु हेयकार्यं प्रतिषेधति, अभ्युदयं निःश्रेयसं वा विदधाति। एवं वस्तुनः स्वरूपमपि निरूपयति। तस्मात् शास्त्रमित्युच्यते।

दर्शनानामधिकारी

आर्षग्रन्थेषु सर्वत्रानुबन्धचतुष्टयं प्रतिपादितम्। 'अनुबन्धस्तावत् विषयप्रयोजनाधिकारिसम्बन्धाः'। विषयस्तु जीवेश्वरजगतां स्वरूपमिति कथ्यते। प्रयोजनं तु मोक्षः, अधिकारी तत्त्वजिज्ञासुः। सम्बन्धस्तु प्रति-पाद्यप्रतिपादकभावः। प्रतिपाद्यो विषयः, प्रतिपादको ग्रन्थः। यद्यपि विभिन्नदर्शनेषु स्वरूपनिर्णये विप्रतिपत्तिरस्ति। तथापि सामान्यतया उपर्युक्तानुबन्धचतुष्टये सर्वेषां दर्शनानां साम्यं दृश्यते। अतःस्वप्रयोजनप्राप्त्यु-

१. वेदान्तसारे पृ० सं० २२।
२. छां० ७।१।३।
३. मुण्ड० ३।२।९।

पाये भिन्नतायामपि प्रयोजनादिषु साधारणतया तुल्यताऽस्ति। इदमेव भारतीयदर्शनानां वैशिष्ट्यम्।

प्राच्यपाश्चात्यदर्शनयोर्भिन्नता

पाश्चात्यदार्शनिकैर्दर्शनस्य मूलोत्पत्तिः ग्रीकदेशे जाता इति मन्यते। ततोऽन्यदेशेऽपि तदेव प्रासरत्। परन्तु तत्र परम्पराबद्धदार्शनिकसम्प्रदायो नास्तीति। किन्तु भारते क्रमबद्धपरम्परा दृश्यते। यथा चार्वाकजैनबौद्ध-न्यायवैशेषिकसाङ्ख्ययोगपूर्वोत्तरमीमांसानां विरलतया बहुलतया वा परम्परा दृश्यते। एवं देशान्तरे (पाश्चात्ये) दर्शनेषु परम्परा नास्ति। अतः पाश्चात्यदर्शनेषु केवलतर्कपद्धत्या सोपज्ञः विचारः प्राप्यते। कुत्रचित् स्थलेषु तु पूर्वदार्शनिकानां तर्कशून्यं विरोधमात्रं प्रतिपादितम्। किन्तु भारतीयदर्शनेषु लोकायतमतादारभ्य जीवब्रह्मैक्यवादिमतपर्यन्तविभिन्न-रूपेण स्वमत्यनुसारेण युक्तियुक्ततया विचारः कृतः। एवमेव सर्वेषां दार्शनिकानां परम्परा पूर्वतोऽधुनापि चास्ति।

एवं तत्र दर्शनं विनोदविषयो मन्यते व्यक्तिगतञ्च। पाश्चात्यो यो दार्शनिकः स स्वसमये स्वानुभवं प्रकाश्य पश्चात् तद्विचारं ग्रन्थेषु एव सुरक्षितं करोति, न तु तत्परम्पराग्रेऽपि प्रचलति। भारतीयदार्शनिकपरम्परा इव परम्परा तत्र नास्ति।

दर्शनेषु भेदाः

भारतीय-दर्शने प्रधानरूपेण भेदद्वयमस्ति। आस्तिकदर्शनं नास्तिक-दर्शनञ्चेति। तत्राऽऽस्तिका वेदानुयायिनः, नास्तिका वेदाननुयायिनः। उक्तञ्च—'नास्तिको वेदनिन्दकः' इति। आस्तिकदर्शनेषु साङ्ख्ययोग-न्यायवैशेषिकपूर्वोत्तरमीमांसाः सन्ति। तत्रोत्तरमीमांसायामवान्तरभेदेन पुनः दशविधानि दर्शनानि विद्यन्ते। तेषु दर्शनेषु विवर्तपरिणाम-वादयोरनुगामिनां बाहुल्यं दृश्यते। तयोरपि विवर्तवादप्रतिपादकशङ्करा-चार्याणामनुगामिनां बाहुल्यमिति निःसन्देहम्।

नास्तिकदर्शनेषु चार्वाकजैनबौद्धदर्शनानि सन्ति। तत्रैकस्मिन् बौद्ध-दर्शने माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक-वैभाषिकभेदेन चत्वारि मतानि सन्ति। इत्थमास्तिकदर्शनानि षट्, नास्तिकदर्शनानि च षट् इति प्रमुख-

रूपेण द्वादश दर्शनानि सन्ति। तेषु दर्शनेषु चार्वाकदर्शनं विहाय सर्वेषु जीवस्य पुनर्जन्मसिद्धान्तो मन्यते। तद्यथा अस्य लोकस्य तथैव परलोकस्यापि अस्तित्वं स्वीकृतं तैः। यद्यपि स्वरूपे भेदोऽस्तीति।

भारतीयदर्शनानां वेदोपजीवित्वम्

भारतीयदर्शनानां मिथो भेदज्ञानेन सह वेदस्य महत्त्वमवश्यं ज्ञातव्यम्। सर्वैरपि मन्यते यद् वेदा भारतस्यैव किम् अखिलविश्वस्यापि पुरातनं साहित्यमस्ति। अस्मिन् विषये पाश्चात्या अपि विवादं न कुर्वन्ति। वेदविषये वैदिकानामयमभिप्रायो यत् सृष्टेरादिकर्ता (हिरण्यगर्भः) वेदं स्मृत्वा सृष्टिं रचयामास इति। तत्र केचन दार्शनिका वेदा अपौरुषेया इति मन्यन्ते। अन्ये वेदाः पौरुषेया इति ब्रुवन्ति। किन्तु ये सर्वात्मना वेदा एव निखिलज्ञानानां मूलकारणमिति मन्यन्ते, ते सर्वे वेदा अपौरुषेया इत्येव अङ्गीकुर्वन्ति। तत्र बहवो जनाः (वैदिकाः) वेदविषये अपौरुषेयत्ववादिनः। अतो वेदानां वैशिष्ट्यं यदा वयं पश्यामस्तदा वेदाः पुरुषनिर्मिता इति वक्तुं न शक्नुमः। तत्र एतादृशः दृष्टादृष्टस्थूलसूक्ष्मात्मानात्मादयो बहवो विषयाः सन्ति, तेषामिन्द्रियातीतविषयाणां पुरुषेण कल्पनाऽपि कर्तुं नैव शक्यते। तेषु राजतन्त्रप्रजातन्त्रादीनि सर्वाणि तन्त्राणि, आत्मानात्मवस्तूनि च यानि यानि लोके प्राप्यन्ते तानि सर्वाणि वेदेषु दृश्यन्ते।

एवमेव शरीरे शरीरातिरिक्तं वस्तु यत् सत्, तस्यापि ज्ञानं वेदमूलमेव पुरा जातम्। स्वर्गनरकादीनाञ्च ज्ञानं वेदे भवति। किं बहुना, नास्तिका अपि आत्मानात्मतत्त्वं दृष्टवन्तः स्युरिति। अतः प्राच्यपाश्चात्याः आस्तिकनास्तिका दर्शनकाराः मोक्षसिद्ध्यर्थं यन्मार्गं प्रदर्शितवन्तः, तत् सर्वं वेदेषु पूर्वमेवोदीरितम्। 'यथा बौद्धमते चत्वारि आर्यसत्यानि वेदानुवाद एव। एवं जैनानां त्रिरत्नं-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्राणि सर्वाणि जैनमतप्रादुर्भावात् पूर्वमेव वेदेषु दृष्टानि। अन्येषामपि दर्शनानां सम्बन्धे ईदृशमेवेति ज्ञातव्यम्।

समग्रवेदेषु भागत्रयमस्ति। कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानीति। तत्र सर्वेषु कर्मकाण्डमेव बृहदस्ति। तदपेक्षया उपासनाकाण्डं तु न्यूनमस्ति। ज्ञानकाण्डं तु उभयोरपेक्षया अत्यल्पमस्ति। परन्तु तेषु काण्डेषु ज्ञानकाण्डमेवाभ्यर्हिततमम्। तदुक्तम्भगवद्गीतायाम्—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥[१]

कर्माणि नित्यनैमित्तिककाम्यनिषिद्धानि शास्त्रचोदितानि। उपासनानि तु मानसचिन्तनानि। ज्ञानं तावत् आत्मानात्मनोर्विज्ञानमिति। सामान्यतः सर्वत्र दर्शने इमे सर्वे विषया आयान्ति। किन्तु दर्शनानां पर्यवसानं तु ज्ञाने एव भवति। तस्मात् आत्मनात्मनोर्ज्ञानमेव वरिष्ठमिति मन्यते।

भारतीयदर्शनानां लक्ष्यम्

अज्ञानं बन्धस्य कारणमिति वचनात् इमे जीवाः स्वाज्ञानवशात् बन्धमनुभवन्ति। तद्बन्धो ज्ञानेन निवर्तते। तज्ज्ञानमात्मज्ञानमेवास्ति। 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते'[२] 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः'[३] 'ज्ञानं मोक्षैककारणम्' 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः'[४] 'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति'[५] 'ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च भूयो न मृत्युमुपयाति विद्वान्'[६] इत्यादिषु श्रुतिस्मृतिषु स्पष्टमेव ज्ञानान्मोक्ष इत्युच्यते।

पुरुषार्थचतुष्टयम्

पुरुषैरर्थ्यते प्रार्थ्यते इति पुरुषार्थः, स च पुरुषार्थः धर्मार्थकाममोक्षरूपः। वर्णाश्रमानुसारेण सर्वैर्जनैः स्वकीयकर्माणि कर्तव्यानीति वैदिकसम्प्रदायः। तत्र धर्मस्तावत् वैदिककर्मानुष्ठानमुच्यते, वैदिककर्मानुष्ठानेन अर्थ उपार्जनीयः। काम इच्छा। इच्छायां सर्वे स्वतन्त्राः सन्ति। स्वेच्छया स्वस्योत्थानं वा पतनं वा कर्तुं शक्नुवन्ति जीवाः। तेषु मोक्षो नाम परमपुरुषार्थ इति। स च जन्ममरणप्रबन्धविच्छेदरूपस्तत्त्वज्ञानेन भवतीति। तत्त्वं तु अस्य सांसारस्याधिष्ठानभूतं ब्रह्मैवेति श्रुतिस्मृतिषु प्रतिपादितम्।

---

१. भग० गी० ४।३८।
२. ई० उप० ११।
३. भग० गी० ५।१६।
४. श्वेताश्वतर० १।१।१।
५. श्वेता० ४।१४।
६. महानारा० १७।१४।

तद् ब्रह्मैव जीवरूपेण व्याकृतम्, समुद्रे तरङ्गबिन्दुवत्। समुद्रोऽपि जलराशिः, बिन्दुरपि च जलम्।

यदा आत्मैव जीवरूपेण परिवर्तितस्तदा नामरूपकर्माणि प्राप्तः। स्वस्वरूपं विस्मृत्य संसारे कृतकर्मानुसारेण अनेकानि शरीराणि धृत्वा जायते म्रियते च। इदमेव तस्य संसारे परिभ्रमणम्। आत्मस्वरूपज्ञानमेव जीवस्य मोक्ष इति उपनिषत्सूक्तम्। यथा मुण्डक० उक्तम्—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥[1]
यदा पश्यति रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति[2]॥

स च मोक्ष आत्मचिन्तने भवति। तच्चिन्तनस्य स्वरूपं श्रवणं मननं निदिध्यासनञ्चेति। एतत् सर्वं बृहदारण्यके स्पष्टमेवोक्तम्[3]। अतो वेदान्तवाक्यानामाधारेण श्रवणादि कर्तव्यम्, यन्मोक्षस्य कारणमिति कथ्यते। स च मोक्षः परमपुरुषार्थ इत्युच्यते।

आत्मविमर्शशब्दयोरर्थः

वैदिकदर्शनेषु आत्मनः किं स्वरूपमित्येवास्य निबन्धस्य विषयः तत्रात्मेति शब्दार्थः कः? इति जिज्ञासायामुक्तम् काठके—

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥[4]

समग्रशरीरं व्याप्नोतीति जाग्रदवस्थां निरूप्य स्वप्नावस्थायां समस्तविषयान् मनस्येव गृह्णातीति आदत्ते। ततः सुषुप्तौ स्वस्मिन् आत्मनि तान् विलापयति, अत्ति वेति। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु अवस्थासु आत्मनो भावो नैरन्तर्येण प्रचलतीति स आत्मेति कथ्यते।

---

१. मुण्डकोप० २।२।९।

२. मुण्डकोप० ३।१।३।

३. बृ० उ० २।४।५।

४. क० उ० शां० भा० २।१।१।

स्वस्य रूपं स्वरूपं तद्विमर्शो विचारः। मृश आमर्शने धातोः 'क' प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे मर्शः—आमर्शनं विचारः, विशेषेण मर्शनं विमर्शः, विशेषविचार इति यावत्। वेदे भवो वैदिकः, तस्य दर्शनं वैदिकदर्शनं, तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽपि वैदिकदर्शनम्। तेषु वैदिकदर्शनेषु आत्मनः स्वरूपमात्मस्वरूपं तस्य विमर्शः, विशेषेण विचार इह क्रियत इति शीर्षकवाक्यस्यार्थः। प्रसङ्गादत्र अवैदिकदर्शनेषु आगत आत्मसम्बन्धी विचारोऽपि योज्यते। तत्रादौ सङ्क्षेपतो दर्शनानां किञ्चित् परिचयदानमपि नाप्रासङ्गिकं स्यादिति मन्ये।

दर्शनेषु पदार्थभेदाः—

सर्वे दार्शनिकाः स्वस्वमतस्थापनार्थं तदुचितपदार्थान् स्वकीयदर्शने न्यरूपयन्। तत्राञ्जसा पदार्थत्रयमेवास्ति जीवेश्वरजगन्तीति तेषां स्वरूपं निरूपितं तैः। तत्र साङ्ख्यैः पञ्चविंशतितत्त्वानि प्रतिपादितानि। यथा पुरुषः, प्रकृतिर्महत् (बुद्धिः) अहङ्कारो मनः पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियाणि पञ्च, तन्मात्राणि पञ्च, पञ्चमहाभूतानि इति पञ्चविंशतितत्त्वानि तेषां दर्शने प्रसिद्धानि सन्ति।

योगदर्शने पूर्वोक्ताः सर्वे पदार्थाः स्वीकृताः, अपि च ईश्वरतत्त्वस्यापि विशेषेण स्वीकृतत्वात् षड्विंशतिस्तत्त्वानि सन्ति।

न्यायदर्शने षोडशपदार्थाः सन्ति। यथा 'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानीति।

वैशेषिके तु सप्तपदार्थाः सन्ति। 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावा' इति। तस्मिन् आत्मा आकाशः कालो दिक् एवं पृथिव्यादिभूतचतुष्टयस्य परमाणवो नित्यपदार्था मन्यन्ते। पूर्वमीमांसादर्शनेऽपि परमाणुर्मन्यते। किन्तु वैशेषिकोक्तपरमाणव ईश्वराधीनाः सन्ति। मीमांसकानां परमाणवः कर्माधीनाः सन्तीति तयोर्भेदः।

पूर्वमीमांसादर्शने द्रव्यं गुणः जातिः क्रिया अभाव इति पञ्चपदार्थाः। तत्र केचन भाट्टानुयायिनो वैशेषिकोक्तनवद्रव्याणि तदतिरिक्तान्धकारश्चापि

१. भार० दर्शन—दत्त एवं चटर्जी, पृ० २०९।

द्रव्यमिति स्वीकृतवन्तः। एव ते स्वर्गनरकादीन् अदृष्टातीन्द्रियानपि सदिति मन्यन्ते। तेषां सत्त्वे श्रुतिरेव प्रमाणमिति तेषां सिद्धान्तः।

वेदान्ते चिज्जडौ इति द्वौ पदार्थौ निरूपितौ। त्रिगुणात्मिकया प्रकृत्या संसर्गेण सर्वा सृष्टिरुदेति। सृष्टिस्तु मायाविजृम्भिता इति स्वीक्रियते। सा माया सदसद्भ्यामनिर्वचनीया। सा च ब्रह्मणः शक्तिरूपा भवति। शक्तिशक्तिमतोरभेदात् ब्रह्माभिन्ना सा। अतः सर्वेषां मूलं ब्रह्मैव जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणमस्ति।

वैदिकदर्शनानां सामान्यसिद्धान्तः

न्यायदर्शनम्—

वैदिकदर्शनानां मूलं तु वेदा भवन्ति। किन्तु वेदानुयायिनो विभिन्नरूपेण स्वस्वदर्शनं रचयामासुः। तेषु न्यायदर्शने चत्वारि प्रमाणानि सन्ति प्रत्यक्षमनुमानमुपमानं शब्दश्चेति। तत्र तावत् ज्ञानेन्द्रियैः विषयाणां सन्निकर्षाद्यज्ज्ञानं जातं तत् प्रत्यक्षमित्युच्यते तत् करणं प्रत्यक्षप्रमाणम्। तद्द्विविधम्—बाह्यमाभ्यन्तरञ्चेति। सुखदुःखादीनां मानसप्रत्यक्षत्वात् आभ्यन्तरप्रत्यक्षमित्युच्यते। व्याप्तिज्ञानजन्यं ज्ञानमनुमितिरित्युच्यते। तत्करणमनुमानप्रमाणम्। तच्च व्याप्तिज्ञानमेव, यथा 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्', इत्यत्र पर्वतः पक्षः वह्निः साध्यो, धूमः साधनम्। धूमं दृष्ट्वा वह्निं पर्वतेऽनुमिनुमः।

सादृश्यज्ञानमुपमानम्। यथा 'गोसदृशो गवयः, इति सादृश्यज्ञानात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानं यद् भवति तदुपमितिरित्युच्यते। आप्तवाक्यं शब्दप्रमाणमिति। यथा धर्मराजो नाम नरपतिरासीदित्यादि।

प्रमेयाः—

आत्मेन्द्रियदेहादयः प्रमेयाः सन्ति। इन्द्रियैः शरीरातिरिक्तं यद् वस्तु ग्राह्यं तदपि प्रमेयमिति मन्यते। तेषु बुद्धिः मनः प्रवृत्तिः दोषः प्रेत्यभावः, फलं दुःखमपवर्गश्चेति सर्वे प्रमेयाः। आत्मा (जीवात्मा) शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिभ्योऽतिरिक्तः सन् शरीर एव निवसति। आत्मनि 'सुखदुःखेच्छाप्रयत्नद्वेषधर्माधर्मसंस्काराः गुणाः' सन्ति। मुक्तावस्थायां एतेभ्यो गुणेभ्यो रहितो भवति। इयमवस्था तु चैतन्यविहीना इव भवति। अतस्तस्यां न

सुखानां न दुःखानामनुभवो जायते। सृष्टिस्तु पृथिव्यादीनां सूक्ष्मनित्यपरमाणुभिर्भवति। तस्या निमित्तकारणमीश्वरः। ईश्वरेच्छया परमाणूनां संयोगवियोगौ भवतः। संयोगे सृष्टिर्वियोगे प्रलय इत्युच्यते। ईश्वर एको नित्यः षडैश्वर्यसम्पन्नः, पूर्णस्वतन्त्रश्च। तस्मिन् ज्ञानेच्छाप्रयत्ना नित्याः। जीवेषु अनित्याः अस्वतन्त्राः, जीवानां कर्मफलदाता ईश्वरः जीवाः शुभाशुभकर्म कर्तुं स्वतन्त्राः कर्मानुसारेण फलानि ईश्वरेण तेभ्यो दीयन्त इति।[1]

वैशेषिकदर्शनम्—

न्यायवैशेषिकदर्शनयोर्बहुसाम्यं दृश्यते। प्रमाणविषये न्यायमते चत्वारि प्रमाणानि स्वतन्त्राणि। किन्तु वैशेषिकमते प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति द्विविधं प्रमाणम्। उपमानं शब्दप्रमाणं च अनुमानान्तर्गतमिति मन्यते।[2] अस्य दर्शनस्यापि उद्देश्यं तु प्राणिनामपवर्गः।

तेषां मते सप्त पदार्थाः सन्ति। यथा 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाऽभावा' इति। तत्र षट् पदार्थास्तु भावपदार्थाः सप्तमस्तु अभावः। अत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसीति नव द्रव्याणि। तत्र चत्वारि द्रव्याणि भौतिकपरमाणुभिः कृतानि। तेषां गुणास्तु गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः। आकाशकालदिशः अप्रत्यक्षद्रव्याणि सन्ति। इमानि नित्यानि एकैकद्रव्याणि। मनोऽपि नित्यं सूक्ष्मञ्च। आत्मा नित्यः सर्वव्यापि चास्ति। एवं ज्ञानस्यापि आश्रयः स। आत्मनोऽनुभवस्तु मनसा जायते। परमात्मनो ज्ञानं तु अनुमानेन भवति। गुणाः—रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यादयश्चतुर्विंशतिरिति। ते द्रव्याश्रयाः। गत्यात्मकं कर्म। तानि कर्माण्यपि द्रव्याश्रितानि। तानि पञ्चविधानि। यथा—उत्क्षेपणमपक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनञ्चेति। सामान्यम्-परसामान्यमपरसामान्यञ्चेति द्विविधम्। तद् देशतः कालतश्चेति। तत्र व्यापकं परसामान्यम्। व्याप्यमपरमित्युच्यते। विशेषास्तु अनन्ताः। परमाणूनां पार्थक्यकारणं 'विशेष' इत्युच्यते। विशेषपदार्थाङ्गीकारेणैवास्य दर्शनस्य नाम वैशेषिकमित्युच्यते।

नित्यसम्बन्धः समवायः, तद्यथा गुणगुणिजातिद्रव्यादीनां समवायसम्बन्धः। इमे सर्वे भावपदार्थाः।

---

१. भार० दर्शन—दत्त एवं चटर्जी, पृ० २२-२३।

२. „ „ पृ० सं० १४६।

अभावाश्चत्वारः प्रागभावः प्रध्वंसाभावः अन्योन्याभावः अत्यन्ताभावश्चेति। ईश्वरमोक्षविषये च न्यायवैशेषिकयोः साम्यमस्ति।

साङ्ख्यदर्शनम्—

साङ्ख्यदर्शनकाराणां चर्चा भगवद्गीतायामपि आयाति। यथा—'सिद्धानां कपिलो मुनिः'[1], इत्यादि। उक्तञ्च—

सङ्ख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन साङ्ख्याः प्रकीर्तिताः[2]॥

अस्मिन् दर्शनशास्त्रे आत्मविषये या चर्चा कृता, सा वेदान्तदर्शनं परित्यज्यान्यदर्शनेषु नैवोपलभ्यते। साङ्ख्यदर्शनं तावत् द्वैतवादिदर्शनमस्ति। तस्मिन् मूलतः सत्ताद्वयं स्वीकृतम्। प्रकृतिः पुरुषश्चेति। तयोः संयोगेन सृष्टिर्वियोगेन लयश्चेति। यावत् संयोगस्तावत् स्थितिरिति मूलसिद्धान्तः।

पूर्वोक्तन्यायवैशेषिकदर्शनयोरसत्कार्यं प्रतिपादितम्। किन्तु साङ्ख्यवेदान्तयोः सत्कार्यं प्रतिपादितम्, अर्थात् कार्यं कारणे पूर्वमेवासीदिति। सत एव कार्यस्य प्रादुर्भावो भविष्यतीति। कारणे तावत् कार्योद्भवात् प्राक् तस्याभिव्यक्तिर्नास्तीति। उत्पन्ने कार्ये सति कार्यकारणयोर्भेदो दृश्यते। कारणव्यापारात् प्राक् कार्यस्याभिव्यक्तिर्नास्तीति। सत्त्वं तु वर्तत एव। यथा तिलेषु तैलस्य, दुग्धे आज्यस्येति।

अस्मिन् दर्शने जगतो मूलकारणं प्रकृतिरिति मन्यते। पुरुषसंयोगेन यदा प्रकृतौ गुणक्षोभो जायते, तदा सृष्टिर्भवतीति। गुणानां साम्यावस्थायां तु प्रलय एव मन्यते। प्रकृतिपुरुषावुभावपि अनादिरनन्तश्च भवतः, प्रकृतिर्नामत्रिगुणात्मिका स्वतन्त्रसत्तावती। गुणेषु सत्त्वगुणः प्रकाशको लघुः आनन्दात्मकश्चेति। रजोगुणश्चलउपष्टम्भको दुःखात्मकश्चेति। तमोगुणो गुरुः अवरोधात्मकः (आवरणात्मकः) मोहात्मकश्चेति। परस्परभिन्नधर्मतया ते सर्वे प्रकृतौ तिष्ठन्ति।

---

१. भग० गी० १०।२६।

२. प्रवचनभाष्यभूमिकायाम्।

पुरुषः—

पुरुषः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिभ्यो भिन्नः शुद्धचैतन्यस्वरूपः। चैतन्यमात्मनः स्वरूपं न तु गुणः। अत आत्मा अपरिणामी, निष्क्रियः, स्वयम्भूः, नित्यः, सर्वव्यापी। प्रकृतिस्तु एका पुरुषा बहवः जडात्मिका प्रकृतिः, चेतनात्मकः पुरुषः। प्रकृतिपुरुषसंयोगेन बुद्धिः (महत्) अहंकारश्च जायेते। अहङ्कारस्य सात्त्विकांशात् पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि मनश्च जायन्ते। तामसांशात् पञ्चतन्मात्राणि उत्पद्यन्ते। रजोंशस्तु उभयोः सहायकः। ज्ञानेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादादीनि, अन्तःकरणं मनोबुद्धिरहङ्कारः इत्युच्यते। शब्दस्पर्शादिसूक्ष्मतत्त्वानि पञ्चतन्मात्राणीति उच्यन्ते। क्रमशस्तेभ्य आकाशादीनि महाभूतानि जायन्ते। सर्गो द्विधा बुद्धिसर्गः, भौतिकसर्गश्चेति। प्रथमस्तु बुद्धिरहङ्कार एकादशेन्द्रियाणि, द्वितीयस्तु पञ्चतन्मात्राणि पञ्चमहाभूतानि च। तैः सह पुरुषप्रकृती उभे मिलित्वा पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि प्रतिपादितानि साङ्ख्ये।

योगदर्शनम्—

योगदर्शनकाराः साङ्ख्योक्तान् सर्वान् पदार्थान् मन्यन्ते। व्यावहारिकजीवनेऽपि साङ्ख्ययोगदर्शनयोरैक्यमस्ति। योगदर्शने पञ्चविंशतितत्त्वातिरिक्तमीश्वरतत्त्वमपि स्वीकृतम्। साङ्ख्या निरीश्वरवादिनः। योगिनस्तु सेश्वरवादिनः, अयमेव प्रमुखभेदस्तयोर्दर्शनयोः। उभौ विवेकज्ञानेन मुक्तिरिति कथयतः।

विवेकज्ञानं तावत् मनोबुद्ध्यहङ्कारेभ्यो भिन्नत्वेनात्मनो ज्ञानम्। आत्मा नित्यो मुक्तः शाश्वतश्चेति। स चात्मा जराजन्मपापदुःखरोगमृत्युभ्यः परश्चेति उक्तम्। तत्प्राप्तयेऽष्टाङ्गसाधनविधिर्निरूपितः।

जीवः—

शरीरावच्छिन्नः पुरुषो जीवः। तत्र पाञ्चभौतिकं स्थूलशरीरम्, सूक्ष्मशरीरं तु इन्द्रियमनोबुद्ध्यहङ्काराः पञ्चतन्मात्राणि च पुरुषः शुद्धचैतन्यरूपः। स वस्तुतः शारीरिकमानसिकविकाराभ्यामयुक्तस्तथापि तद्युक्त इव भाति। स चित्तेन शरीरतादात्म्यमनुभवति भ्रमेण। चित्तं तावत् प्रकृतेः प्रथमविकारः, आत्मनः सन्निकर्षात् तस्मिन् आभास आयाति। बाह्यवस्तूनामपि ज्ञानं ज्ञानेन्द्रियैः वृत्त्या भवति। यथा चाञ्चल्यमानतरङ्गे

चन्द्रमा अपि चलतीव दृश्यते। तथा जलस्थानीया वृत्तिः चन्द्र स्थानीयो जीवः। तत्र पञ्चवृत्तयः सन्ति प्रमाणं विपर्ययो विकल्पो निद्रा स्मृतिरिति। ताः क्लिष्टाक्लिष्टभेदेन द्विधा। अविद्यास्मितारागो द्वेषोऽभिनिवेश इति पञ्चक्लेशाः। मनसोऽवस्थाः क्षिप्तमूढविक्षिप्तैकाग्रनिरुद्धरूपाः सन्ति। तत्रैकाग्रनिरोधावस्थायां समाधिरित्युच्यते।

स च समाधिर्द्विविधः, सम्प्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्चेति। संप्रज्ञाते चतस्रः कोटयः—वितर्कः, विचारः, आनन्दः, अस्मिता इति। यदा यो निरस्तसमस्तवृत्तिर्योगी असंप्रज्ञाते प्रविशति, तदा तस्य शुद्धात्मनः स्वरूपेऽवस्थानं भवति। योगे मार्गत्रयमस्ति ज्ञानभक्तिकर्माणीति। मुक्तेर्विशुद्धप्रज्ञा एव कारणमस्ति। सा प्रज्ञा आत्मानात्मभेदज्ञानेन प्राप्यते। चित्तशुद्धयात्मज्ञानं भवति। तदर्थमष्टाङ्गयोगाः कथिताः। ते 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः' इति सूत्रोक्ताः। यमस्तावत् 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः'। नियमस्तावत् 'शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि' आसनानि स्वस्तिकपद्मासनादीनि, प्राणायामः रेचकपूरककुम्भकाख्याः, प्रत्याहारस्तु इन्द्रियाणां विषयेभ्यो निवर्तनम्। अभीष्टवस्तुनि चित्तस्य बन्धो धारणम्। ध्येयवस्तुनि चित्तैकतानत्वं ध्यानम्। निर्भ्रान्तिमात्रं स्वरूपशून्यमिव भवति स समाधिः। साधकैः समाधेः प्राक् 'अणिमामहिमालघिमा गरिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं वशित्वमीशित्वमित्यष्टसिद्धयो ज्ञातव्याः।

ईश्वरः—परमपुरुषः, सर्वदोषशून्यः, नित्यः सर्वव्यापी सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् पूर्णः परमात्मा समस्तबन्धनरहितश्च। तदुक्तम्—'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः, स पूर्णानन्दो निरतिशयज्ञानेन विश्वं नियमयति। ईश्वरसत्तायां श्रुतिस्मृतिपुराणादीनां प्रमाणत्वमित्युच्यते। ईश्वरसाक्षात्कार आत्मसाक्षात्कारो वा जीवनस्य लक्ष्यमित्युक्तम्। तत्प्राप्तिस्तु ईश्वरप्राणिधानेन शीघ्रमेव भवति इति सारांशः।

मीमांसादर्शनम्—

पूर्वमीमांसादर्शनं भारतीयदर्शनेषु बृहदस्ति। तस्मिन् कर्मकाण्डीय समस्तवेदवाक्यानां सम्यग्विचारः कृतः। द्वादशलक्षणीसूत्रग्रन्थो मीमांसादर्शनस्य मूलमस्ति। वैदककर्मणां सम्यग् विचार एव तस्य दर्शनस्योद्-

देश्यम् । चत्वारि कर्माणि प्रसिद्धानि नित्यनैमित्तिककाम्यनिषिद्धानि इति । वेदा अपौरुषेया इति तेषां सिद्धान्तः । अतो वेदाः सर्वविधनिरस्तदोषा इति च मीमांसका मन्यन्ते ।

वेदानां प्रकाशस्तु ऋषीणां हृदये तपसाऽभूदिति । अतो वेदाः स्वतः प्रमाणभूताः । मीमांसादर्शनानुसारेण ज्ञानमात्रं तु स्वतः प्रमाणभूतमस्ति । पर्याप्तसामग्रीभिरिन्द्रियसन्निकर्षेण प्रमाज्ञानं जन्यते । न्यायमते ज्ञानं परतः प्रमाणं भवति । कारणसामग्रीं विना न ज्ञानमुत्पद्यते । कारणसामग्रीणां परीक्षा अनुमानेन जायते । अतो ज्ञानं परतः प्रमाणं सदिति नैयायिकाः । निर्दुष्टेन्द्रियैर्यदुत्पद्यते ज्ञानं तत् स्वतः प्रमाणमिति मीमांसकाः ।

भ्रमज्ञानस्थले प्राभाकारा अख्यातिवादं स्वीकुर्वन्ति । तेषां मते भ्रमो नाम किञ्चिदपि ज्ञानं नास्ति । शुक्तिरजतादिस्थलेषु ज्ञानद्वयात्मकमस्ति । इदन्त्वांशेऽनुभवो रजतांशे स्मृतिरिति । अत उद्देश्यविधेयांशयोर्ज्ञानद्वयं सत्यमेवेति । उभयत्र भेदमात्रं वयं न जानीमः । अतः प्राभाकरास्तु अख्यातिर्नाम 'ज्ञानं नास्तीति' कथयन्ति । भाट्टास्तु असंसर्गो यत्रान्योन्यं न प्रतिभाति तत्रैव भ्रम इति तयोर्भेदः । प्राभाकरमते भ्रमज्ञानमेव न भवति, भाट्टमते तु भ्रमज्ञानं भवति किन्तु संसर्गमेवादाय भवति, न तु विषयमादाय । अन्ते भाट्टमतं प्रभाकरमतात् नैयायिकमताच्च भिद्यते इति तात्पर्यम् ।

पर्याप्तसामग्र्या अनुमानमपि भवति । उपमानप्रमाणे नैयायिकमीमांसकयोरयं भेदः 'गोसदृशो गवय' इति नैयायिकाः 'अयं कपिः हनुमत्सदृश' इति स्वजातावेवोपमीयते मीमांसकैः, न तु भिन्नजातौ इति । शब्दप्रमाणेन परोक्षापरोक्षज्ञानं भवति । परोक्षं तावत् स्वर्गादीनां ज्ञानम्, अपरोक्षं तु आप्तपुरुषवाक्यजन्यम् । लौकिकातिरिक्तविषयज्ञाने तत्साधने च सर्वत्र वेदप्रमाणमेव मन्यन्ते, तेषु पुंदोषरहितत्वादिति । वेदे यत्र कुत्रापि अन्यदार्शनिकैः संदिग्धता प्रदर्श्यते सा तैः निराकृता युक्तिभिः ।

यत्र वेदानां विधिरस्ति तस्यानुष्ठानं धर्म इत्युच्यते । निषिद्धकर्माचरणमधर्मः, वेदोक्तनित्यकर्माणि यन्निष्कामभावनया कृतानि तानि मुक्तिं प्रति हेतुरिति उच्यते । प्राचीनमीमांसकानां मते नित्यकर्मणामनुष्ठानेन चित्तशुद्धिरेव फलमिति । नव्यानां मते तु मोक्षाख्यं फलमिति विशेषः ।

आत्मा—आत्मा नित्यः। यदि आत्मा अनित्यः स्यात् तर्हि स्वर्गनरक-प्रतिपादकश्रुतिवाक्यानि व्यर्थानि स्युरिति।

चैतन्यं नात्मनः स्वरूपम्, किन्तु शरीरमनआदिसंयोगेन तद् भवतीति। विदेहमुक्तिरेव भवति चैतन्यविहीना च। यावत् जीवात्मा शरीरे तिष्ठति, तावत् चैतन्यमपि वसति।

प्राभाकरमते प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्तयः पञ्च प्रमाणानि। भाट्टानां मते—तदतिरिक्तानुपलब्धिप्रमाणमपि षष्ठं प्रमाणमिति मन्यते। प्राभाकरास्तु तदनुमानान्तर्गतमिति ब्रुवन्ति।

पूर्वमीमांसकैर्जगतो नित्यसत्ता स्वीकृता। अतस्ते बाह्यसत्तावादिनः। संसारातिरिक्तं जीवानामपि सत्तां ते मन्यन्ते, एवं द्वैतवादिनस्ते। परन्तु जगतः सृष्टौ कर्ता, ईश्वरः परमात्मा वा न कारणम्। जगत्तावत् अनाद्यनन्तम्। सांसारिकवस्तूनां सर्जनं जीवकृतकर्मणा भवति। कर्मणि स्वतन्त्रशक्तिरस्तीति। वैदिककर्मणा अपूर्वं जायते इति तेषां सिद्धान्तः। तस्मादग्रे देशकालानुसारेण फलमुत्पद्यते। अतः अस्मिन् लोके कृतकर्मणां शुभाशुभफलानि परलोके इहलोके च जीवो भुङ्क्ते इति।

वेदान्तदर्शनम्—

विद् सत्तायामिति सत्तार्थक 'विद्' धातोः वेदशब्दो निष्पद्यते। वेदानामन्तो वेदान्तः, वेदानां रहस्यं वा वेदान्त इति शब्दार्थः। उपनिषद्-भागं वेदान्त इति कथयन्ति। उपनिपूर्वकात् षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु इति धातोः उपनिषत् शब्दो निष्पद्यते। तेन ग्रन्थोऽपि उपनिषत् ब्रह्म-विद्या चेति कथ्यते। जीवान् ब्रह्मसमीपे गमयति जन्मबन्धाववसादयति विनाशयतीति व्युत्पत्त्या मोक्षमुद्दिश्य प्रवृत्तं शास्त्रं वेदान्त इत्यभ्युपगम्यते।

वेदान्तशास्त्राणां मूलं तावत् उपनिषदः सन्ति। ता अधिकृत्य भगवद्गीता ब्रह्मसूत्राणि च रचितानि। वेदान्तप्रस्थाने विभिन्नमतानि उदपद्यन्त। एतादृशविभिन्नार्थकत्वमन्यभारतीयदर्शनेषु कुत्रापि न दृश्यते। वेदान्तसंप्रदाये प्रमुखरूपेण दशसंख्याकाः भेदाः प्रसिद्धास्तेषु शङ्कररामानुजा-चार्यानुयायिनां बाहुल्यमस्ति। तयोरपि शङ्कराचार्याणां ग्रन्थगाम्भीर्य-मनुयायिनामाधिक्यं च दृश्यते। ब्रह्मसूत्रग्रन्थे वेदान्तवाक्यानां समन्वया-विरोधसाधनफलाभिधानाश्चत्वारोऽध्यायाः सन्ति।

वेदान्ते 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्तीति'[१], एकस्यैव सत्ता प्रतिपादिता श्रुत्या। विभिन्नेषु शैववैष्णवमतेष्वपि एकस्यैव सत्तायाः प्रधानत्वं स्वीकृतं द्वैतवादिभिरपि। किन्तु गौणरूपेणान्येषामपि सत्ता स्वीकृता तैः स्वदर्शनस्यार्थनिर्णये। एषु दार्शनिकेषु भेदाभेदवादिनामधिकसंख्या दृश्यते।

तत्त्वविषये सगुणनिर्गुणभेदेन स्वरूपानुसारेणोपसंहारः कृतः। एकस्या एव सत्ताया अनेकत्वं प्रदर्शितम्, यथा 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' इति[२]। उपासनायां निर्गुणवस्तुनः सगुणरूपं कल्पितम्। अतो ये उपासकास्ते ब्रह्म सगुणं व्याख्यातवन्तः। अन्ये ये तत्त्वदर्शकास्ते निर्गुणं ब्रह्म व्याख्यातवन्त इति।

नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ब्रह्म, तत् प्रज्ञानं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति सत्तात्मकमानन्दात्मकं ज्ञानात्मकञ्चेति श्रुत्या उक्तम्। परमपरञ्चेति द्विविधं ब्रह्म। तत्र परं तावत् शुद्धं प्रकृतेः परमिति। अपरं तावत् शुद्धसत्त्वगुणोपाधिकम्, मायोपाधिकं वेति। ब्रह्मेश्वर इति तयोः नामनी।

जगत्—अस्य जगत उपादाननिमित्तकारणं ब्रह्मैव। ब्रह्मणः सकाशात् भूतपञ्चकस्य सृष्टिर्जाता। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'[३] इति श्रुत्यनुसारेण भूतसृष्टीनां प्राणिसृष्टीनां च मूलं ब्रह्मैव। तेनैव परापरप्रकृतिभ्यामिदं जगन्निर्मितमिति। पराप्रकृतिस्तु जीवो यो जगद् धारयति, अपरा तु सर्वाणि भूतानि सृजति। सा प्रकृतिः ईश्वराधीना। अत ईश्वरेच्छया जगतो निर्माणं स्थितिर्लयश्च भवति।

जीवः—जीवोऽपि 'अयमात्मा ब्रह्म[४]' अहं ब्रह्मास्मि[५], इति श्रुत्यनुसारेण ब्रह्मैव। किन्तु अविद्यया स्वरूपविस्मृतः सन् जीवभावमुपेतः संसारे भ्रमति। यदा स स्वस्वरूपं जानाति तदा मुच्यते। स्वरूपज्ञानार्थं वेदान्तवाक्यानां श्रवणं ततो मननं निदिध्यासनं च कार्यमिति तस्य साधनम्।

---

१. ऋग्वेद १।१६४।४।६१।

२. ऋ० वे० १।६०।

३. तैत्ति० उ० ३।१।

४. मां० उप० मं० २।

५. बृ० उ०।

अवैदिकदर्शनानां सामान्यसिद्धान्तः

चार्वाकदर्शनम्—

चारुः आपाततः शोभना वाक् वाणी येषां ते चार्वाकाः। भारतीयदर्शनेषु चार्वाकदर्शनं नास्तिकदर्शनमिति प्रसिद्धम्। विरोचनप्रभृतयोऽसुराश्चार्वाकदर्शनस्यानुयायिन इति मन्यते। इदानीमपि देहात्मवादिनो बहवः सन्ति। चार्वाकदर्शनं जडवादिदर्शनमपि कथयन्ति।

अस्य दर्शनस्य सूत्रकारो बृहस्पतिरिति उच्यते। अस्मिन् दर्शने प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणम्। 'चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मेति' तेषां सिद्धान्तः। स आत्मा भूतचतुष्टयस्य समूहाज्जातः।

> **अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः।**
> **चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥[1] स० द० सं०**

ते आकाशं न मन्यन्तेऽप्रत्यक्षत्वात्। वैदिककर्माणि ब्राह्मणानां जीवनोपाय इति मत्वा वैदिककर्माणि निराकुर्वन्ति। मरणादूर्ध्वं जीवस्य न कस्यचिदपि अस्तित्वं भविष्यति। न स्वर्गः न नरकश्चास्ति। तत् सर्वं धूर्तैः परेषाम् वञ्चनायोल्लिखितम्। अतः शरीरपोषणाय यावन्ति वस्तूनि सन्ति तानि सर्वाणि प्राप्तव्याप्नीति। उक्तञ्च 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेदिति'। मरणमेवापवर्गः, इति तेषां सिद्धान्तः। ते शरीरातिरिक्तात्मानं न मन्यन्ते। आत्मा तु भूतचतुष्टयमेलनेन स्वयमेवाविर्भवति, किण्वादिभ्यो मदशक्तिवदिति, देहस्थौल्यादियोगाच्च स एवाऽऽत्मा न चापरः इति च। यथा ताम्बूलचर्वणेन रक्तवर्णः प्रादुर्भवति, तथैव शरीरे चैतन्यमुत्पद्यते।

शरीरोपभोगाय ये ये पदार्था आवश्यकाः, तान् येन केनापि प्रकारेण सम्पादयेदिति। तदुक्तं सर्वदर्शनसंग्रहे—

> **त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुंसां।**
> **दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा ॥**
> **व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्।**
> **को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी ॥[2]**

---

१. स० द० सं० पृ० २।

२. स० द० सं० पृ० २।

चक्षुरिन्द्रियाप्रत्यक्षस्य कस्यचिदीश्वरस्य सत्तां ते न मन्यन्ते । तेषां मते लोकप्रसिद्धो राजा एव ईश्वरोऽस्ति, नाऽन्यः । अतो धर्ममोक्षौ पुरुषार्थौ न स्तः । तेषां मतानुसारेण पुरुषार्थौ द्वावेवार्थकामाविति दिक् ।

बौद्धमतम्—

> **तत्र बौद्धमते तावद् देवता सुगतः किल ।**
> **चतुर्णामार्यसत्यानां दुःखादीनां प्ररूपकः ॥ ष० द० स० ४**
>
> **दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः ।**
> **विज्ञानं वेदाना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ॥ ष० द० स० ५**

गौतमबुद्धा जीवानां दुःखं दृष्ट्वा द्रवितहृदया गृहपरिवारराज्यादीन् तत्यजुः । अनेकवर्षाध्ययनतपोभिः बोधिज्ञानं प्रापुः । यथा संसारे जीवानां दुःखमस्ति, दुःखस्य कारणमस्ति, दुःखनिवारणमपि भवति, दुःखनिवारणोपायोऽप्यस्ति—इति चत्वारि आर्यसत्यानि उपदिष्टवन्तः । वस्तुतः सर्वे दर्शनकारा इममुपदेशमेव प्रकारान्तरेण कथयन्ति । बौद्धमते संसारे दुःखमेव भवतीति सिद्धान्तः । भवतु सुखरूपमपि तथापि परिणामतो दुःखमेवेति हृदयम् । द्वितीयं तु दुःखस्य कारणम् । अस्य लोकस्य यानि वस्तूनि सन्ति, तानि सर्वाणि केभ्यश्चित् कारणेभ्यः उदपद्यन्त, भौतिकं वा अध्यात्मिकं वा । अतः संसारे किमपि नित्यवस्तु नास्ति, परिणामि चास्ति । अस्माकं जीवनस्य (जन्ममरणस्य) च कारणं तावत् पूर्वजन्मनोऽस्माकं वासना विद्यते । वासनायाः कारणं तृष्णा, तृष्णायाः कारणमज्ञानमस्ति । यदि वस्तुनो यथार्थज्ञानं भवेत् तदा तस्य तृष्णा न भवेत् । अतोऽज्ञानं भवस्य कारणमिति ।

कारणनाशे सति पश्चात् कार्यं न प्रादुर्भवतीति दुःखस्यान्तमिति तृतीयं सत्यम् । चतुर्थसत्यं तु दुःखस्यान्तोपायः । तदष्टमार्गमित्युच्यते । अष्टसाधनानि च निरूपितानि । तद्यथा—

(१) सम्यग् दृष्टिः (२) सम्यक् सङ्कल्पः
(३) सम्यग् वाक् (४) सम्यक् कर्मान्तः
(५) सम्यगाजीवः (६) सम्यग् व्यायामः
(७) सम्यक् स्मृतिः (८) सम्यक् समाधिरिति ।

यदविद्यामपसारयति तत् साधनमित्युच्यते। अविद्याया विनाशो निर्वाणमित्युच्यते। बौद्धदर्शने निर्वाणमेव परमलक्ष्यमस्ति। अन्यदार्शनिकैः समानं ते इन्द्रियातीतात्मन उपदेशं न चक्रुः। एषामयमभिप्राय आसीत् यत् इन्द्रियातीतवस्तुचिन्तनं तावत् व्यर्थसमययापनम्, न तत्र किञ्चित् प्रयोजनं भवति।

बौद्धदर्शनस्य केषाञ्चनोपदेशानामत्रोद्ध्रियते अंशः। यथा—सर्वेषां वस्तूनामुत्पत्तौ कारणं भवति। किमपि वस्तु स्वयं सिद्धं नास्ति। सर्वाणि वस्तूनि परिणामीनि भवन्ति। यथा कारणवस्तु परिणामि, तथा कार्य-वस्तु अपि परिणामि। परिणामधर्म एव वस्तुनः स्वलक्षणम्। सर्वेऽनित्याः पदार्थाः वर्तमानजीवनस्य कर्माणि भविष्यज्जन्मनः फलरूपाणि भवन्ति। अनया रीत्या जन्ममृत्युरूपप्रवाहः प्रचलत्येव।

बौद्धदर्शनेऽन्तर्निहिताश्चत्वारो विषया—यथा 'प्रतीत्यसमुत्पादः, कर्म, क्षणिकवादः, अनात्मवादश्चेति।

प्रतीत्यसमुत्पादः

आन्तरिका वा बाह्या वा या या घटना भवन्ति, तासां किञ्चन कारणमवश्यमेवास्ति। कारणं विना घटना अथवा कार्यं नोत्पद्यते। तासां परिचालनं न केनचिद् नित्यवस्तुना न वा आत्मना भवति। स्वयमेव घटना घटन्ते। यथा रूपं प्रति मनश्चक्षुर्विषयाणाम् आलोकस्यापि च संयोगो जायते तदा तस्य ज्ञानं भवति, तद्वदेव सर्वत्र कार्यकारणभाव इति। अनेन वस्तुनो नित्यत्वं वा विनाशित्वं वा अर्थात् शाश्वतवादोच्छेदवादौ न स्तः। प्रतीत्य = कारणं प्राप्य समुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादः इत्युच्यते। कस्माच्चित् वस्तुनः सकाशात् अन्यस्य कस्यचन वस्तुन उत्पत्तिरेव प्रतीत्य-समुत्पादः। अनेनैव कर्म क्षणिकवादानात्मवादौ च सिध्यतः। बौद्धदर्शनस्य प्रतीत्यसमुत्पाद एव मध्यमप्रतिपत् इति वा, धर्म इति वा कथ्यते। विस्त-रस्तु अग्रे करिष्यते।

कर्म—

अस्य जन्मनः कर्म भविष्यज्जन्मनः कारणं भवति, वर्तमानशरीरस्य कारणं पूर्वजन्मकृतकर्माणीति कर्मसिद्धान्तः।

क्षणिकवादः—

समस्तवस्तूनां सत्ता क्षणिकैवेति मन्यन्ते। तदुक्तं सर्वदर्शनसंग्रहे—

यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः, सन्तश्च भावा अमी,
सत्ता शक्तिरिहार्थकर्मणि मितेः सिद्धेषु सिद्धा न सा।
नाप्येकैवं विधाऽन्यथा परकृतेनापि क्रियादिर्भवेद्-
द्वेधाऽपि क्षणभङ्गसङ्गतिरतः साध्ये च विश्राम्यति॥[1]

सत्पदार्थस्तु अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वमिति।

अनात्मवादः—

समस्तसंसारः परिवर्तनशीलः। न तत्र किञ्चन वस्तु कश्चन पदार्थो वा अपरिणामीति। अन्यदार्शनिकैः प्रतिपादितं यत् आत्मा नाम एकः पदार्थोऽस्ति। यस्य जननमरणं परिणामो वा न भवति। आत्मातिरिक्तान्यपदार्थानामेव जननादीनि भवन्ति। परन्तु बौद्धदर्शने इन्द्रियाग्राह्यस्य कस्यचन नित्यवस्तुनः सत्ता नास्ति। अत आत्मनोऽपि सत्ता नास्तीति तेषां सिद्धान्तः। ननु नित्यात्मनोऽस्तित्वाभावे बन्धमोक्षौ न स्यातामिति चेत् न, यथा दीपशिखा क्षणे क्षणे परिवर्तते नदीप्रवाहोऽपि च, तथैव सर्वाणि च कार्याणि कार्यान्तरमुत्पाद्य स्वयमेव विनश्यन्ति, तद्वदेव सर्वत्र विजानीयात्। तस्मात् नित्यात्मनोऽस्तित्वाभावेऽपि जननं मरणं बन्धो मोक्षश्च संभवतीति दिक्।[2]

बौद्धदर्शनस्य सम्प्रदायः—

बुद्धभगवतः परवर्तिकाले तेषां शिष्येषु विभिन्नसम्प्रदायाः समुदपद्यन्त। तद्यथा माध्यमिकानां शून्यवादः, योगाचाराणां विज्ञानवादः, सौत्रान्तिकानां बाह्यानुमेयवादः, वैभाषिकाणां बाह्यप्रत्यक्षवादश्च प्रसिद्धः। तेष्वपि हीनयानमहायानौ उभौ सम्प्रदायौ उत्पद्येते। सौत्रान्तिकवैभाषिका हीनयानसाम्प्रदायिकाः। माध्यमिकयोगाचारा महायानसाम्प्रदायिकाः हीनयानाः स्वावलम्बने आग्रहकर्तारः, महायानाः परोपकारिण इति तेषां मुख्यभेदः।

---

१. स० द० सं०।
२. स० द० सं०।

शून्यवादः—

माध्यमिकाः शून्यवादिनः तेषां मते इन्द्रियप्रत्यक्षं जगत् न सत्यमिति। पारमार्थिकतत्त्वस्य वर्णनमसम्भवम्। अतस्तत् शून्यमित्युच्यते। पारमार्थिकसत्ता न सद्रूपेण, नासद्रूपेण, न सदसद्रूपेण, नानुभयरूपेण च कथनीया। तस्मात् शून्यपदेन तत् व्यवह्रियते। तदुक्तम् लङ्कावतारे—

बुद्धया विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः॥
इदं वस्तुबलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।
यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा॥[1] इति।

अन्यदार्शनिकास्तु शून्यवादिनं प्रति सर्ववैनाशिका इति अकथयन्, यतो हि सर्वं शून्यमिति तैः प्रतिपादितम्। ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयञ्च परस्पराश्रयमेकस्याभावे सति सर्वेषां शून्यत्वमायातीति। शून्यत्वमपि तावत् न वस्तुस्वरूपं किन्तु अनिर्वचनीयम्। तस्मात् शून्यमिति सिद्धान्तः। नागार्जुनेनोक्तम्—या शून्यता सैव प्रतीत्यसमुत्पाद इति। सर्वेषां वस्तूनामयं धर्मः परावलम्बनं, परिवर्तनशीलत्वञ्चेति। सत्यं द्विविधमुक्तम्। यथा—

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥[2]

संवृतिसत्यस्य पारमार्थिकसत्यस्य च रहस्यं यो जानाति स बुद्धोपदेशं जानातीति। तत्त्वज्ञानेन निर्वाणं लभ्यते। तत्त्वं तु शून्यत्वमेव। अतो निर्वाणविषये भगवान् बुद्धस्तु मौनोत्तरमेव ददाति स्म इति।

विज्ञानवादः—

योगाचाराणां मते बाह्यवस्तुनः सत्ता निराकृता, किन्तु तेऽन्तः सत्त्वं मन्यन्ते। दृश्यं यद् बहिर्वस्तु तत् प्रतीतिमात्रमेवेति। ननु अन्तःस्थचित्तस्यापि प्रतीतिरेव भवतु इति चेन्न, यदि अन्तःस्थस्यापि सत्ता न स्यात्, तदा वदतो व्याघातो दोषः स्यादिति ते चित्तस्य सत्तां स्वीकुर्वन्ति। चित्तं तावत्

१. मा० कारि० २४।८।
२. स० द० सं० पृ०।

कल्पनानां विचाराणां च समूहो विज्ञानपदेन व्यवह्रियते। विज्ञानस्य सत्तास्वीकरणेन विज्ञानवाद इति प्रसिद्धिर्जाता।

विज्ञानवादे चित्तस्यैवैकसत्ता, तया सत्तया बहिरपि वस्तूनि दृश्यन्ते स्वप्नवदिति। स्वप्नेऽन्तःस्थं (मानसिकं) बहिरिवावलोकयामः। तत्र ज्ञानज्ञेययोर्भेदं न जानीमः इति तात्पर्यम्। तद्यथा दृष्टिविकारिपुरुषस्य द्वौ चन्द्रमसौ प्रतीयेते, काचकामलादिना श्वेतेऽपि पीतत्वं दृश्यते, तथैवाविद्यया अन्तःस्थवस्तुनो बहिः दर्शनं भवतीति। ननु बाह्यवस्त्वभावे विज्ञानस्य सत्ताऽपि न स्यादिति चेत्, न, समस्तवस्तूनां क्षणिकत्वात् बाह्यसत्ताऽभावे न कापि हानिः। न च क्षणावस्थायिवस्तुनोऽन्यक्षणे प्रतीतिर्न स्यादिति वाच्यम्, ज्ञानातिरिक्तज्ञेयसत्ताऽभावेऽपि प्रतीतौ न कश्चिदपि बाधः।

विज्ञानं द्विविधम्, आलयविज्ञानं प्रवृत्तिविज्ञानञ्चेति। तत्र आलयविज्ञानं नाम अहमहमित्याकारकम् अहमास्पदविज्ञानम्, नीलपीताद्युल्लेखि विज्ञानं प्रवृत्तिविज्ञानम्। तथा चोक्तम् सर्वदर्शनसंग्रहे—

तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम्।
तत्स्यात् प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत्॥

विज्ञानानां समूह आलयविज्ञानमित्यपि मन्यन्ते। तस्मिन्नेव सर्वं ज्ञानं वासनारूपेण तिष्ठति। तच्च अन्यदार्शनिकानामात्मस्थानीयं विद्यते। यथा जीवः, जन्तुः, आत्मेति यदौपचारिकदृष्ट्या कथ्यते।

तद्विज्ञानं स्कन्धायतनरूपवेदनासंज्ञासंस्काररूपमिति। तत् रूपादिपञ्चस्कन्धानां पृथिव्यादि षड्धातूनाञ्चाऽऽयातनरूपमिति विज्ञानवादिभिर्मन्यते। तत्र रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारेति पञ्च स्कन्धाः। तत्र रूप्यन्ते एभिर्विषया इति, रूप्यन्त इति च व्युत्पत्त्या सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः। आलयविज्ञानप्रवृत्तिविज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः। पूर्वोक्तस्कन्धस्य सम्बन्धजन्यः सुखदुःखादि-प्रत्ययप्रवाहो वेदनास्कन्धः। गौरित्यादिशब्दोल्लेखी विज्ञानप्रवाहः संज्ञास्कन्धः। वेदनास्कन्धनिबन्धना रागद्वेषादयः क्लेशा उपक्लेशाश्च मदमानादयो धर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्ध इति।

षड्धातवश्च पृथ्वीधातुः अब्धातुस्तेजोधातुः, वायुधातुः, आकाशधातुर्मनोधातुश्चेति षड्विधाः सन्ति। तत्रान्येषां दार्शनिकानामात्मन आलयविज्ञानस्यायं भेदो यदात्मा नित्यः, अपरिणामी, निष्क्रिय इति।

विज्ञानमनित्यं, क्षणिकं परिणामि चास्तीति। यदा योगेन विज्ञानप्रवाहो निरुध्यते तदा विषयज्ञानं न भवति। सा अवस्था निर्वाणमिति कथ्यते। इदं सर्वं जगद् विज्ञानप्रवाहेऽवभासते। अतस्तन्निरोधो मोक्षः।

बाह्यानुमेयवादः—

सौत्रान्तिका बाह्यान्तरयोः उभयोः वस्तुसत्तामङ्गीकुर्वन्ति। यदि बाह्यवस्तु मिथ्या स्यात् तस्य दर्शनं न भवेत्। यदा अन्तःस्थवस्तुन एवं बहिः प्रतीतिर्भवति तदा यद् यद् विचारितं वस्तु तत्तत् प्रयत्नाभावेऽपि प्रापणीयमेव स्यात्। किन्तु लोके तन्न दृश्यते। यत्ने कृतेऽपि यदा कदा ज्ञातमपि वस्तु नैवोपलभ्यते। अतो वस्तुनि बाह्यसत्ता स्वीकार्या इति।

एषां दर्शनानुसारेण बाह्यवस्तुज्ञानमनुमानेन प्रमाणेन भवति। अतो बाह्यानुमेयवाद इत्युच्यते। वस्तुज्ञानार्थं चत्वारि कारणानि सन्ति। तद्यथा आलम्बन-समनन्तराधिपति-सहकारिप्रत्यया इति। घटादिविषया ज्ञानस्यालम्बनं भवति, ज्ञानस्य पूर्ववर्तिवस्तुविषयज्ञानयोरव्यवधानात् समनन्तर-प्रत्यय इत्युच्यते। इन्द्रियेणैव ज्ञानं भवति। अत इन्द्रियाणि अधिपतिप्रत्यया इत्युच्यन्ते। वस्तुज्ञानायालोकादयः सहकारिप्रत्ययाः सन्ति। एवमस्य दर्शनस्य रचना पिटकसूत्रेषु कृता तस्मात् सौत्रान्तिकं दर्शनमिदमिति प्रसिद्धिर्जाता।

बाह्यप्रत्यक्षवादः—

वैभाषिका अपि चित्तस्य बाह्यवस्तुनश्च सत्तां स्वीकुर्वन्ति। सौत्रान्तिकमतेन सह साम्यं वैषम्यमुभयमपि वैभाषिकमतेऽस्ति। किन्तु उभावपि हीनयानसम्प्रदायनाम्ना प्रसिद्धौ स्तः। यथा सौत्रान्तिका बाह्यवस्तुसत्तामनुमानेन साधयन्ति, वैभाषिकास्तु प्रत्यक्षप्रमाणेनैवेति तेषां भेदः।

अक्षोपलब्धौ सत्यामेव तत्र प्रमाणं दीयते—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इति अनुमानमपि प्रत्यक्षप्रमाणमिति मन्यन्ते। पूर्वानुभवाभावे धूमदर्शनेन वह्निं साधयितुं न शक्नुमः, अतः प्रत्यक्षप्राप्तानुभवेन पश्चात् अनुमानं कुर्मः। अतः सत्ताज्ञानं प्रति प्रत्यक्षप्रमाणमेव कारणमिति। एवं मानसिकसत्तापि एका स्वतन्त्रसत्ता मन्यते। मनो न बाह्यवस्तु अवलम्बते। अतो बाह्यवस्तुज्ञानं प्रति प्रत्यक्षमेव प्रमाणमिति सिद्धान्तः।

वैभाषिकमतं तु अभिधर्मग्रन्थविशेषस्य महाविभाषानाम्नीमथवा विभाषानाम्नीं टीकामवलम्ब्य निर्मितम्। अतोऽस्य नाम वैभाषिकपदेन ख्यातिं प्राप्नोदिति दिक्।

जैनदर्शनम्—

जैनमतप्रवर्तकास्तीर्थङ्कराः सन्ति। तीर्थङ्करान् जिना इति च कथयन्ति। जिना जेतारः कामादीनाम्, निर्वाणमपि लब्धवन्तश्चेति। अतो जैनास्तीर्थ-ङ्करानेवोपासते। तीर्थङ्कराः मुक्ताः, सिद्धाः, सर्वज्ञाः, सर्वशक्तिसमन्विता-श्चेति। तथाचोक्तम्, षड्दर्शनसमुच्चये—

जिनेन्द्रो देवता तत्र रागद्वेषविवर्जितः।
हतमोहमहामल्लः केवलज्ञानदर्शनः॥ ४५॥

सुरासुरेन्द्रसम्पूज्यः सद्भूतार्थोपदेशकः।
कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा सम्प्राप्तः परमं पदम्॥ ४६॥

अतस्तेषां वाक्यानि वैदिकाः वेदवाक्यानीव प्रमाणानीति जैना मन्यन्ते। जैनमते श्वेताम्बरदिगम्बरनाम्ना उभौ सम्प्रदायौ स्तः।

दार्शनिकदृष्ट्या ते वस्तुवादिनः बहुसत्तावादिनश्च सन्ति। ते समस्तानि वस्तूनि सत्यानीति मन्यन्ते। तस्मिन् दर्शने त्रीणि प्रमाणानि स्वीकृतानि प्रत्यक्षानुमानशब्दा इति। द्रव्यं (पुद्गलः) आकाशकालधर्माधर्मादयः पदार्थाः। धर्मस्तु गतिशीलः, अधर्मस्तु स्थितिशीलः। चैतन्यमपि एकः पदार्थोऽस्ति येन समस्तजीवाश्चेतना सन्ति। जैनमतं तावत् चेतनवादिमतम् जीवेषु एकेन्द्रियात् पञ्चज्ञानेन्द्रियपर्यन्ता जीवाः सन्तीति। कण-कणेषु जीवा निहिताश्चेति। अतस्तेऽहिंसावादिनः। प्रत्येकं जीवेषु अनन्तदर्शन-मनन्तज्ञानमनन्तशक्तिश्च पूर्णरूपेण विद्यन्ते।

मुक्तये सम्यगदर्शनं सम्यगज्ञानं सम्यक्चरित्रञ्च आवश्यकं भवेत्। इमानि त्रीणि रत्नानीति कथयन्ति। जैनानां त्रिरत्नमेव स्वकीयदर्शनस्या-चारः, यानि सर्वेऽङ्गीकुर्युर्मुक्तिकामाः।

कर्मणा जीवो बध्यते, कर्मणामपसारणेन पुद्गला विनश्यन्ति। यदा पुद्गलाः निर्गच्छन्ति तदा मोक्षः।

जैनमतेऽनेकधर्माश्रयो वस्तु भवति। अतोऽनेकान्तवादः स्याद्वादो वेति तद्दर्शनमिति उच्यते। तद्यथा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्तिचावक्तव्यश्चेति सर्वत्र सप्तभङ्गीनयं स्वीकुर्वन्ति।

जैनदर्शने सर्वान् जीवान् प्रति दयालुत्वं वैशिष्टयमस्ति। एवं सर्वज्ञ-तीर्थङ्करातिरिक्तः कोऽपि ईश्वरो नास्ति। तदुक्तं सर्वदर्शनसंग्रहे—

सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः॥ इति॥

——

द्वितीयोऽध्यायः

आस्तिकदर्शनानां वैदिकत्वविमर्शः

आस्तिकनास्तिकदर्शनयोः परिभाषा व्याकरणानुसारेण—अस्ति परलोक इति मतिर्येषां ते आस्तिकाः, नास्ति परलोक इति मतिर्येषां ते नास्तिकाः। तथा च पाणिनेः सूत्रम् 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः[1]' इति। तेषां च दर्शनमास्तिकदर्शनमिति। परन्तु अनया परिभाषया भारतीयदर्शने चार्वाकान् परित्यज्य जैना बौद्धाश्चास्तिकाः कथ्येरन्। दार्शनिकदृष्ट्या तु 'नास्तिको वेदनिन्दकः' इति वचनानुसारेण वैदिकेतरान् नास्तिका इति कथयन्ति। अनेन प्रकारेण भारतीयदर्शनेषु न्याय-वैशेषिक-सांख्ययोग-पूर्वमीमांसा-वेदान्त-दर्शनानि वैदिकानि सन्ति। अपराणि चार्वाक-जैन-माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक-वैभाषिकदर्शनानि अवैदिकानि नास्तिक-दर्शनानि वा लोके प्रसिद्धि गतानि।

अत्रास्तिकदर्शनानां वेदसम्मतत्वमिति विचारयामः।

न्यायदर्शनस्य वैदिकत्वविमर्शः—

न्यायदर्शने 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्'[2] इति सूत्रेण वेदमन्त्राणां प्रामाण्यमिति समुद्घोषितम्। यथाहि लौकिकानां सर्पविषाद्यपहरणमन्त्राणामायुर्वेदस्य च प्रामाण्यम् सर्वेषां प्रत्यक्षं तद्वदिति। तत्रत्यं भाष्यम्—य एवात्मानो वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेद-प्रभृतीनां वक्तारश्चेति आयुर्वेदप्रामाण्यवद् वेदप्रामाण्यमनुमातव्यम्'[3] अनेन वेदः प्रमाणमिति संसाधितम्। एवं 'श्रुतिप्रामाण्याच्च'[4] इति सूत्रमपि इदं शरीरं पार्थिवमिति। साधनाय 'पृथिवी ते शरीरम्' इति च वेदमन्त्रम्

---

१. अ० सू० सं० ४।४।६०।

२. न्या० सू० २।१।६९।

३. न्या० सू० भा० पृ० सं० १३५।

४. न्या० सू० ३।१।३१।

'सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतात्' 'पृथिवी ते शरीरं सृणोमि' इति च वेदमन्त्रान् प्रमाणयति[1]।

ईश्वरस्य सत्तासाधनप्रसङ्गे जीवानां कर्मफलदाता ईश्वर इति निरूपितम्। तदुक्तं सूत्रे 'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्[2]' इति। तत्र कोऽयमीश्वर इति जिज्ञासायां गुणविशिष्टमात्मान्तरम् 'ईश्वरः' इति। तस्यास्तित्वे किं प्रमाणमिति पुनः स्फुटीकुर्वन् वात्स्यायनमुनिः "आगमाच्च द्रष्टा, बोद्धा सर्वज्ञाता ईश्वर" इति भाष्ये वेदप्रमाणं ददाति।[3]

किञ्च—अपवर्गप्रसङ्गे 'ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धात् अपवर्गाभावः'[4] इति सूत्रभाष्ये ऋणानुबन्धे ऋणलक्षणे वेदमन्त्रानुदाहरति 'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः' इति। तथा—'जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चेति, जरया ह एष तस्मात् सत्राद्विमुच्यते, मृत्युना ह वा' इति श्रुत्या वैदिककर्मभिः ऋणानामनुबन्धः प्रदर्श्यते[5]।

एवं ऋचां ब्राह्मणानाञ्चापवर्गाभिधायित्वं निरूपयता भाष्यकारेणाभिधीयते। ऋचस्तावत्—

कर्मभिर्मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमीहमानाः।
अथापरे ऋषयो मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः॥
न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद् यतयो विशन्ति॥[6]
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥[7]

अथ ब्राह्मणानि—तावत् त्रयो धर्मस्कन्धाः—'यज्ञोऽध्ययनंदानमि'ति।

---

१. सूत्रभाष्यम् ३।१।३१।
२. न्या० सू० ४।१।१९।
३. न्या० सू० भा० ४।१।२१।
४. न्या० सू० ४।१।५९।
५. न्या० भा० पृ० सं० ३०५।
६. वाजसनेयि संहिता ३१–१८।
७. तैत्तिरीयारण्यक ३।१२।७।

प्रथमस्तप एवं द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासीति, तृतीयोत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्वे एवैते पुण्यलोका भवन्तीति। ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।[१]' इत्यादीनां श्रुतीनां प्रमाणत्वेनोपन्यासात् न्यायदर्शनं वैदिकमिति युक्तमेव मन्यामहे इति दिङ्मात्रमिह निर्दशितम्।

वैशेषिकदर्शनस्य वैदिकत्वविमर्शः—

अथ वैशेषिकदर्शनस्य वैदिकत्वं सप्रमाणं निरूप्यते। तत्र तावत् तापत्रयनिवारणाय आत्मतत्त्वसाक्षात्कारमेवोपायं न्यरूपयन्। तदर्थं षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानमेवात्मतत्वसाक्षात्कारप्राप्तयेऽपेक्षितम्। पदार्थतत्त्वज्ञानञ्च निवृत्तिलक्षणाद्धर्मादनायासेन सेत्स्यतीति प्रथमं 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' इति सूत्रं विरचितं महर्षिकणादेन। तत्राथशब्दो मङ्गलार्थः इति वैदिकी सरणिः। तदुक्तम्—

ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान् माङ्गलिकावुभौ॥ इति॥

एवं मङ्गलस्य प्रयोजननिरूपणावसरे 'श्रौतात् साङ्गात् कर्म्मणः फलावश्यम्भावनियमात्' साङ्गे मङ्गले समाप्तिरावश्यकीति स्पष्टीकृतमुपस्कारे[२]।

अपि च धर्मव्याख्यानावसरे 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'[३] इति सूत्रितम्। तत्र निःश्रेयसं प्रति निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तत्त्वज्ञानद्वारा हेतुर्भवतीति उपस्कारे उक्तम्। तत्र किं प्रमाणमिति चेत्? श्रुतिः प्रमाणम्।

ननु श्रुतेः कथं प्रामाण्यमिति चेत्, न 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'[४] इति सूत्रे तत्शब्देनेश्वरं परामृशति। वेदानामीश्वरेण प्रणयनात् प्रामाण्यम्। सर्वज्ञः, सर्वशक्तिमान् क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः इति प्रणीतवेदवाक्यानां प्रामाण्यमिति अभिप्रेति उपस्कारकारः।

---

१. छा० उप० २-२३-१।
२. वै० सू० उ० वृ० १।१।१।
३. पृ० ९।
४. वै० सू० १।१।२।
५. वै० सू० १।१।३।

किञ्च सामान्यतोदृष्टानुमानेन वायोः संज्ञाविशेषसिद्धिर्न जायते, अतो वायोरितिस्वरूपे किं प्रमाणमिति जिज्ञासायां सूत्रं 'तस्मादागमिकम्' इति। अत्र आगमो वेदस्तत एव सिद्धं वायुसंज्ञास्वरूपमिति[1] वेदानुगामित्वं वैशेषिकदर्शनस्य स्पष्टम्।

अपि च सामान्यतोदृष्टादनुमानात् इच्छादिगुणानां क्वचिदाश्रितत्वमात्रं सिध्यति। किन्तु स अपहतपाप्मा आत्मा इति विशेषसिद्धिरात्ममननौपयिकी न जायते। अतः तादृशात्मस्वरूपसिद्ध्यर्थं स्वयमेव सूत्रकारेणोच्यते—'तस्मादागमिकः'[2] इति। तथा च आगमः—'योऽपहतपाप्मा' स आत्मा इति। तस्मात् आगमसिद्ध एवात्मा नानुमेयः, दृष्टसामान्यतोदृष्टयोर्लिङ्गयोरभावात्। अतः सम्यगुपनिषदां श्रवणात् तत्त्वसाक्षात्कार उत्पद्यते, न तु केवलसामान्याऽऽत्मनो मननप्रणालिकया इति[3] वेदात् आत्मविशेषस्वरूपज्ञानं मन्यते। एवमेवात्मा नाना इति द्वैतवादस्थापनाय प्रमाणं कथयति सूत्रकारः—'शास्त्रसामर्थ्यात्' इति। शास्त्रं श्रुतिः। श्रूयते हि—'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' इत्यादि। तथा 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते' इति च[4]।

अपि चायोनिजानां सत्तायां किं प्रमाणमिति प्रश्ने तदुक्तं सूत्रे 'वेदलिङ्गाच्च' वेदो मन्त्रः स च लिङ्ग्यते ज्ञाप्यतेऽनेनेति वेदलिङ्गं ब्राह्मणम्—'प्रजापतिः, प्रजा अनेका असृजत् स तपोऽतप्यत प्रजाः सृजेयमिति स मुखतो ब्राह्मणमसृजत् बाहुभ्यां राजन्यमुरुभ्यां वैश्यम् पद्भ्यां शूद्रम् इति, वेदोऽपि—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः। उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत, इति साक्षात् श्रुतिप्रमाणं दीयते[5]।

अपरमपि—'अपां संघातो विलयनञ्च तेजः संयोगात्'[6] इत्यत्र प्रमाणान्तरं दीयते 'वैदिकञ्च' इति सूत्रे अपां मध्ये तेजोऽनुप्रवेश आगमसिद्ध एवेत्यर्थः। तथाहि मन्त्रः—'आपस्ता अग्नि गर्भमादधीरन्,

---

१. वै० सू० उ० वृ० २।१।१७।

२. वै० सू० ३।२।८।

३. उपस्कारे पृ० २४७।

४. वै० सू० वृ० २।२।२१।

५. वै० सू० वृ० ४।२।११।

६. वै० सू० ५।२।८।

या अग्निगर्भं दधिरे सुवर्णम्' इत्यादिवैशेषिकदर्शनस्य वैदिकत्वे स्पष्टम् प्रमाणम्[1] द्रष्टव्यम् ।

किञ्च—"स्वर्गकामो यजेत" न कलञ्जं भक्षयेत्" इत्यादिविधिनिषेधवाक्ययोः प्रामाण्यं "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" इति सूत्रेण स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकत्वात् साधितम् इति । वेदत्वञ्च शब्द तदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणजन्यप्रमित्यविषयार्थकत्वे सति शब्दजन्यवाक्यार्थज्ञानाजन्यप्रमाणशब्दत्वमिति[2] । एवं "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसिद्धिः स धर्मः" इति सूत्रं व्याचिख्यासुः बहूनि वैदिकप्रमाणानि उदाहरति वृत्तिकारः ।

एतानि हि वैदिकोद्धरणानि वैशेषिकदर्शनस्य वैदिकत्वे स्फुटं प्रमाणानीति स्वीकुर्मः ।

सांख्यदर्शनस्य वैदिकत्वविमर्शः

साङ्ख्यदर्शने प्रथमसूत्रं तावत् "अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः इति अत्राथशब्दो मङ्गलरूपः शिष्टाचारात्, इति वैदिकप्रणालीमनुसरति एवं "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" इत्यस्मिन् सूत्रे पुरुषस्यासङ्गत्वे श्रुतिप्रमाणं ददाति भाष्यकारः—यथा बृहदारण्यके "स यदत्र किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवति, असङ्गोऽह्ययं पुरुषः"[3] इति । अपि च वस्तुतः पुरुषस्य प्रकृतिसंयोगाभावे न कोऽपि बन्धः, अतः संयोग एव बन्धकारणमिति श्रुतिसम्मवप्रमाणं सूत्रमुखेन दीयते "न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते" इति । भाष्येऽपि "अयमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विभुरित्यादि (नृसिंहता० उप[4]) श्रुतिः प्रदर्शिता । एवञ्चात्मनः क्षणिकत्वनिरसनावसरे सूत्रं "श्रुतिन्यायविरोधाच्च" इति लिखितम् । अत्र "सदेवसोम्येदमग्र आसीत्"[5] इत्यादि वेदवाक्यबलेन क्षणिकत्वपक्षः प्रत्याख्यायते ।

---

१. वै० सू० ५।२।१० ।

२. वै० सू० ६।१।१ ।

३. सा० प्र० भा० १।१ ।

४. सां० सू० भा० २।९।९ ।

५. छां० ६।२।३ ।

एवम्, आत्मनो गत्यादिकं तु औपाधिकं भवतीति ज्ञानार्थं "गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत्" इति सूत्रं ब्रह्मबिन्दूपनिषदमनुसृत्य कृतम्। यथा—

घटसंवृत आकाशे नीयमाने घटे यथा।
घटो नीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपमः ॥[1] इति।

"बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः"[2] इति च श्रुतिराधारभूता।

पुनश्च प्रकृतिपुरुषसंयोगातिरिक्तो वास्तविको बन्धः पुरुषस्य भवत्विति शङ्कामुत्थाप्य 'निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति'[3] इति सूत्रेण सा परिहृता। श्रुतिश्च 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'[4] इति प्रमाणभूता। प्रधानस्य व्यापकत्वापरिच्छिन्नत्वप्रदर्शनार्थं 'परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम्'[5] इति 'तदुत्पत्तिश्रुतेश्च'[6] इति च सूत्रद्वयं कृतम्। एवं शब्दप्रमाणकथनसमये 'आप्तोपदेशः शब्दः' इति सूत्रे आप्तिरत्र योग्यता, वेदस्यापौरुषेयताया वक्ष्यमाणत्वादिति प्रतिपादितम्। तथा च योग्यः शब्दस्तज्जन्यं ज्ञानं शब्दाख्यप्रमाणमित्यर्थः।[7] अग्रे आत्मा 'साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्चेति' 'श्रुत्या सिद्धस्य नापलापस्तत् प्रत्यक्षबाधात्' इति सूत्रमुखेन कथयति विवृणोति च तद् भाष्यकारः।

एवमस्य दर्शनस्य वैदिकत्वे सूत्रोक्तमपरं प्रमाणम् यथा—'जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्' इति। जन्मादिव्यवस्थायाश्च श्रुतिं प्रदर्शयति प्रवचनभाष्यकारः। 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजा सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥[8]

---

१. ब्र० बि० १३।
२. श्वेता० ५।८।
३. सू० १।५४।
४. श्वेता० ६।११।
५. सू० १।७६।
६. सू० १।७७।
७. सां० सू० भा० १।१०१।
८. सां० सू० भा० १।१४७।

इति 'ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति अथेतरे[1] दुःखमेवापियन्ति'[2] इति चेति।

एवम् आत्मैकत्वपरिहाराय सूत्रं तावत् 'नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्' इति। तथा च यत्र कुत्रापि आत्मन एकत्वं प्रतिपादितं तस्य विजातीयद्वैतनिषेधपरत्वादित्यभिप्रायः। एवमेवान्यान्यपि सूत्राणि श्रुतिमवलम्ब्यैव विरचितानि साङ्ख्ये। तथा 'आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि'[3] 'देवतालयश्रुतिर्नारम्भकस्य'[4] 'तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च'[5] 'नियतकारणत्वान्न समुच्चयंविकल्पौ'[6] ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा'[7] 'तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद्विवेकसिद्धिः'[8] 'श्रुतिश्च'[9] 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'[10] 'मङ्गलाचरणशिष्टाचारात् फलदर्शनात् श्रुतितश्चेति'[11] 'प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः'[12] 'श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य'[13] 'विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम्'[14] 'श्रुतिलिङ्गादिभिस्तत्सिद्धिः'[15] 'न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्'[16] 'निर्गुणत्वमात्मनोऽसङ्गत्वादिश्रुतेः'[17] 'श्रुति-

---

१. सू० १।१४९ (श्वेता० ४।५)
२. बृ० ४।४।१४, श्वेता ३।१०।
३. २।२० सां० सू०।
४. २।२१ ,,
५. २।२२ ,,
६. ३।२५ ,,
७. ३।५७ ,,
८. ३।७५ ,,
९. ३।८० ,,
१०. ४।३ ,,
११. ५।२ सां० सू०
१२. ५।८ ,,
१३. ५।१२ ,,
१४. ५।१८ ,,
१५. ५।२१ ,,
१६. ५।४३ ,,
१७. ६।१० ,,

विरोधान्न कुतर्कापसदस्यात्मलाभः'[1] 'न श्रुतिविरोधो रागिणां, वैराग्याय तत् सिद्धेः'[2] इत्यादीनि सूत्राणि साक्षात् श्रुतिमनुस्मृत्य कृतानि महर्षिणा। तत्रानेकान्यन्यान्यपि सन्ति प्रमाणभूतानि सूत्राणि। किन्त्वत्र एतद्दर्शनस्य वैदिकत्वविमर्शनाय कानिचिदेव सूत्राणि प्रदर्शितानि इति स्फुटं सांख्य-दर्शनस्य वैदिकत्वमिति।

योगदर्शनस्य वैदिकत्वविमर्शः—

योगदर्शने तावत् सांख्यदर्शनेन सह अत्यधिकं साम्यं दृश्यते। ये ये पदार्थाः सांख्ये निरूपितास्ते सर्वे योगेऽपि सन्त्येव। साधनविषये प्रकृति-पुरुषयोः सम्यग्विवेकेन मोक्ष इति सांख्याः, अष्टाङ्गयोगमार्गेणेति योगिनः। पञ्चविंशति तत्त्वानि यानि साङ्ख्यप्रतिपादितानि तानि योगदर्शनेऽपि स्वीकृतानि विशेषत ईश्वरसत्तां प्रति योगदर्शने उल्लेखनमस्ति। योगस्य मनोवैज्ञानिकसूक्ष्मातिसूक्ष्मविश्लेषणञ्च योगदर्शने निरूपितम्। तत्तु भारतीयदर्शनस्य गौरवस्य विषयः। अतः सर्वे भारतीयदार्शनिका यत्किञ्चिदपि भागं स्वेषु दर्शनेषु योगदर्शनात् योजयन्त्येव। यथा सांख्याः द्वैतवादिनस्तथैव योगिनोऽपि द्वैतवादिनः सन्ति।

योगदर्शनस्य वैदिकत्वविषये च सूत्रं 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्'[3] इति वेदोक्तस्वर्गादिषु विषयेषु वितृष्णानां हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यमिति प्रतिपादितम्। वैदिककर्मणां फलमवश्यमिति स्वीकृतमेव। एवं समाधिप्राप्त्यर्थम्—ईश्वरप्रणिधानाद्वा'[4] इति सूत्रेण भगवद्भक्तिविशेषरूपं ईश्वरप्रणिधानं विहितम्। तदाऽऽवर्जित ईश्वरः समाधिं भावयति इति भाष्ये उक्तम्। ईश्वरज्ञानं च वेदादेव भवति। अतो वेदोक्तेश्वरस्वीकारे वेदः स्वयमेव स्वीकृतो भवतीति। जीवेश्वरयोर्भेद-प्रदर्शनाय सूत्रं 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' इति। ईश्वरविषये उपनिषत्सु प्रतिपादितं ब्रह्मतत्त्वं ज्ञापयितुं सूत्रमुक्तम् 'तस्य वाचकः प्रणवः' इति[5]। प्रणव एव ओंकार इति कथ्यते। तदुक्तं काठके

---

१. ६।३४ ,,

२. ६।५१ ,,

३. पा० यो० १।१४।

४. १।२४।

५. १।२७।

'तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीति ओमित्येतत्'[१] मुण्डके 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते'[२] इति श्रुत्यनुसारेण प्रणवजपो ब्रह्मप्राप्तौ महत्साधनमस्तीति। माण्डूक्ये—औमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव' इति तस्याक्षरत्वाविनाशिरूपत्व-मुक्तम्।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः[३] ॥

इति प्रणवस्वरूपं ब्रह्मेति स्पष्टमेव सर्वत्र प्रदर्शितम्।

तथा चेदं दर्शनं वैदिकमित्यत्र न कोऽपि सन्देहः, पर्याप्तश्रौतनिर्देशस्य लब्धत्वात्। अन्येष्वपि केषुचित् सूत्रेषु स्पष्टमेव श्रुत्यर्थनिर्देशा दृश्यन्ते।

पूर्वोत्तरमीमांसादर्शनयोः वैदिकत्वविमर्शः—

काण्डत्रयात्मका हि वेदाः कर्मकाण्डात्मकाः, उपासनाकाण्डात्मकाः ज्ञानकाण्डात्मकाश्चेति। तत्र सर्वथैव कर्मकाण्डीयश्रुतिविचारपरस्य पूर्वमीमांसादर्शनस्य वैदिकत्वं निर्विवादमिति नास्य दर्शनस्य वैदिकत्व-साधनाय प्रमाणोपन्यासापेक्षा सूर्यप्रत्यक्षत्वाय दीपप्रज्वालनापेक्षेवेति नात्र विषये किमपि वक्तव्यमपेक्षामर्हतीति।

यद्यप्यत्र कर्मकाण्डसम्बन्धिन्यः श्रुतय एव विशेषेण विचार्यन्ते, तथापि 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इति सूत्रयता महामुनि-जैमिनिना सर्वस्याप्याम्नायस्य साक्षात् परम्परया वा क्रियार्थत्वं प्रतिपाद-यता ज्ञानोपासनाकाण्डीयोऽपि वेदः सामान्यतो विचारित एवेति मन्ये। अतः सर्वथैव श्रुतिविचारपरस्य पूर्वमीमांसादर्शनस्य वैदिकदर्शनत्वे कः सन्दिग्धामिति।

एवमेवोत्तरमीमांसादर्शनमपि ज्ञानकाण्डीयाः श्रुतीर्विचारयत् तत्र ज्ञानस्य प्राधान्यमङ्गीकृत्य कर्मकाण्डीयश्रुतिप्रतिपादितानां कर्मणां चित्त-शुद्ध्यर्थत्वेन परम्परया ज्ञानोपयोगित्वं समर्थयदस्ति। तस्मान्नास्यापि दर्शनस्य वैदिकत्वमणीयसोऽपि सन्देहस्य विषय इति नात्र विषये प्रतन्यते।

---

१. कठो० १।२।१५।

२. मुण्ड० २।२।४।

३. भग० गी० १७।२३।

अवैदिकदर्शनेष्वात्मतत्त्वम्

चार्वाकदर्शने आत्मतत्त्वम्—

नास्तिकदर्शनेषु चार्वाकदर्शनं प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं मन्यते। चार्वाका अनुमानादीनि प्रमाणानि निराकुर्वन्ति, व्याप्त्यादिषु दोषं मन्यन्ते दर्शयन्ति च। कार्यकरणसङ्घातभावभावित्वाच्च ते संघातधर्मत्वमनुमीयते चार्वाकाः चैतन्यस्य ज्योतिषः। सामान्यतोदृष्टस्य चानुमानस्य व्यभिचारित्वाद-प्रामाण्यम्। सामान्यतो दृष्टबलेन हि आत्मवादी आदित्यादिवद् व्यति-रिक्तं ज्योतिःसाधयति कार्यकरणेभ्यः। न च प्रत्यक्षमनुमानेन बाधितुं शक्यते। अयमेव कार्यकरणसङ्घातः पश्यति, शृणोति, मनुते, विजानाति। च। यदि नाम ज्योतिरन्तरमस्योपकारकं स्यादादित्यादिवत्, न तदात्मा स्याज्ज्योतिरन्तरमादित्यादिवदेव। य एव तु प्रत्यक्षं दर्शनक्रियां करोति स एवात्मा स्यात् कार्यकरणसङ्घतो, नान्यः। प्रत्यक्षविरोधेऽनुमानस्या-प्रामाण्यात्'[1]।

किञ्च—प्रत्यक्षमेव साक्षाज्ज्ञानं करोति। अन्यानि प्रमाणानि अदृष्ट-प्रमाणानि सन्ति। अदृष्टप्रमाणवादिभिर्नैयायिकादिभिश्च तान्यदृष्टान्येव कथ्यन्ते न तु दृष्टानीति[2]।

ननु अस्ति अनुमानादेरपि प्रामाण्यं धूमोपलम्भानन्तरं धूमध्वजे प्रेक्षा-वतां व्याप्तिरुपपद्यते इति चेन्न, व्याप्तिपक्षधर्मताशालि हि लिङ्गं गमक-मभ्युपगतमनुमानप्रामाण्यवादिभिः भूतंभविष्यतोस्तदसंभवात्, सर्वोपसंहार-वत्या व्याप्तेर्दुर्ज्ञानत्वात्।

नापि शब्दः प्रमाणम्। कणादमतानुसारेणानुमानेऽन्तर्भावादिति चार्वाकमते तु अनुमानस्यापि अप्रमाणत्वात्। अतस्तेऽध्यक्षातिरिक्तप्रमाणं न मन्यन्ते[3]।

चार्वाकाः पुरुषार्थद्वयवादिनः। तावर्थकामौ। तत्रार्थे पुरुषार्थे कृषि-गोरक्षावाणिज्यदण्डनीत्यादिभिः स्वभागान् वर्धयेत्। अस्मिन् शरीरे

---

१. बृ० आ० उप० शां० भाष्यम् ४।३।६।

२. प्रत्यक्षगम्यमेवास्ति नास्त्यदृष्टमदृष्टतः।
   अदृष्टवादिभिश्चापि नादृष्टं दृष्टमुच्यते॥

३. सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ३।

सुसम्पन्नः स्यात् । अतस्तदुपायः कर्तव्यः[1] ।

कामस्तु ग्राम्यधर्मोपलब्धं सुखम् । तदेव परमपुरुषार्थ इत्युच्यते । तत्र दुःखं भवतीति कृत्वा तन्न त्याज्यम् । यथा कण्टकभयेन मत्स्यभक्षणं न त्यजति मत्स्यार्थी[2] तद्वत् ।

अस्मिन् दर्शने चतुर्णां भूतानां समूह एव प्रपञ्चः । आकाशो नास्ति, आकाशस्य प्रत्यक्षत्वाभावात् । अप्रत्यक्षवस्तुनः सत्ता निराकृता तन्मते । अतश्चत्वारि एव भूतानि सन्ति[3] । तेषां भूतानां सम्मेलनेन चैतन्यं स्वयमुत्पद्यते । अतश्चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मा इति तेषां राद्धान्तः ।

तत्र युक्तयः प्रदर्श्यन्ते । यथा—

किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः ॥
देहस्थौल्यादियोगाच्च स एवाऽऽत्मा न चापरः ।
मम देहोऽयमित्युक्तिः सम्भवेदौपचारिकी ॥ इति ॥

किञ्च जडभूतविकारेषु यच्चैतन्यं दृश्यते, तत्ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद्राग इवाऽऽविर्भूतं भवति । तदुक्तम्—

सर्वदर्शनसंग्रहे जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते ।
ताम्बूलपूगपूर्णानां योगाद्राग इवोत्थितम् ॥ इति ॥

चार्वाकेष्वपि पूर्वापरयोर्मतभेदो दृश्यते । यथा अन्नमयशरीरमेवात्मेति केचन मन्यन्ते । अन्य इन्द्रियाणीति, अपरे प्राण इति, केचन मन इति वदन्ति[4] । प्रत्यक्षातिरिक्तप्रमाणमनङ्गीकुर्वाणाश्चार्वाकाः सर्वज्ञं, सर्वशक्तिमन्तं, सृष्टिस्थितिसंहारकारकं कञ्चनेश्वरं न मन्यन्ते । प्रत्यक्षो राजा एव देवो भवितुमर्हतीति तेषामभिप्रायः ।

---

१. कृषिगोरक्षवाणीज्यदण्डनीत्यादिभिर्बुधः ।
   दृष्टैरेव सदोपायैर्भोगाननुभवेद् भुवि ॥ १५ ॥

२. अङ्गनालिङ्गनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थः (सर्वदर्शन सं० पृ० २) ।

३. अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनिलानलाः ।
   चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥ (सर्व० दर्श० सं० पृ० पृ० ३) ।

४. सर्वदर्शनसंग्रहः पृ० ३ ।

५. स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः तैत्तिरि: । ब्रह्म० वल्ली १ मं०

ननु कस्यचनेश्वरस्याभावे सृष्ट्यादिकं सर्वं कार्यं कथं भवेदिति चेन्न, तत्सर्वं स्वभावादेव भवेदिति। यथा अग्नेरुष्णत्वं, जलस्य शैत्यं, वायोः समस्पर्शादिकं प्रकृत्या भवतीति[1]। तदुक्तं सर्वदर्शनसंग्रहे—

शिखिनश्चित्रयेत् को वा कोकिलान् कः प्रकूजयेत्।
स्वभावव्यतिरेकेण विद्यते नात्र संशयः॥

धर्माधर्मादिकं तु तेषां दर्शने नास्ति। तत् सर्वं प्रतारकैः प्रपञ्चीकृतं स्वार्थसिद्ध्यर्थम्[2]। तदुक्तम्—सर्वदर्शनसंग्रहे—

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः॥

मरणञ्च प्राणवायुनिर्गमनम्। मरणे सति सर्वे जीवात्मानो मुच्यन्ते। अतस्तत्र मुक्तये केषाञ्चन साधनानामावश्यकता नास्ति।

इत्थञ्च दर्शनक्षेत्रे जडवादो वा वस्तुवादो वा निकृष्टतमो वादोऽस्ति। यतो हि ते पुरुषार्थचतुष्टयमध्ये द्वावेव पुरुषार्थौ स्वीकृतवन्तः। इदं दर्शनं देहपोषणाय कामादिपशुसमव्यवहारायोपदिष्टं हीनतममिति मन्तव्यम्।

बौद्धदर्शने नैरात्म्यवादः

भगवतो बुद्धस्य दर्शनेऽनात्मवादः प्रसिद्धः। भारतीयदर्शनेषु आत्मनः स्वरूपविषये न्यूनाऽधिका वा विप्रतिपत्तिरस्ति। किन्तु सर्वे दार्शनिका आत्मानमधिकृत्य स्वस्वदर्शनानि रचयामासुः। सौगतदर्शनेऽयं विशेषो दृश्यते यदनात्मवादेनैव ते स्वीयदर्शनं विरचयामासुः।

तत्रात्मनोऽभावे को जीवः ? कस्मिन् प्रपञ्चस्तिष्ठति ? केन निर्मितः ? कस्य बन्धमोक्षौ स्तः ? इत्यादयः संशया उपतिष्ठन्ते। तान् सर्वान् संशयान् बुद्धाः परिजह्रुः।

अनात्मवादो वा पुद्गलनैरात्म्यं वा सत्कायदृष्टिर्वा इमे सर्वे शब्दाः पर्यायवाचिनः[3]। तस्मिन् दर्शने सत्कायदृष्टिरेवात्माग्रहः आत्माभिनिवेशो वा कथ्यते। प्रपञ्चस्तु स्वरूपेण शून्योऽस्ति। तत्र केषाञ्चन वस्तुधर्माणां समूहो विद्यते। तद्धर्माणां स्वतन्त्रसत्ता नास्ति।

---

१. स० द० सं० पृ० ५।

२. न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः॥ सर्वदर्शनसंग्रहः पृ० ४।

३. बौद्धदर्शनमीमांसा पृ० ७०।

अनात्मशब्दे पर्युदासः प्रतिषेधः स्वीकृतः पर्युदासःसदृशग्राही। न प्रसज्यप्रतिषेधः। तस्मात् आत्मसत्ताया निषेधेऽन्यधर्माणां सत्ता स्वीकृता[१] पर्युदासः सदृशग्राहीति नियमात्। सर्ववस्तूनां सत्ता 'धर्म'पदेन व्यवह्रियते। धर्मस्तु सूक्ष्मतमवस्तूनामस्तित्वम्[२]। इदं जगत् परमाणुभी रचितम्। एषु परमाणुषु अवयवावयविविभागो नास्ति। किन्तु परमाणूनां समूह एव घटः, तथैव सर्वं प्रपञ्चजातं ग्राह्यम्। एषां परमाणूनां कतिपय-धर्माणां सत्ता स्वीकृता।

तत्र परस्परसम्बद्धानेकधर्माणां समूहः पुद्गलशब्दवाच्यः। आत्मनो व्यावहारिकतया न निषेधः कृतः। किन्तु पारमार्थिकतया तस्य आत्मनः सत्ता नास्तीति।

व्यवहारे तु 'रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानानि'[३] पञ्चस्कन्धाः सन्ति। पारमार्थिकस्य कस्यचनात्मनः सत्ता नास्ति तेषां समूह एव व्यावहारिकात्म-शब्देन कथ्यते,[४] यदन्यदार्शनिकैः स्वतन्त्रतयात्मेति उच्यते[५]। तत्र पञ्च स्कन्धानां समूहे 'सन्तान' शब्दः प्रयुज्यते।[६] तत्र मानसिकं तथा भौतिक-माभ्यन्तरं बाह्यञ्चेन्द्रियाणि इन्द्रियग्राह्यविषयाश्च इत्येतेभ्यो मिलितेभ्य 'सन्तान' उत्पद्यते। तेषां मेलनं तु प्राप्तिनामकात् संस्काराद् भवति।

नामरूपात्मको जीवः। तत्र मानसिकवृत्तिः, नामशब्देन कथ्यते। भौतिकशरीराणि रूपशब्देन उच्यते। तयोर्मनश्शरीरयोरेव व्यक्तेः स्थिति-रायत्ता। तत्र नाम्नश्चत्वारो भागास्सन्ति। यथा—विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारश्चेति।

रूपं तावदिन्द्रियादयः,[७] रूप्यन्ते एभिर्विषया इति व्युत्पत्तेः। तत्र रूप्यन्ते इति रूपाणि शरीरादीनि। तत्राहमित्याकारकं ज्ञानमिन्द्रियेभ्यः समुत्पन्नं रूपरसादीनां ज्ञानञ्च विज्ञानस्कन्ध इत्युच्यते। सुखदुःखादीना-

---

१. बौद्ध द० मी० पृ० ७०।
२. बौद्ध द० मी० पृ० ७१।
३. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १६।
४. बौद्धदर्शनमीमांसा पृ० ७१।
५. तदेव।
६. स० द० सं०।
७. तदेव।

मनुभवा मनःसंस्पर्शजा इन्द्रियसंस्पर्शजाश्च वेदनास्कन्धः। संज्ञास्कन्धस्तु नामरूपात्मकः।

मानसिकवृत्तयो धर्माधर्मादयः रागद्वेषादयः प्राक्तनकर्मभ्यः समुत्पन्नाः संस्कार इत्युच्यते।

रूपाणि च ह्रस्वदीर्घादयः स्त्रीपुरुषादीनि शरीराणीति कथ्यन्ते। अत्र बौद्धान् प्रति अयमाक्षेपो भवितुमर्हति—यदि किञ्चन नित्यवस्तु आत्मा न मन्येत तर्हि मरणादूर्ध्वं कस्य पुनर्जन्म भवतीति प्रश्न उत्तिष्ठति। तस्य समाधाने तैर्दीपशिखा दृष्टान्तः प्रदर्श्यते[1]। यथा दीपोऽहोरात्रं प्रज्वलति। तत्र वयमेक एव दीपो ज्वलतीति जानीमः। तत्र सूक्ष्मतया दर्शने एवं नास्ति, दीपस्तु शिखानां समूहः। स च प्रतिक्षणं विनश्यति उत्पद्यते च। एवमेवेमे जीवा नित्यवस्तुत्वाभावेऽपि गच्छन्ति आगच्छन्ति गमनागमने प्राप्नुवन्तीति तेषां पुनर्जन्मवाद उपपद्यते।

किञ्च—दुग्धे-दधि दधिनि नवनीतं, नवनीते सर्पिः समुत्पद्यते। तत् पूर्ववस्तुनो विकार एवोत्तरोत्तरं वस्तु सम्पाद्यते। किन्तु यत्सर्पिः तन्न दधि दुग्धं वेति। अयमेव न्यायः सर्वत्रानुषज्यते। पुनर्जन्मनः कारणं तु वासना तत्सहकारोणि कर्माणीति कार्यकारणभावस्तैः स्वीकृतः[2]। भगवान् बुद्धस्तु अनीश्वरवादी। यो वेदेषु प्रतिपाद्यमानः सर्वज्ञः सृष्टिस्थितिसंहारकारकः स ईश्वरो न भवितुमर्हति इति स मन्यते। यतोहि वेदनिर्मातार ऋषयः कामादिदोषप्रदूषिता आसन्। तस्मान्नास्ति ईश्वर इति। वेदेषु प्रतिपादित ईश्वर एको देव एव भवितुमर्हति, यथा अन्ये देवाः, न तु तेभ्यो वरिष्ठः, तस्य वरोयस्त्वे नास्ति किञ्चन प्रमाणम्[3]।

प्रतीत्यसमुत्पादः—

बुद्धेनानात्मवादनिरूपणावसरे प्रतीत्यसमुत्पादः प्रतिपादितः येन नित्यचेतनवस्तु विनैव समेषां वस्तूनां सत्ता तिष्ठति। यथा—प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धः, बोजादङ्कुरोऽङ्कुरात् काण्डः, काण्डान्नालो नालाद्गर्भस्ततः पुष्पं ततः फलम्, न चात्र बाह्ये समुदाये कारणं बीजादि कार्यमङ्कु-

---

१. मिलिन्दप्रश्न पृ० ४९।

२. बौद्ध-दर्शनमीमांसा पृ० ७६।

३. बौ० द० मी० पृ० ७८।

रादि वा चेतयते 'अहमङ्कुरं निर्वर्तयामि, अहं बीजेन निर्वर्तितः इति'। एकस्य वस्तुनो नाशे सति तस्य सत्ताऽभावो भवेदिति चेदुच्यते—प्रतीत्यसमुत्पादः आभ्यान्तरबाह्या या या घटना भवन्ति, ताः सर्वाः केभ्यश्चित् कारणेभ्यः सम्भवन्ति। कारणं विना कार्यं नोत्पद्यते। यथा रूपज्ञानं प्रति चक्षुर्मनआलोकादीनि कारणानि, तेषां सन्निकर्षेण रूपज्ञानं भवति। तथैव सर्वत्र ग्राह्यम्। कारणं विना नास्ति कस्यचित् कार्यस्य प्रादुर्भावः। कार्यं प्रति कारणमवश्यमेव भवेत्; परन्तु कारणे सति कार्यस्य प्रादुर्भावो भवेदेवेति नियमो नास्ति। अतः हेतुप्रत्ययाभ्यां कार्याणि समुत्पद्यन्ते। कारणनाशे सत्यपि ततः कार्यमुत्पद्यते। अनेन वस्तुनः शाश्वतवादः, उच्छेदवादश्च निरस्तौ। अयमेव मध्यममार्गो बुद्धेनोपदिष्टः। वस्तुतस्तु क्षणे क्षणे वस्तूनि अवस्थान्तरं गच्छन्ति। अतो वस्तुनोऽस्तित्वे[1] न कश्चित् संशयः। परन्तु तन्न शाश्वतम्[2]।

इमं वादं यो जानाति स वास्तविकदार्शनिको भवितुमर्हतीति। अनेन संसारस्यानित्यता सिध्यति। यन्नित्यमिति ज्ञायते तदपि कालक्रमेण विनश्यतीति। अस्मिन् दर्शने सत्त्वस्य लक्षणं 'अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वमिति' उक्तम्[3]। न वस्तुसत्ता ततोऽतिरिक्ता न वा शशशृंगवत् वस्तुनः असत्ता। अनेन वादेन कर्मवादोऽपि स्थाप्यते।

अस्य जन्मनः कारणं पूर्वजन्मनः कर्माणि सन्ति। भविष्यज्जन्मनो अस्तित्वमस्य जन्मनः कर्मसु तिष्ठति[4]।

पूर्वोक्तानि आर्यसत्यानि चत्वारि दुःखम्, समुदयः, निरोधः, निरोधोपायश्चेति।

जीवने जन्मजरारोगमृत्युशोकक्लेशाकाङ्क्षादयः सर्वे दुःखरूपाः; यत्किञ्चित् सुखमपि तदपि दुःखमिश्रितत्वात् दुःखमेव, परन्तु सुखमिव भाति। तस्य कारणमासक्तिः तृष्णा वा उच्यते। सा तृष्णा यथा कामतृष्णा, भवतृष्णा, विभवतृष्णा चेति तिस्रः। तस्य परिहाराय द्वादश निदानानि सन्ति। समस्तदुःखानां कारणं जन्मग्रहणं जातिर्वेति। तस्य

---

१. स० द० सं० पृ० १७।

२. भार० द० दत्त, चटर्जी पृ० ८७।

३. तदेव, पृ० ८८।

४. तदेव, पृ० ७७-८६।

कारणं भव इति, भवस्य कारणमुपादानम्, उपादानस्य कारणं तृष्णा तृष्णायाः कारणं वेदना, वेदनायाः कारणं स्पर्शः, स्पर्शस्य कारणं षडायतनम्, षडायतनस्य कारणं नामरूपे, नामरूपयोः कारणं विज्ञानम्, विज्ञानस्य कारणं संस्कारः संस्कारस्य कारणमविद्या इति।

इदमेव भवचक्रम्, तत्र पूर्वापरकारणं प्रदर्श्यते। अविद्यासंस्कारौ अतीतजीवनम्; विज्ञाननामरूपषडायतनस्पर्शवेदनातृष्णोपादानानि वर्तमान-जीवनम्। भवजातिजरामरणानि भविष्यज्जन्मनः कारणम्। तृतीयं सत्यं दुःखस्य निरोधो निर्वाणं चेति।

आत्मनो निर्वाणप्राप्तिस्तु दुःखस्यामूलोत्पाटनेन भवति। तद्रागादिषु विजयं प्राप्यास्मिन् जन्मनि निर्वाणपदं प्राप्तुं शक्यते। निष्कलङ्काचरणेन शीलेन चास्मिञ्जन्मनि समाधिना प्रज्ञा जायते, तदा मारस्य विजयो भवति। रागद्वेषप्रभृतिभिः विमुक्तः समाधिं लभते। ततो मलरहिता बुद्धि-रुत्पद्यते। तस्यां बुद्धौ दुःखं न जायते। ततः पुनर्जन्म न भवति। तन्निर्वाण-सुखमवर्णनीयमस्ति। बौद्धदर्शने इदमेव जीवनस्य परमलक्ष्यम्।

चतुर्थसत्यम्—दुःखनिरोधोपायः, दुःखनिरोधस्तु अष्टाङ्गिकमार्गेणो-पलभ्यते। अविद्यया संसारे बन्धो जायते। तत्र जगन्नित्यमिति या बुद्धिः सा मिथ्यादृष्टिः। वस्तूनां यथार्थरूपसिद्धये सम्यग् दृष्टिरपेक्ष्यते। येन वास्तविकरूपं ज्ञायेत। सा दृष्टिः सम्यक् सङ्कल्पेन भवति। तदर्थं रागद्वेष-हिंसादीनां परित्यागः कर्तव्यः, निन्दापरुषवचनानि त्याज्यानीति सम्यग्वाक् कथ्यते।

सम्यक् कर्मान्तः—कर्माणिचाहिंसाऽस्तेयेन्द्रियसंयमादीनि कर्तव्या-नीति।

सम्यगाजीवनम्—दुष्कर्माणि दुर्वचनानि दुःसङ्कल्पानि परियत्यज्य विमलजीवनं यापयेत्।

सम्यग् व्यायामः—दुष्प्रवृत्तीर्विहाय सम्यग् विचारान् वर्धयेदिति।

सम्यक् स्मृतिः—सद्विचाराणां स्मरणम्, पुनरावृत्तिर्वा।

सम्यक् समाधिः—शीलसाधनेन चित्तवृत्तीनां शोधनं समाधिरित्यु-च्यते।

एषु अष्टांगेष्वाद्यद्वयं प्रज्ञाशब्देन, मध्यत्रयं शीलशब्देन, अन्त्यत्रयञ्च

समाधिशब्देन बौद्धसम्प्रदाये व्यवह्रियन्ते। ततः क्रमेण निर्वाणमवाप्नुयात्।

तत्र सम्यक्समाधेः प्रथमावस्थायां शान्तचित्तेनाऽऽर्यसत्यानि विचार्यन्ते। विरक्त्या शुद्धविचारेण च हेतुनाऽपूर्वानन्दशान्त्योरनुभवो जायते साधकस्य। द्वितीयावस्थायां सर्वविधसंशयानां निवृत्तिर्जायते। आर्यसत्यानि प्रति श्रद्धाभावो वर्धते। अस्यामवस्थायां शान्तेश्चित्तस्थिरतायाश्चोदयो भवति। अस्यामवस्थायामानन्दस्य शान्तेश्च सहैवानुभूतिर्भवति। तृतीयावस्थायामानन्दात् शान्तेश्च मनःपृथक्कृत्योपेक्षाभावमानेतुं प्रयतते। अनेन च प्रयत्नेन भिक्षोः साम्यावस्थायास्तथा सहैव दैहिकसुखस्यापि सत्ता तिष्ठति। समाधेरानन्दं प्रति औदासीन्यं च जायते। चतुर्थ्यामवस्थायां तु न चित्तस्य साम्यावस्थाया दैहिकसुखस्यापि किमपि भानं वा तिष्ठति, चित्तवृत्तीनां निरोधश्च जायते। इयमवस्था पूर्णशान्तेः पूर्णवैराग्यस्य पूर्णनिरोधस्य चावस्थाऽस्ति। एवं प्रकारेण सुखदुःखयोः सर्वथा निरोधो जायते तथा अर्हत्त्वस्य निर्वाणस्य वा प्राप्तिर्भवति। इयं हि सम्यक् समाधेः पूर्णप्रज्ञावस्था इत्युच्यते।'[1]

सौगतदर्शनानुसारेण सदाचारं ध्यानं च विना पूर्णप्रज्ञा न प्रकाशते। अतस्तत्र सदाचारः, सच्छीलं, ध्यानानि प्रमुखाङ्गानि सन्ति। तद्विना निर्वाणं न प्राप्तुं शक्यते।

बुद्धोपदेशं श्रृण्वन्तः शिष्याः स्वमत्यनुसारेण तद्विचारयामासुः। अतस्तस्मिन् दर्शने चतस्रः शाखाः उदपद्यन्त।

भगवतो बुद्धस्यानात्मवादस्येदमपि कारणमस्ति, यद् ये जना आत्मानं न किञ्चिदपि विज्ञाय तस्य कल्याणायानेकानि दुष्कर्माणि च कुर्वन्ति यथा यागादिषु पशुवल्यादिः। तान् जनान् हेयकार्येभ्यो निवर्तयितुं नैरात्म्यवाददर्शनं रचयामासुः। हिंसककार्येभ्यो निवर्तयितुमयमुपायः। ते परमाहिंसावादिन आसन्।

ननु भगवन्तो बुद्धास्तु अनीश्वरवादिनः, अनात्मवादिनः, प्रतीत्यसमुत्पादवादिनश्चाऽऽसन्। अतस्ते भौतिकवादिनश्च भवेयुरिति चेन्न भौतिकवादस्य तैर्निराकृतत्वात्। यदि ते भौतिकवादिनः स्युस्तर्हि तान् प्रति ब्रह्मचर्यसमाधयो व्यर्थाः स्युः। यदि आत्मवादिनः स्युः तदा नित्यमुक्तात्मनः स्वरूपत्वे

---

१. भार० द० च० द० पृ० १०२, १०३।

सति ब्रह्मचर्यादीनि साधनानि अनावश्यकानि भवेयुरिति। अनात्मवादे उभयोरावश्यकत्वात् ते न भौतिकवादिन इति निस्संशयम्।

शून्यवादे आत्मतत्त्वम्

माध्यमिकशून्यवादिमते परमतत्त्वं तु शून्यमस्ति। तत्तत्त्वं शून्यमभावरूपमित्याहुः। यतोहि मनोवाणीन्द्रियैस्तस्य स्वरूपस्यानवगमात्, व्यवहारविषयेऽनुपलब्धत्वात् च तच्छून्यमेवास्तीति तेषां सिद्धान्तः। यत्र कुत्रापि निर्वचनं तु सविशेषवस्तुनो भवति निर्विशेषवस्तुनः शब्दादिभिश्चापि निर्वचनं कर्तुं न शक्यते।

तस्य लक्षणं तावत्—परोपदेश्यत्वाभावस्वरूपं स्वानुभवमात्रावगम्यत्वं वाग्विलासप्रपञ्चैस्तदप्रञ्चितत्वम् अनानार्थत्वं निर्विकल्पकत्वं शान्तत्वञ्चेति। तदुक्तं माध्यमिककारिकायाम्—

अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम्[1]॥

शून्यवादिमते प्रपञ्चस्तावत् कारणं प्रतीत्य समुत्पद्यते। ततः कारणं विनश्यति। अत उत्पत्तिविनाशरूपात्मकोऽयं संसारः। यथा शक्तिबीजमङ्कुरं समुत्पाद्य स्वयमेव नश्यतीति। तदुक्तम्—

प्रतीत्य यद्यद्भवति नहि तावत्तदेव तत्[2]।
न चान्यदपि तत्तस्मान्नोच्छिन्नं नाऽपि शाश्वतम्॥ इति॥

अतो न शाश्वतवादः नोच्छेदवादोऽयमेव मध्यममार्गो बुद्धेनोपदिष्ट इति तदुक्तं कारिकायाम्—

अनेकार्थमनानार्थमनुच्छेदमशाश्वतम्।
एतत्तल्लोकनाथानां बुद्धानां शासनामृतम्[3]॥ इति॥

आत्मानं शून्यमिति यो जानाति स निर्ममो निरहङ्कारश्च भवति। तदुक्तम्—

---

१. बौद्ध द० मी० पृ० ७८ अभौतिकवाद।

२. सर्वसिद्धान्त सं० १७।१२

३. मा० शा० का० १८।९

४. मा० शा० का० १८।१०

५. मा० शा० का० १८।३

निर्ममो निरहङ्कारो यश्च सोऽपि न विद्यते।
निर्ममं निरहङ्कारं यः पश्यति न पश्यति[1]॥
शून्यमाध्यात्मिकं पश्य पश्य शून्यं बहिर्गतम्।
न विद्यते सोऽपि कश्चिद् यो भावयति शून्यताम् इति॥ च[2]।

वस्तुतस्तु यो निर्ममो निरहङ्कारो योगी सोऽपि न विद्यते। इति सर्वथा शून्यत्वसिद्धिः। अहङ्कारादयस्तु सत्कायं दृष्ट्वा जायन्ते। अतः सत्कायदृष्टिं जह्यात्। कामदृष्टि-शील-वृत्तात्मवादरूपोपादानचतुष्टयं प्रहीयते। उपादानक्षयात् जन्मनः पुनर्भवलक्षणस्य क्षयो भवति। तथा चोक्तम्—ममेत्यहमिति क्षीणे बहिर्धाध्यात्ममेव च। निरुध्यत उपादानं तत् क्षयाज्जन्मनः क्षयः। उपादाननाशे जन्मबन्धनाशः, बन्धस्य कारणं कर्म। कर्मणः क्लेश उत्पद्यते। कर्मनाशे मोक्षः। कामादिकं सर्वं संकल्पमूलमेवास्ति। अतः संकल्पनाशे कामादिप्रहाणे सति निर्वाणं प्राप्नोति।

बुद्धस्तु नाऽऽत्मानमुपदिष्टवान् न चानात्मानमपि, अतस्तत्त्वं शून्यम्। यद्यदभिधातव्यं तत्तदुत्पन्नमस्तीति, निर्वाणं तद्विपरीतम्। निर्वाणे सति प्रपञ्चस्याभावो दृश्यते। अर्थात् विकल्पादयो हीयन्ते। नानार्थस्तत्र नास्ति हेतुप्रत्ययाद्विलक्षणमस्ति च। तन्निर्वाणं केनापि प्रमाणेन अवगन्तुं नैव शक्यते। अतस्तदर्थं प्रमाणनिरूपणमनावश्यकम्।[3]

तथा चोक्तम्—

आत्मेत्यपि प्रज्ञपितमनात्मेत्यपि देशितम्।
बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्॥ इति॥

किञ्च, समुत्पादो नाम हेतुप्रत्ययानपेक्ष्याङ्कुरविज्ञानादीनां प्रादुर्भावः, स स्वभावेनानुत्पादः। यश्च स्वभावेनानुत्पादः सा एव भावानां शून्यता। माध्यमिकाः प्रतीत्यसमुत्पादं हि शून्यतां कथयन्ति। प्रतीत्यसमुत्पादेन चत्वार्यार्यसत्यानि युज्यन्ते। प्रतीत्यसमुत्पन्नं हि दुःखं भवति। तन्निःस्वभावत्वाच्छून्यम्। दुःखे सति दुःखसमुदयो दुःखनिरोधो दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत्तिर्युज्यते च। ततश्च दुःखपरिज्ञानं समुदयप्रहाणं निरोधसाक्षात्करणं मार्गभावना च युज्यते। उक्तञ्च—

---

१. मा० शा० का० १८।४

२. मा० शा० का० १८।६

३. मा० शा० का० २४।१४

सर्वं च युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते ।
सर्वं न युज्यते तस्य शून्यं यस्य न युज्यते ॥

विज्ञानवादिमते आत्मतत्त्वम्

विज्ञानवादिबौद्धा बाह्यसत्तां प्रति माध्यमिकमतमनुसरन्ति । आभ्यन्तरविषये तु ते तन्न मन्यन्ते । तेषामयमभिप्रायो यत् चित्तस्यापि सत्तां यदि न स्वीकुर्यात् तर्हि को विजानातीति प्रश्नस्योत्तरमेव न सम्पत्स्यते । तस्मात् विज्ञानमेव सत्तारूपेण स्वीकृतं तैः । बाह्ये या सत्तायाः प्रतीतिः साऽपि अन्तःस्थविज्ञानमेवेति मन्यते, तद्विज्ञानं बहिरिव भाति स्वप्नवत् ।

विज्ञानं द्विविधम्, आलयविज्ञानं, प्रवृत्तिविज्ञानञ्चेति । तयोर्विज्ञानयोरालयविज्ञानमेव सत्तारूपेण तिष्ठति । तद्यथा शून्यवादिमते शून्यमेवास्ति । विज्ञानं तावत् न कस्यचन वस्तुन आलम्बनं करोति, यथा वेदान्तिनां मते ब्रह्म । विज्ञाने रूपवेदनादिकं सर्वमाश्रीयते । तस्मात्तान् (विज्ञानवादिनः) निरालम्बवादिन इत्यपि कथयन्ति ।

ते शून्यवादिनं प्रति पृच्छन्ति[1]—यदि त्वं विज्ञानमपि न मन्यसे तर्हि अन्येषां मतमपि निराकर्तुं न शक्यते, यतो हि सर्वंशून्यत्वात् तव मते । तर्कशास्त्रादिकं सर्वंबुद्ध्या निरूपितम्[2] । तस्य सत्तास्वीकारं विना परमतखण्डनं स्वमतस्थापनञ्चासङ्गतमेव । तस्मात् शून्यवादिनाऽपि चित्तस्य सत्ता स्वीकार्या इति ।

लौकिककार्येऽपि चित्तस्यैव प्रवृत्तिरस्ति । निवृत्तिरपि तस्यैव भवति । तस्मात् चित्तं विना अन्यस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽस्तित्वं नास्ति । तेषां मते बाह्याभ्यन्तरयोश्चित्तस्यैव सत्ता विद्यते ।

चित्तस्य पर्यायवाचिशब्दाः—चित्तं मनो विज्ञप्तिरिति । सर्वाणि बाह्यवस्तूनि स्वप्नवदेव भासन्ते, अर्थं विना । मूलसत्तारूपेण आलयविज्ञानमस्ति । तदात्मानमष्टधा प्रविभज्य सर्वत्र तिष्ठति । तद्यथा—चक्षुर्विज्ञानं, श्रोत्रविज्ञानं, घ्राणविज्ञानं, जिह्वाविज्ञानं, कायविज्ञानं क्लिष्टमनोविज्ञानम्,

---

१. सर्वसिद्धान्तसंग्रहः—त्वयोक्तं सर्वं शून्यत्वे प्रमाणम्—२
२. 　,,　　स्वपक्षसाधनं तद्वत् परपक्षस्य दूषणम्

प्रवृत्तिविज्ञानञ्चेति। इमानि सर्वाणि यस्मिन् स्थित्वा स्वस्वकार्याणि कुर्वन्ति तदालयविज्ञानमिति मन्यते। अत आलयविज्ञानमेव सर्वेषामाश्रयः। योगाचारा बाह्यवस्तुनः सत्तां निराकुर्वन्त आहु—बाह्ये दृश्यमानानि सर्वाणि वस्तूनि विकल्पितानि सन्ति। बाह्यं सर्वंबुद्धया कल्पितं न तु तस्य वस्तुसत्ता। अतस्ते न वास्तविकपदार्थाः सन्ति।

अस्मिन् दर्शने यदा वस्तुधर्मो विलीयते तदा विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिर्जायते। तदा तथता भवति। अयमेव मोक्षः।

ननु यदि सर्ववस्तूनां विलोपे विज्ञप्तेः सिद्धिर्भवति, तदा विज्ञप्तेर्लोपे सति अन्यस्यैव सिद्धिर्जायते इति चेन्न, विज्ञप्तिसिद्धेः सर्वं सिध्यतीति न विज्ञप्तिलोपप्रसङ्गः।

उक्तञ्च—**धर्माणां परमार्थश्च स यतस्तथतापि सः।**
सर्वकालं तथाभावात् सैव विज्ञप्तिमात्रता॥ इति।
(का. २५)

विज्ञप्तिसिद्धौ योगिनः सर्वावरणानि विनश्यन्ति।

भारतीयदर्शनेषु 'धर्मः' इति शब्दस्य व्यापकार्थो दृश्यते। तस्मात् तद्विभिन्नस्थलेषु प्रयुज्यते। बौद्धदर्शनेऽपि तस्यार्थस्तु अन्यदर्शनात् भिन्न एव प्रतिभाति।

अस्मिन् दर्शने 'धर्मः' इति शब्दस्तु भूतपदार्थानामेवं चित्तस्यात्यन्तसूक्ष्मवस्तूनां संज्ञा अस्ति, यच्चित्तात् पृथक् कर्तुं न शक्यते। येषां परस्परसंघातेन, आघातप्रतिघातेन वा इदं जगत् प्रतीयते, त इमे परमाणवः क्षणिकसत्तात्मकाः। अतः प्रतिक्षणं तेऽवस्थान्तरं गच्छन्ति[१]। उक्तञ्च—

यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा अमी।
सत्ता शक्तिरिहार्थकर्मणि मितेः सिद्धेषु सिद्धा न सा॥ इति

बाह्याभ्यन्तरयोर्या सत्ता प्रतीयते सा सत्ता एषां परमाणूनां समूहः। इमं सिद्धान्तं वैभाषिकाः, सौत्रान्तिकाः, योगाचाराश्च स्वीकृतवन्तः[२]।

---

१. सर्वदर्श० सं० पृ० १०।

२. ये धर्म्मा हेतुप्रभवा हेतुस्तेषां तथागतो ह्यवदत्।
अवदच्च यो निरोधो ह्येवंवादी महाश्रमणः। सगाथके लंकावतारे पृ० १५६

सर्वे धर्माः विभिन्नसत्तात्मकाः शक्तिरूपाश्च। तेऽन्यैः सह अन्योन्याश्रयं समवायसम्बन्धं वा न कुर्वन्ति। यतो हि ते गुणाः सन्ति, न तु गुणिनः, एषां प्रतिघातेन सर्वदा नववस्तूनि जायन्ते। क्षणादूर्ध्वं ते विनश्यन्तीति च। एतादृशसन्तानमविद्यया प्रचलति। तत् प्रज्ञया निरुध्यते। प्रज्ञाया उदय एवार्हतपदमित्युच्यते। एषां धर्माणां चतस्रोऽवस्थास्सन्ति।

प्रथमा चञ्चलावस्था (दुःखम्), तस्याः कारणं (समुदयः), इयं द्वितीयावस्था, परमशान्तेर्दशा तृतीया, 'निरोधः' तस्या उपायो 'मार्गः', इयं चतुर्थी अवस्था। जगत्प्रपञ्चस्यान्तिममवसानं निरोधेऽस्ति। निरोधावस्था निर्विकारशान्तेर्दशाऽस्ति। तदानीं संघातनाशो जायते। इदमेव निर्वाणम्, निर्वाणे सति प्रपञ्चाभाव इति।

इदं मतं माध्यमिकान् विहाय सर्वे बौद्धा मन्यन्ते।

वैभाषिकमते आत्मतत्त्वम्

वस्तुतस्तु सर्वे बौद्धा अनात्मवादिनः। तत्र केचन व्यावहारिकात्मनः सत्तां न मन्यन्ते। विज्ञानमेवेति वदन्ति, अन्ये सर्वशून्यमिति। विज्ञानवादियोगाचारस्तु यदन्तर्विज्ञानं तदेवं बहिरपि प्रतीयते इति। किन्तु वैभाषिकाः सर्वास्तित्ववादिनः, ते विज्ञानस्य बाह्यसत्तामपि स्वीकुर्वन्ति।

तेषां मते दृश्यमानमिदं जगत् सत्यम्, प्रत्यक्षत्वात्। उभयोः स्थलयोः बाह्याभ्यन्तरयोः परमाणूनां स्वतन्त्रसत्ता विद्यते। तत्र प्रपञ्चस्तु परमाणूनां घनीभूतपुञ्ज एवास्तीति।

तत्र वस्तुविभागो द्विविधः। विषयगतः, विषयिगतश्चेति। विषयिगतवस्तूनि त्रिप्रकाराणि सन्ति। यथा रूपवेदनादयः पञ्चस्कन्धाः, इत्येकः प्रकारः षडिन्द्रियाणि षड्विषयाश्चेति द्वादशायतनानि इति द्वितीयप्रकारः, षडिन्द्रियाणि षड्विषयाः षड्विज्ञानानि (चाक्षुषादीनि) चेति अष्टादशधातवश्चेति तृतीयः प्रकारः, विषयिगतवस्तूनामिति।

विषयगतविभागे द्वौ प्रकारौ स्तः। सास्रवोऽनास्रवश्चेति। सास्रवस्तु संस्कृतम्, तच्च हेतुप्रत्ययाभ्यांसमुत्पन्नम्। अतएव सम्—संभूयान्योन्यमपेक्ष्य कृतम् जनितम् इति व्युत्पत्त्या संस्कृतमित्युच्यते। अतएव संस्कृतमस्थायी अनित्यरागादिमलयुक्तञ्च भवति। तद्विपरीतमसंस्कृतम् अनास्रवम्।

तच्च हेतुप्रत्ययाभ्यामनुत्पन्नम् । अतएव नित्यं स्थायिरागादिमलरहितञ्च भवति ।[१]

तत्रासंस्कृतस्य त्रयो भेदाः, आकाशः, प्रतिसंख्यानिरोधः, अप्रतिसंख्यानिरोधश्चेति । तत्राऽऽकाशस्तु नित्यः, अपरिवर्तनशीलः, सर्वव्यापकः सत्तात्मकश्चेति ।[२] अस्मिन् मते आकाशः शून्यात्मको नास्ति । अयमदृश्यः, अनास्रवः हेतुप्रत्ययाभ्यामनुत्पन्नश्चास्ति इति सर्वास्तित्ववादिनो वैभाषिका मन्यन्ते ।

यः सास्रवधर्माणां परस्परं वियोगः स प्रतिसंख्यानिरोधः । स च प्रतिसंख्यया प्रज्ञया उत्पद्यते । सत्कायदृष्टिः सर्वक्लेशानां जननीति भावनैव प्रज्ञाऽस्ति । अनया प्रज्ञया रागादिमलानां वियोगो जायते । किन्तु अनेन निरोधेन समस्तबन्धनानां निरोधो न जायते । भविष्यत्काले रागादिक्लेशमलानां सर्गो भवितुमर्हति ।

किन्तु अप्रतिसंख्यानिरोधेन प्रज्ञांविनैव स्वाभाविकरीत्या उत्पन्नेन रागादिक्लेशानां कथमपि उत्पत्तिर्नैव जायते । अतएव जीवो भवचक्राद्विमुच्यतेऽप्रतिसंख्यानिरोधेन ।[४]

तत्र संस्कृतधर्माणां चत्वारो भेदाः तद्यथा—रूप-चित्त-चैत्य-चित्तविप्रयुक्ता इति । तत्र रूपं भूतवस्तुषु नीलपीतादयः । चित्तं तु जीवशब्देन व्यवह्रियते । यच्चित्तेन संबध्यते, तच्चैत्यमित्युच्यते । चित्तविप्रयुक्तस्तु भूतचित्तपदार्थयोर्न सम्बध्यते । एतेषां संस्कृतासंस्कृतधर्माणां मेलनेन सर्वा सृष्टिर्जायते । तेषां वियोग एव निर्वाणमित्युच्यते । तद्द्विविधम्—सोपधिशेषं निरुपधिशेषञ्चेति । सोपधिशेषे सास्रवसंस्कृतकुशलादीनां ह्रासः । निरुपधिशेषे सास्रवासंस्कृताव्याकृतानां वियोगः । सोपधिशेषनिर्वाणे भिक्षुः शरीरं कदाचिद् धारयति । निरुपधिशेषं तु निर्वाणं शरीरपातादेव भवति । यथा अद्वैतवेदान्ते जीवन्मुक्तिर्विदेहमुक्तिश्चेति ।

सौत्रान्तिकमते आत्मतत्त्वम्—

सौत्रान्तिका अपि वैभाषिकवत् सर्वास्तित्ववादिनः सन्ति । एतेषां

---

१. बौद्धदर्शनमीमां० बल० उपा० पृ० १६४ ।

२. ,, ,, ,, ,, १७०

३. अभिधर्मको० १-६ पृ०

४. ,, ,, १-७ पृ०

मते बाह्यसत्ता न प्रत्यक्षा, सत्तायाः क्षणावस्थायित्वात्। किन्त्वनुमानेन तस्याः सत्तायाः ज्ञानं भवति। इन्द्रियैः यन्नीलपीतादिज्ञानं जायते तदपि प्रतिक्षणं विनश्यतीति। परन्तु ततः समुत्पन्नं संवेदनमेव परिशिष्यते। तस्मात् वस्तुनो बाह्यास्तित्वमनुमानेन ज्ञायते। तदुक्तमनुमानम्—

"चित्तगतः घटादिकप्रतिबिम्बो बिम्बपूर्वकः, प्रतिबिम्बत्वात्, दर्पणगतमुखप्रतिबिम्बवत्" इत्यनुमानेन बाह्यार्थसद्भावं साधयति।

वैभाषिकमते बाह्यवस्तुसत्ता चित्तनिरपेक्षा, सौत्रान्तिकमते तु चित्तसापेक्षा इति तयोर्भेदः।[२]

एवं वैभाषिका भूत-भविष्यद्वर्तमानानां त्रयाणामस्तित्वं स्वीकुर्वन्ति। सौत्रान्तिकास्तु वर्तमानस्यैव सत्तां स्वीकुर्वन्ति।

प्रपञ्चस्तु परमाणूनामवयवावयविसम्बन्ध इति ते न मन्यते। किन्तु तादात्म्यमिति, निरवयविपरमाणुषु अवयवावयविसम्बन्धो भवितुं नार्हतीति तेषां सिद्धान्तः।

परमाणुपुञ्ज एव प्रपञ्चः। एवं ते परमाणवो निरन्तरोत्पत्तिशीलाः विनाशशीलाश्चेति।

पुद्गलः, आत्मा वा आकाशश्च सत्ताहीनाः सन्ति। वैभाषिकैरुक्तयोः प्रतिसंख्यानिरोधाप्रतिसंख्यानिरोधयोर्निर्वाणभेदत्वं सौत्रान्तिकानां नेष्टम्। यतो हि प्रतिसंख्यानिरोधेन प्रज्ञानिबन्धनभाविक्लेशानुत्पत्तिरिति, अप्रतिसंख्यानिरोधेन क्लेशनिवृत्तिमूलकदुःखानुत्पत्तिरिति। उभयोः क्लेशानुदय एव दुःखाभावस्य कारणमिति बौद्धानामात्मसंबन्धिनः संक्षिप्ता विचाराः।[३]

जैनदर्शने आत्मतत्त्वम्—

जैनदर्शनकारा आत्मानं प्रत्यक्षसिद्धं मन्यन्ते। अहं सुखी, अहं दुःखीत्यादेरन्तर्मुखस्य प्रत्ययस्य आत्मावलम्बनतयैवोपपत्तेरित्याहुः।

अहं गौरः, अहं श्याम इति बहिःप्रत्ययश्च लक्षणया शरीरे प्रयुज्यते। किन्तु कदाचित् अहं प्रत्ययो भवति, कदाचिन्न भवति इति आत्मनः

१. सर्वे पदार्थाः क्षणिका बुद्ध्याकारविजृम्भिताः (सर्वसि० सं० ६)

२. भार० दर्शन बलदेव उपा० पृ० १७९-१९०

३. भार० दर्शन बलदेव उपा० पृ० १९०

सत्तापि कदाचिद्भवतु कदाचिन्न भवतु इति शङ्का मा कार्या। यथा बीजे सत्यपि तस्याङ्कुरोपजननं पृथिव्युदकादिसहकारिसाधनं विना न फलति। तथैवाहंप्रत्ययस्यापि कादाचित्कत्वमिति ज्ञातव्यम्। यदिन्द्रियैः प्राप्तं रूपादिज्ञानं तत् सकर्तृकं क्रियात्वात् छिदिक्रियावत् इति तासां क्रियाणां कर्ता आत्मेति। तत्रेन्द्रियाणां कर्तृत्वं न मन्यन्ते। यतो हि तानि सर्वाणि कार्याणि सन्तीति। अतस्तेषां प्रेरको वा व्यापारयिता वा कर्ता आत्मेति तेषां सिद्धान्तः।[1]

शरीरं जडम्, तथापि क्रियाश्रयो रथादिवत् इत्यनुमानेन यथा जडरथेऽपि सारथिना क्रिया दृष्टा, तथैवात्रापि मन आदीनां प्रेरक आत्मेति मन्तव्यम्। तस्यात्मनश्चेतनक्षेत्रज्ञजीवपुद्गलादीनि नामानि सन्ति।[2]

सुखदुःखादीनि द्रव्याश्रितानि गुणत्वाद्रूपवत्, योऽसौ गुणी स आत्मेति अनुमानम्।[3]

श्रुतीनां पूर्वापरविरुद्धत्वात् तत्प्रतिपादितात्मानं वेदितुं न शक्यते। किन्तु रागद्वेषविहीनानां सर्वज्ञानां तीर्थङ्कराणां वचनानि स्वीकर्तव्यानि। अतस्तेषामागमवचनमपि ग्राह्यम्। तदेवं प्रत्यक्षानुमानागमैः सिद्धः प्रमाता।[4]

आत्मा ज्ञानस्वरूप इति तेषां सिद्धान्तः।

यदि ज्ञानमात्मनः सकाशाद्भिन्नं स्यात् तर्हि चैत्रात्मना मैत्रज्ञानमिव स्वस्यापि स्वगतज्ञानं नानुभूयेत। तस्मात् ज्ञानमात्मना अभिन्नमित्येव मन्तव्यम्। ननु ज्ञानं सम्बन्धान्तरेण भवतु, नैयायिकानामिव समवाय-सम्बन्धेनेति चेन्न, समवायस्य नित्यत्वात्, व्यापकत्वात् ज्ञानस्यापि तथात्वापत्तेः। एवं सति चैत्रगतज्ञानं मैत्रस्यापि भवेत्। लोके तन्न दृश्यते। तस्मात् ज्ञानं समवायसम्बन्धेनात्मनि न तिष्ठति।

नन्वात्मा कर्ता ज्ञानं तत्करणमिति कथं तयोः कर्तृकरणयोरभेदप्रसङ्गः स्यात् इति चेन्न—

---

१. सुखादि चेत्यमानं हि स्वतन्त्रं नानुभूयते। स्याद्वादमंजरी पृ० १०२

२. स्याद्वादमंजरी पृ० १७४

३. ,, ,, पृ० १७५

४. स्याद्वादमंजरी, पृ० १७२ तः १७७ पर्यन्तम्।

करणं द्विविधं ज्ञेयं बाह्यमाभ्यन्तरं बुधैः।
यथा लुनाति दात्रेण मेरुं गच्छति चेतसा॥ इति

ज्ञानात्मनोरुभयोरपि संवित्तिलक्षणैककार्यसाधकत्वात् अभेद एव। ननु ज्ञानात्मनोरभेदस्तर्हि कर्तृकरणभावो न स्यादिति चेन्न, यथा सर्प आत्मानमात्मना वेष्टयतीति तद्वत्। अत्रापि अभेदे कर्तृकरणभावो ज्ञातव्यः।

किञ्च—यथा दीपः परं स्वञ्च प्रकाशयति तथा ज्ञानमात्मानं परञ्च प्रकाशयति। तत्र तावच्चेतनस्य भावश्चैतन्यम्, तस्य भावः स्वरूपं वा चैतन्यम्। यच्च यस्य स्वरूपं न तत् ततो भिन्नं भवितुमर्हतीति। यथा वृक्षाद् वृक्षस्वरूपम्। अतश्चेतन आत्मा ज्ञानस्वरूप इति। यत्र कुत्रापि कर्तृकरणसम्बन्धोऽपि दृश्यते तत्रापि अभेद इति मन्तव्यम्[1]।

आत्मनो लक्षणं तावत् 'उपयोगो लक्षणम्'[2] इति तद्द्विविधम् साकारो निराकारश्चेति, दर्शनोपयोगो ज्ञानोपयोगश्चेति। तत् पुनः अष्टभेदश्चतुर्भेदश्चेति। ज्ञानपयोगोऽष्टविधः, यथा मतिज्ञानोपयोगः, श्रुतज्ञानोपयोगः, अवधिज्ञानोपयोगः, मनःपर्यायज्ञानोपयोगः, केवलज्ञानोपयोगः, मत्यज्ञानोपयोगः, श्रुतज्ञानोपयोगः, विभङ्गज्ञानोपयोगश्चेति।

दर्शनोपयोगश्चतुर्विधः। यथा चक्षुर्दर्शनोपयोगः, अचक्षुर्दर्शनोपयोगः, अवधिदर्शनोपयोगः, केवलदर्शनोपयोगश्चेति।

जीवात्मा तु 'चैतन्यलक्षणो जीवः' इति तस्य स्वरूपलक्षणमुक्तम्[3]। स च जीव एकेन्द्रियात् पञ्चेन्द्रियपर्यन्तेषु विभिन्नशरीरेषु निवसति[4]। ते जीवात्मानः सुरनरनारकतिर्यगादयोऽसंख्याः सन्ति।

जैनदर्शने सप्त तत्त्वानि सन्ति। तानि यथा—जीवाऽजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वानीति[5]। एषु तत्त्वेषु जीवश्चेतन इत्युच्यते। तस्य जीवस्यौपशमिकः, क्षायिकः, क्षायोपशमिकः, औदयिकः, पारिणामिकः इत्येते पञ्चभावाः स्वतत्त्वं भवति[6]।

---

१. स्याद्वादमंजरी पृ० ५६ तः ५९ पर्यन्तम्।

२. तत्त्वाधिगमसूत्रम् २।८।

३. षड्दर्शनसमुच्चय का० सं० ४८।

४. कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि (तत्त्वा० सू० २।२४)।

५. जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वमिति (तत्त्वा सू० १।४)।

६. औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च—" (तत्त्वा० सू० २।१)।

तत्रौपशमिको द्विविधः क्षायिको नवविधः, क्षायौपशमिको अष्टादशभेदः, औपयिक एकविंशतिभेदः, पारिणामिकस्त्रिभेदः। पुनस्ते जीवाः संसारिणो मुक्ताश्च द्विविधा भवन्ति[१]। तेष्वपि समनस्का अमनस्का भवन्ति[२]। तत्र समनस्काः संज्ञिनो भवन्ति। ते यथा देवनारकगर्भजमनुष्यतिर्यञ्चः। अन्ये सर्वे जीवात्मानो अमनस्काः सन्ति।

तेषु सांसारिकजीवेषु त्रसाः स्थावरा इति द्विविधाः[३]। तत्र स्थावराः पृथिव्यम्बुवनस्पतय इति त्रिविधाः भवन्ति। द्वीन्द्रियात् पञ्चेन्द्रियपर्यन्तास्त्रसा भवन्ति। तेषां जीवानां शरीराच्छरीरान्तरसञ्चरणे कर्म एव कारणमस्ति।

तदुक्तमुमास्वातिना—'विग्रहगतौ कर्मयोगः'[४] इति कायिकवाचिकमानसिककर्मयोग इत्यर्थः। शुभाशुभकर्मणा आर्जितानि पुद्गलानि परिणमन्ति। तस्मात् पुनर्जन्म प्राप्नोति। तस्मिन् जन्मनि सम्मूर्च्छनगर्भोपपातनाम्ना त्रिविधभेदा भवन्ति[५]। तत्र देवानां नारकाणाञ्चोपपातः परिणमनं जन्म। जरायुजानां मनुष्यगोमहिषादीनाम्। अण्डजानां सर्पगोधाकृकलाशानां पोतजानां शल्लकहस्तिकश्वाविल्लकशशशारिकादीनां गर्भात्मकं जन्म भवन्ति। अन्येषां सर्वेषां सम्मूर्च्छनं जन्म भवति[६]।

तत्र नारकसम्मूर्च्छिनोनपुंसका भवन्ति। देवास्तु स्त्रियः पुमांसश्च भवन्ति, न ते नपुंसकाः।

तेषां मते—आत्मनः सर्वगतत्वं, व्यापकत्वञ्च निराकृतम्। तन्मतानुसारेण यथा देहादिष्वेव रूपादयो गुणा उपलभ्यन्ते नान्यत्र, तथैव शरीरेष्वेव आत्मा निवसति। अतस्ते देहाद् बहिरात्मनोऽस्तित्वं न स्वीकुर्वन्ति। तदुक्तं स्याद्वादमञ्जर्याम्—

यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र कुम्भादिवत्। (का. १९)

---

१. "संसारिणो मुक्ताश्च" तत्त्वाधिगमसूत्र २।१०

२. समनस्कामनस्काः तत्त्वाधिगमसूत्र २।११

३. संसारिणस्त्रसस्थावराः ,, २।१२

४. तत्त्वाधिगमसूत्र २।२६

५. सम्मूर्छनगर्भोपपाता जन्म, तत्त्वाधिगमसूत्र २।३२

६. शेषाणां सम्मूर्छनम्-तत्त्वा० सू० २।२३

एवमात्मा नाणुपरिमाणः, न महत्परिमाणः, किन्तु शरीरपरिमाण एव। तथाचानुमानानि—नात्मा परममहत्परिमाणाधिकरणो द्रव्यान्तराऽसाधारणसामान्यवत्त्वे सति अनेकत्वाद् घटवत्। तथा नात्मा तत्परिमाणाधिकरणो दिक्कालाकाशान्यत्त्वे सति द्रव्यत्त्वाद् घटवत्।

तथा, नात्मा तत्परिमाणाधिकरणः क्रियावत्त्वाद्वाणादिवत्। तथा, आत्माऽणुपरममहत्परिमाणानधिकरणः चेतनत्वात्, ये तु तत्परिमाणाधिकरणाः न ते चेतनाः यथाऽऽकाशपरमाण्वादयः, चेतनश्चाऽऽत्मा, तस्मान्न तत्परिमाण्पधिकरण इत्येवंविधैरनुमानैरात्मा मध्यमपरिमाण इति सिध्यति। ते जीवात्मानोऽसंख्येयलोकाकाशावगाहा भवन्ति। तथा च तत्त्वार्थसूत्रे—

असंख्येयं भागादिषु जीवानाम्।
प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्॥ (५।१६)

जैनदर्शनरीत्या आत्मनोऽन्यद्वैशिष्ट्यमिदमस्ति यदयमात्मा सङ्कुचति विकसति च। यथा—क्रिमिशरीरस्थो यदा गजशरीरं प्राप्नोति तदा विकासः, गजशरीरस्थस्य कृम्यादिशरीरं प्राप्तस्य सङ्कोचः।

ननु आत्मा शरीरपरिमाणः स्यात् तर्हि तस्मिन्नात्मनि मूर्तत्त्वमायाति। मूर्तौ सत्यां शरीरप्रवेशो न स्यात्, यद्यमूर्तः स्यात् तदा निरात्मकमेवाखिलं शरीरं प्राप्नुयादिति चेदुच्यते—किन्नाम मूर्तत्वम्? असर्वगतपरिमाणत्वं वा? न हि यदसर्वगतं तन्नियमेन मूर्तिमदिति अविनाभावोऽस्ति। यथा मनसोऽसर्वगत्वेऽपि मूर्तत्वासंभवात् शरीरप्रवेशे नानुपपत्तिः, तथा आत्माऽपि असर्वगतः, अमूर्तः प्रतिशरीरं निवसति च। असर्वगतद्रव्यपरिमाणमूर्तत्वोपेतस्यापि जलादेर्बालुकादावनुप्रवेशो न निषिद्धयते, आत्मनस्तु तद्रहितस्यापि तत्र न प्रतिषेधः[1]।

नन्वात्मनः कायपरिमाणत्वे बालशरीरपरिमाणस्य सतो युवशरीरपरिमाणप्रसङ्गः स्यादिति चेन्न, युवशरीरपरिमाणावस्थायामात्मनो बालशरीरपरित्यागे सर्वथा विनाशासंभवात्, विफणावस्थोत्पादे सर्पवदिति। तस्मादात्मनः कायपरिमाणत्वे न कश्चिद्दोषः।[2]

---

१. प्रमेयकमलमार्तण्डः पृ० ५७०-५७१

२. स्याद्वादमञ्जरी पृ० ६७ तः ७३

एवं सर्वे जीवात्मानोऽनन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तसुखानन्तवीर्यमयाः सन्ति। किन्तु बन्धावस्थायामनन्तज्ञानादिभ्यः परिच्छिद्यन्ते। सर्वत्र जीवेषु ज्ञानादीनि न्यूनाधिकानि सन्ति। बन्धस्य कारणं पञ्चविधम्—मिथ्यादर्शन, अविरतिः, प्रमादः, कषायः, भोगश्चेति। तैर्जीवः सकषायः कर्मणो योग्यान् पुद्गलनादत्ते[1]।

पुद्गलास्तु सक्रिया विनाशशीलाश्च भवन्ति। तेभ्यो जीवाः कर्मयोग्यानि शरीराणि प्राप्नुवन्ति। इदं कर्मशरीरं यदा पुद्गलग्रहणं करोति तदा बन्धो भवति। तथा च सूत्रम्—'स बन्धः' इति[2]। ते चत्वारो बन्धाः—यथा प्रकृतिबन्धः, स्थितिबन्धः, अनुभागबन्धः, प्रदेशबन्धश्चेति।

तत्र प्रकृतिबन्धस्तु[3] ज्ञानावरणं, वेदनीयं, मोहनीयं, आयुष्कं, नाम, गोत्रं, अन्तरायञ्चाष्टविधमावरणं करोति[4]। स्थितिबन्धस्तु उत्कृष्टजघन्यौ द्विविधौ भवतः। अनुभागस्तु विपाकानुभावौ स्तः। प्रदेशबन्धो नामप्रत्ययः सर्वत आत्मानं योगविशेषात् सूक्ष्मरूपेण बध्नाति[5]।

इमे बन्धाः शाखाप्रभेदेन बहवः सन्ति। अष्टकर्मभ्यः पुण्यपापं नाम द्विविधो बन्धः। तद्यथा सद्वेद्यं, सम्यक्त्ववेदनीयं, हास्यवेदनीयं, रतिवेदनीयं, पुरुषवेदनीयं, शुभमायुष्कं मानुषं देवत्त्वञ्चेत्येतदष्टविधं कर्म पुण्यम्, अन्यत् पापमित्युच्यते। ते अपि आत्मानं बध्नीतः। अयमेव कर्मबन्धो वा आस्रवो वेति कथ्यते।

तेषामाश्रवाणां निरोधः संवर इत्युच्यते[6]। संवरस्य सिद्धिः, गुप्तिसमिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैर्भवति[7]। स द्वादशविधः, तपसा निर्जरा च सम्पत्स्यते[8]।

---

१. तत्त्वाधिगमसूत्र ८।१
२. „ „ ८।३
३. „ „ ८।५ "आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनाम गोत्रान्तरायाः"।
४. तत्त्वाधिगमसूत्र ८।२२
५. तत्त्वा० सूत्र० ८।२५ "नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रववादः स्थितः सर्वात्मप्रदेशेषु अनन्तानन्तप्रदेशाः"।
६. आश्रवनिरोधः संवरः तत्त्वा० सू० ९।१
७. "सगुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः" तत्त्वा० सू० ६।२
८. "तपसा निर्जरा च" तत्त्वा० सू० ९।३

संवरो बद्धस्य कर्माणि विनाशयति। तस्य साधनं तपश्चरणध्यानजपादयः। एवं रीत्या आस्रवाणां देहादेरात्यन्तिकवियोगौ मोक्ष इत्युच्यते। यद्यपि जैना अनीश्वरवादिनस्तथापि ते जिनेन्द्रमीश्वरमिति मन्यन्ते। यः कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा परमपदं प्राप्तवानिति। जिनेन्द्रो वा तीर्थङ्करो वा यो रागद्वेषमोहादीन् परित्यज्य केवलज्ञानदर्शनशीलः, अहिंसादिभिर्महागुणैर्युक्तः सन् स एव ईश्वरोऽस्ति नान्य इति तेषां मतम्। एवं स सुरासुरैश्च वन्दितः सदा जीवानामुद्धाराय सदुपदेशकश्चास्ति। स वैराग्येण समस्तकिल्विषान् हत्वा अर्हत्पदं प्राप्तवानिति[1]।

अस्मिन् दर्शने मुक्तिस्तावत् 'सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रैर्भवति[2]। अयमेव मोक्षस्य त्रिविधो मार्गः। इमानि त्रीणि रत्नानि मोक्षं प्रापयन्तीति। एषामाचरणेन मोहनीयं क्षपति, ज्ञानावरणान्तराणि विनश्यन्ति। तदा केवलज्ञानमुत्पद्यते[3]।

केवलज्ञानस्य सिद्धिस्तु कृत्स्नकर्मक्षयादेव भवति। कर्मक्षये सति पुद्गलानां विच्छेदो भवति। तदा धर्मास्तिकायादीन् जीवस्त्यजति। मुक्तजीवानां तारतम्यं नास्ति। ते सदा आलोकाकाशे ऊर्ध्वगमनं कुर्वन्ति। मुक्तजीवोऽनन्तज्ञानमनन्तशक्तिमनन्तदर्शनमनन्तसुखञ्च प्राप्नोति। तस्या अवस्थाया नाम संविदानन्दमयीति उच्यते। यत्र दुःखादीनां लेशोऽपि नास्ति दुःखमूलशरीरस्यैव तत्राभावात्। सुखं तु स्वरूपानन्दरूपं भवत्येव। तदुक्तमागमे—

सुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
तं वै मोक्षं विजानीयाद् दुष्प्रापमकृतात्मभिः[4] ॥ इति।

---

१. जिनेन्द्रो देवता तत्र······षड्दर्शन समु० ४५, ४६ का०

२. "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" तत्त्वा० सू० १।१

३. "मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरक्षयाच्च केवलम्" तत्त्वा० सू० १।१०

४. स्याद्वादमञ्जरी पृ० ६२

तृतीयोऽध्यायः

न्यायदर्शने-आत्मतत्त्वम्

न्यायदर्शने आत्मा प्रमेयोऽस्ति। प्रमाणेन ज्ञातुं योग्यं प्रमेयमिति व्युत्पत्त्या आत्माऽपि प्रमाणेन ज्ञातव्य इति। प्रमेयाणि च शरीरेन्द्रियादीनि। तत्रात्मना सह शरीरेन्द्रियादीनां प्रमेयत्वमिति कथयन्ति। तानि द्वादश-संख्यानि सन्ति।[1]

तत्र जीवात्मा सुखदुःखादीनां विषयाणां द्रष्टा, तेषां भोक्ता, ज्ञाता, अनुभवकर्ता चास्ति। आत्मनो भोगायतनं शरीरम्। तच्छरीरं तावत् चेष्टाश्रयः, इन्द्रियाश्रयः, अर्थाश्रयश्च।[2] इन्द्रियाणि आत्मनो भोगसाधनानि सन्ति। तानि घ्राणरसनदर्शनस्पर्शनश्रोत्राणीति भौतिकानि।[3] तैर्जीवात्मा विषयानुपभुङ्क्ते। विषयाः—गन्धरसरूपशब्दस्पर्शाः,[4] भोगस्तु सुखदुःखादि-साक्षात्कारो मनसा भवति। बुद्धेः पर्याय उपलब्धिर्ज्ञानमिति[5]। सर्वेन्द्रियाणा-मर्थज्ञानं मनसा भवति। तन्मनसः स्मृत्यनुमानागमसंशयप्रतिभास्वप्न-ज्ञानोहाः सुखदुःखादिप्रत्यक्षमिच्छादयश्च लिङ्गम्। एवं स जीवात्मा न अन्यदेव किञ्चित् अणुपरिमाणः, किन्तु विभुः। अतो भिन्न-भिन्नेन्द्रियैर्युग-पज्ज्ञानं प्रसज्येत। तद्वारणाय अतस्तेषामन्यदेव कारणं भवेदिति[6] अनुमानेन मनसः सिद्धिर्जायते, तच्च मनोऽन्तरिन्द्रियं सर्वेन्द्रियाणां परिचालकं चास्ति।

प्रवृत्तिस्तु वाग्बुद्धिशरीरव्यापारो गृह्यते। इह बुद्धिपदेन मनोऽभिप्रेतम्। स च व्यापारः पुण्यपापात्मको दशविध इति न्यायभाष्ये स्पष्टम्। या या प्रवृत्तिः सा सा दोषेणोत्पद्यते[7]। रागद्वेषादीनां मिथ्याज्ञानेन प्रवृत्तिः।

---

१. आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्। (न्या० सू० १।१।९)

२. चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् (न्या० सू० १।१।११)

३. घ्राणरसनचक्षुस्त्वक् श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः (न्या० सू० १।१।१२)

४. गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः (न्या० सू० १।१।१४)

५. बुद्धिरुपोलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् (न्या० सू० १।१।१५)

६. प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः (१।१।१७)

७. प्रवर्तनालक्षणा दोषाः (न्या० सू० १।१।१८)

वर्तमानशरीरं न पूर्वमासीत्, मरणादूर्ध्वं न तस्य स्थितिरस्ति। अपवर्गे सत्येव शरीरस्यान्तो भवति। अतो अपवर्गात् पूर्वं क्वचित् सत्त्वनिकाये उत्पन्नस्य मृत्वा या पुनरुत्पत्तिः साप्रेत्यभावः। पूर्वकृतकर्मणां सुखदुःखोपभोगः फलम्। तत्र सुखमपि दुःखसंयुक्तत्वात् दुःखमेवेति,[1] यथा विषसंपृक्तान्नमपिविषम् तथा दुःखसंपृक्तात्मनः सुखमपि प्रतिकूलवेदनीयमेवेति।

सर्वे विषया जीवात्मने येन केनापि प्रकारेण दुःखमेव ददति। अतो जीवात्मानेऽपवर्गमुपदिशति शास्त्रम्। येन जीवात्मा सर्वाणि दुःखानि तरेदिति। तथा समाधिना विरक्तस्यापवर्गो लभते। अपवर्गे सति जन्ममरणसंबंधोच्छेदो भवति; तदा सर्वदुःखप्रहाणं भवति। अपवर्गस्तु तत्त्वज्ञानेन प्राप्यते। मिथ्याज्ञानेन संसार इति बन्ध-मुक्त्यो र्व्यवस्था।[2]

अस्मिन् दर्शने एतदतिरिक्तगुणकर्मादीनि अन्यान्यपि प्रमेयाणि सन्ति। स्वात्मा तु मनसा प्रत्यक्षप्रमाणेनोपलभ्यते। परात्मा मानसप्रत्यक्षेणापि नोपलभ्यते। आत्मनि रूपादीनामभावात् चाक्षुषादिप्रत्यक्षस्य कथैव नास्ति। किन्तु अनुमानेनपरात्मज्ञानं भवति। इच्छाद्वेषादय आत्मनो ज्ञापकलिङ्गानि सन्ति[3]।

यज्जातीयस्यार्थस्य सन्निकर्षात् सुखमात्मा प्राप्नोति, तज्जातीयमेवार्थं पश्यन् प्राप्तुमिच्छति सा इच्छा इति। यस्य दर्शने पीडा दुःखं वा भवति तद्द्वेषः। येनार्थेन सुखं प्राप्नोति तं पश्यन्नादातुं प्रयतते स प्रयत्नः। अनुकूलवेदनीयं सुखम्। विपरीतं दुःखमित्युच्यते। किमिति यद्विमृशति सा जिज्ञासा, यज्जानीते तज्ज्ञानमित्युच्यते। एवं गुणेन युक्तो देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिभ्यो भिन्नः स्वयं दृष्टस्य स्मर्ता नाना तत्त्वानां ज्ञाता आत्मेति—उपर्युक्तैर्लिङ्गैरनुमीयते।

तत्र केचन मुक्तौ सत्यां जीवात्मा सर्वदुःखेभ्यो विरतः पूर्णसुखमनुभवतीति कथयन्ति। तन्नैयायिकैर्न मन्यन्ते। आनन्दादीनां प्राप्तौ प्रमाणाभावादिति। सुखस्यापि संवेदनमेव हेतुः। संवेदनकाले सुखमेव भवतु, दुःखं मा भवतु इति कश्चन नियमो नास्ति। कारणनाशे सति, तन्निमित्त-

---

१. वात्स्यायनभाष्यं द्रष्टव्यम् (न्या० सू० १।१।९) बाधनालक्षणं दुःखम् (न्या० सू० १।१।२१)

२. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः (१।१।२२)

३. द्रष्टव्यं वात्सायनभाष्यम् (न्या० सू० १।१।९)

कार्यस्य पुनरुत्पत्तिर्न स्यात्। किञ्च—सुखदुःखादीनां कारणं धर्माधर्मौस्तः। धर्मस्यैव नित्यत्वमधर्मस्यानित्यत्वमित्यपि नास्ति। अतो यत्र धर्मस्य स्थितिरस्ति, तत्रैवाधर्मस्यापि स्थितिरस्ति। न्यूनाधिक्यं सर्वत्र दृश्यते। परन्तु सर्वत्र धर्मस्यैव समूलोच्छेदो वा अधर्मस्यैवोच्छेदो वा लोकेऽपि न दृश्यते। मुक्तौ उभयोर्नाशो जायते। सुखदुःखयोरत्यन्तोपरमे संसारस्यापि निवृत्तिरस्ति। संसारनिवृत्तिरेव मुक्तिरित्युच्यते। तस्मात् मुक्तावस्थायां सुखस्य लवोऽपि नास्तीति।

सुखदुःखादीनामनुभवस्य कारणमप्यात्ममनःसंयोगः। स च संयोगः केनचित् कारणेन भवति? तत् कारणं धर्माधर्मावित्युच्यते। धर्माधर्मयोः प्रत्यक्षत्वं नास्ति। किन्त्वनुमानेन तौ साध्येते। अनुमानं व्याप्त्या सिध्यति यत्र यत्र सुखं तत्र तत्र धर्म इति धर्मसुखयोर्व्याप्तिः। यत्र यत्र दुःखं तत्र तत्राधर्म इति अधर्मदुःखयोर्व्याप्तिः। धर्माधर्मयोः कारणे शुभाशुभे कर्मणी स्तः। मोक्षे च उभयोरत्यन्ताभावः। तस्मात् दुःखादीनामिव सुखस्यापि अत्यन्ताभावो मोक्ष इति सिद्धम्।

ननु मुक्तस्यात्यन्तिकं सुखमिति श्रुत्याद्युक्तमिति चेन्न, तत्र सुखशब्दस्यात्यन्तिके दुःखाभावे प्रयुक्तत्वादिति। दृष्टो हि दुःखाभावे सुखशब्दस्य प्रयोगो बहुलं लोके।[1]

किञ्च यदि मोक्षो नित्यसुखरूप इति स्यात् तर्हि सुखस्य रागमूलत्वात् मोक्षोऽपि रागजन्य एव भवेदिति। तदा मोक्षोऽपि बन्धनमेव स्यात्। एतन्न सङ्गच्छते; बन्धनप्रहाणरूपो मोक्षः बन्धनमूलेन रागेण न जन्यते इति न्यायसम्मतो मोक्षसिद्धान्तः।[2]

शरीरव्यतिरिक्तात्मपरीक्षा—

केचन दार्शनिकाः प्रत्यक्षोपलब्धं शरीरमेवात्मेति मन्यन्ते। तन्न युक्तम्। शरीरग्रहणेनेन्द्रियबुद्धिवेदनासङ्घातः प्राणिभूतो गृह्यते। तं दहतः पातकं न भवतीति कथ्यते यदि शरीरमेवात्मा स्यात् तर्हि मृतशरीरदाहेऽपि पातकं स्यात्। परन्तु मृतशरीरदाहे पातकं न भवतीति। तस्मात् संघातातिरिक्तस्य कस्यचन वस्तुनः सत्ता स्वीकार्या। येन सम्बद्धस्य देहस्य दाहे पातकं भवति, असम्बद्धस्य मृतस्य तु देहस्य दाहेऽपि पातकं न भवतीति। एवं

१. न्यायसूत्रभाष्यम् पृ० सं० ३९, १।१।२२
२. न्यायसूत्रवात्स्यायनभाष्यम् १।१।२२

देहात्मवादे शरीरनाशे सति आत्मापि म्रियते तर्हि शुभाशुभकर्मणा पुण्य-पापादिकं कस्य स्यात् ? अतः शरीरव्यतिरिक्तस्य नित्यवस्तुनः (आत्मनः) सत्ता स्वीकरणीया।[1]

एवं नित्याऽऽत्मनोऽभावे मुक्तिसिद्ध्यर्थं ब्रह्मचर्यगुरुकुलवासादीनां, क्लेशकरसाधनानामत्यावश्यकता न भवेत्, सर्वशास्त्राणि चानर्थकानि स्युः। ननु सात्मकशरीरदाहेऽपि पातकं न भवेदाऽऽत्मनो नित्यत्त्वेन तस्य वधाभावात्। यदि तस्य वधःस्यात् तदा तस्य नित्यत्वमेव व्याहतं स्यादिति चेन्न नित्यस्य सत्त्वस्य वधो हिंसा इति वयं न ब्रूमः। किन्तु तत्कार्याश्रयस्य स्वविषयोपलब्धिकर्तॄणामिन्द्रियाणां य उपघातः पीडा वैकल्यलक्षणः प्रबन्धोच्छेदो वा वधो हिंसा इति न कश्चिद्दोषः। अतः शरीरेन्द्रियातिरिक्तो नित्यात्म-अनित्यशरीरमधितिष्ठतीति सिद्धम्[2]।

ननु देहादिसंघातातिरिक्तात्मा नास्ति आत्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनस्येव संभवात्, यथा दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्, तस्मात् मन एव सर्वविषयकमिति पृथगात्मा साध्यते, स च एकार्थग्रहणरूपो हेतुर्मनसि अपि संभवति। मनसः सर्वविषयकत्त्वादिति चेन्न आत्मानमेव तर्हि मनः शब्देन कथयतीति संज्ञाभेदमात्रम्। नात्मवस्तु खण्डनं भवतीति।

तदुक्तम्—

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम्[3]। इति

एवं यत् साधनं वा करणं वा तन्न कर्ता। कर्तृकरणयोः सिद्धिर्भेदे एव भवति मनोऽपि करणमेव न कर्ता। तस्मात् शरीरेन्द्रियमनोऽतिरिक्तात्माऽस्तीति सिद्धम्।

आत्मनित्यत्वपरीक्षा

अथायमात्मा नित्यो वा अनित्यो वेति विचार्यते। ननु उभयमपि घटते। यथा नवजातशिशौ भयशोकहर्षादीनां दर्शनेन तत् पूर्वजन्मस्मृत्या भवतीति नित्यात्मेति अनुमीयते[4]। ननु अनित्यपद्मादिष्वपि सत्सु प्रबोधसम्मीलनविकारो दृश्यते[5]। तस्मादनित्यस्यात्मनो हर्षशोकादयो विकारः

---

१. तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात् ३।१।५

२. "नित्यस्य सत्त्वस्य वधो हिंसा......." ३।१।६ भाष्यम्।

३. न्या० सूत्रम् ३।१।१७ भाष्यम्।

४. पूर्वाभ्यासस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षशोकसमुत्पत्तेः—न्या० सू० भा० ३।१।१८

५. पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत् तद्विकारः ३।१।१९ न्या० सू०

स्युरिति चेत्, अत्र उच्यते—पद्मादिषु विकारादय उष्णशीताभ्यां भवन्ति। तत्रोष्णशीत एव निमित्तकारणे स्तः। परन्तु बालके हर्षादिहेतुभूतः ऐहिक-स्मृत्यनुबन्धः निमित्तमन्तरेण पूर्वाभ्यासकृतोऽस्तीति मन्तव्यम्। जातमात्रस्य शिशोः क्षुधादिपीडानिमित्तं जन्मान्तरीयाहाराभ्यासकृता स्मृतिरेवेति ज्ञातव्यम्। तस्मात् नित्यात्मनो भूतपूर्वं-शरीरमासीदिति।

एवं प्राणी सरागो जायते विरागोविमुच्यते "वीतरागजन्यादर्शनात्"[1] इति नियमेन रागस्य पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनं योनिः। न च स्पष्टीकरणा-पेक्षितसगुणद्रव्योत्पत्तिवत् तदुत्पत्तिरिति वाच्यम्, रागादीनां संकल्प-निर्मितत्त्वात्। रागो हि प्राणिनां संकल्पजनितो गृहीतो सङ्कल्पश्च पूर्वानु-भूतविषयानुचिन्तनाद्भवतीति। आत्मनो नित्यत्त्वं सिध्यति।

एवमात्मा प्रतिशरीरं भिद्यते। तत्र कारणं विभिन्नस्वभावः जीवात्मसु दृश्यते। तत् पूर्वकृताभ्यासः स्फुरणरूपेण जन्मान्तरे प्रस्फुटति। यद्यपि आत्मा विभुद्रव्यमस्ति तथापि शरीरेष्वेव तस्योपलब्धिर्जायते। अतो देहभेदात् जीवात्मानो नाना सन्तीति।

आत्मनो नित्यत्वे सति तस्य प्रेत्यभावोऽपि सङ्गच्छते। यदि आत्मा अनित्यस्तर्हि मरणादूर्ध्वं तस्य सत्त्वमपि नास्ति। अतः तस्य पुनर्जन्म न स्यात्। प्रेत्यभावो नाम मृत्वा पुनर्जन्मग्रहणम्। मरणमपि नात्मनो नाशः किन्तु शरीरेन्द्रियमनःप्राणसम्बन्धविगम एव मरणम्। जन्मापि नात्मन उत्पत्तिः, किन्तु तेषामात्मना सह संगम एवेति मन्तव्यम्।

अपवर्गपरीक्षा—ननु मुक्तौ ऋणानि प्रतिबन्धकानि सन्ति। यथा जायमानोहवै ब्राह्मणस्त्रिभिऋणै ऋणवान् जायते। तद् ब्रह्मचर्येण ऋषि-भ्यो, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्य इति।

एवं क्लेशानुबन्धः प्रवृत्त्यनुबन्धोमुक्तौ बाधकः। तथा च न्यायसूत्रम् "ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभावः"[2] (४-१-५९) एवं क्लेशानुबद्धायं जन्तुर्म्रियते जायते च। न चास्य क्लेशानुबन्धविच्छेदो गृह्यते। तस्माद् "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरपायादपवर्गः" इति यदुक्तं न्यायदर्शने तन्नोपपद्यते[3]।

---

१. न्या० सू० ४.१.५३

२. न्या० सू० ४.१.५९

३. न्या० सू० १.१.३

अत्रेदं समाधानम्—उक्त श्रुतौ ऋणैरिति शब्दो न प्रधानशब्दः। किन्तु गुणशब्दः, ऋणइव ऋणो न वस्तुत ऋणः यथा 'अग्नेर्माणवकः' इति प्रशंसावाचकस्तद्वदेवेति। जायमानस्य बालकस्य न कर्म अधिक्रियते। अर्थित्वसामर्थ्यात् तदुत्पद्यते—इति। एवम् गृहस्थः सम्पद्यमान-कर्मलोपे ऋणीव भवति। ऋणादानात् निन्द्यते श्रुत्या। कर्मानुष्ठाने च ऋणीव ऋण प्रतिदानात् प्रशंस्यते। तथा चोक्तवचननिन्दाप्रशंसापरम्। न तु वास्तविक ऋणपरम्। तस्मात्तन्मुक्तौ बाधकम्। यत्पुनरुक्तं क्लेशानु-धायाविच्छेदादपवर्गाभाव इति तन्न युक्तम्—यथा सुषुप्तस्य पुरुषस्य स्वप्ना दर्शने रागानुबन्धोविच्छिद्यते। सुखदुःखानुबन्धश्च विच्छिद्यते। तथैवापवर्ग-काले क्लेशानुबन्धस्यापि विच्छेदो भविष्यतीति न काचिदनुपपत्तिः। यदप्युक्तं वाग्बुद्धिशरीराम्भरूपप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभाव इति तदपि न युक्तम्, रागद्वेषमोहक्लेशेषु नष्टेषु जायमानापि प्रवृत्तिः न पुनर्जन्महेतुर्भव-तीति नापवर्गे काचिद् बाधः इति न्यायमतेऽपवर्गोपपत्तिः।

एवं "बाधना लक्षणस्य दुःखस्यात्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः पदार्थः" बाधना पीडा, ताप इति अनर्थान्तरम्। अनेन दुःखेनानुविद्ध सर्वं पश्यन्, दुःखजि-हासुर्जन्मनि दुःखग्रहणेदुःखदर्शीनिर्विद्यते। निर्विण्णस्य संसाराद् विरज्यते। विरक्तश्च विमुच्यते, मुक्तौ तेन दुःखेनात्यन्तिकोविमोक्षो भवति। स एवा-पवर्गः। तथा च न्या. सू. "तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः,' इति।[1] जन्मनो दुःखरूपत्वात् जन्मनात्यन्तविमुक्तिरपवर्ग इति सूत्र तात्पर्यम्। जन्मनो विमुक्तिश्च प्राप्तस्य जन्मनोहानमप्राप्तस्य जन्मनोऽनुपादानम्। प्राप्तं जन्म हीयते, अप्राप्तश्च जन्मनगृह्यते। इति या अवस्था सैवापवर्गेति न्यायमतम्।

केषाञ्चिामते-नित्यं सुखं मोक्षेऽभिव्यज्यते। अतोविमुक्तो जनोमोक्षाव-स्थायां सुखमनुभवतीति ते मन्यन्ते तेषां मतमनुपपन्नम्, प्रमाणाभावात् नित्यं सुखं मोक्षेऽभिव्यज्यते इत्यत्र न प्रत्यक्षनानुमानं नागमो वा प्रमाण-मस्ति। अतः केन हेतुना तत्सुखभभिव्यज्यते इति हेतुर्वक्तव्यः। यदि उच्येतसुखं नित्यमिति तर्हि संसारि मुक्तयोः को विशेषः ? तस्मात् सर्व दुःखनिवृत्तिरेवापवर्ग इति स्वीकरणीयः।

---

१. न्या० सू० १।१।२२

वैशेषिकदर्शने-आत्मतत्वम्

वैशेषिकदर्शने—आत्मा नवद्रव्येषु मध्ये एकं द्रव्यमस्ति। न्यादर्शन-रीत्या अस्मिन् दर्शनेऽपि आत्मा पृथक्-पृथक् शरीरेषु भिन्नो भिन्नोऽस्ति आत्मज्ञानं तावत् शरीरे प्राणवायुसञ्चारेण, निमेषोन्मेषेण जीवनेन, मनो-गत्या, इन्द्रियव्यापारैः शरीरः—विकारेण च जायते। एवं सुःखदुःखादीनि च तस्य लिङ्गानि सन्ति। येन आत्मनोऽस्तित्वं निश्चीयते।[1]

एभिर्लिङ्गैः स्वशरीरान्तस्यात्मना प्रत्यक्षज्ञानं जायते, इतर शरीरान्त-र्गतस्यात्मनः तत् सुखदुःखादीनाञ्च अस्माकं प्रत्यक्षाभावात् आनुमानिका-गमिकज्ञानमित्युच्यते[2]।

ननु सुखदुःखज्ञानादिभिर्लिङ्गैः एक एवात्मा प्रतिशरीरभवेदिति चेन्न, शरीरभेदात् आत्मनो नानात्वं सिद्धम्[3]। प्रति शरीरं सुखदुःखज्ञानादि-भेदात् आत्मनो नानात्वं सिद्धम्।

"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये", "द्वासुपर्णा सयुजा सखाय" इत्यादयो मन्त्रा अप्यात्मनोऽनेकत्वमेव साधयन्ति।[4]

स चात्मा आत्मत्व जातिमत्वात् आत्मेति उच्यते। परशरीरे आत्मन इन्द्रियैरप्रत्यक्षत्वादनुमानेन शब्दप्रमाणेन च ज्ञानं भवति। वास्यादीनां करणानां कर्तृप्रयोज्यत्वदर्शनात्। शरीरस्य चैतन्यमिति मन्येत इति चेन्न तदा घटादिवत् भूतकार्यत्वात् देहे चैतन्यासंभवः। प्रतिशरीरमात्मानं रथरथिरूपकल्पनया प्राणादिभिर्लिङ्गैश्च शरीरातिक्तं मन्यामहे। एवं दारुयन्त्रस्यैव शरीरस्य निमेषोन्मेषादिकाभ्यां, शरीरोत्कर्षापकर्षादि कार्येण च गृहपतेरिव तस्यात्मननः सत्ता प्रतीयते।

---

१. "प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेष-प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि।" वै० सू० ३।२।४।

२. यदिदृष्टमन्वक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति" वै० सू० ३।२।१० "तस्मादागमिकः" वै० सू० ३।२।८।

३. "व्यवस्थातो नाना" वै० सू० ३।२।२०।

४. "शास्त्रसामर्थ्यात् च" ३।२।२१।

किञ्च बुद्धिसुखदुःखादिगुणैः गुणिनोऽनुमानं जायते। यतोहि बुद्धिसुखदुःखादयो न शरीरेन्द्रियगुणाः, अहङ्कारेणैकवाक्यताभावात्, प्रदेशवृत्तित्वादयावद्द्रव्यभावित्वात् बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वाच्च तथा अहं शब्देनापि पृथिव्यादि-शब्दव्यतिरेकात् शरीरेन्द्रियाद्यतिरिक्ताऽऽत्मा सिध्यति।

आत्मनि बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारसङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागगुणाः सन्ति।[1] **तत्र धर्माधर्मौ चाऽऽत्मगुणौ स्वकृतकर्मजन्यौ स्तः।** संस्कारस्तु आत्मगुणः स्मृतिजननकारणमस्ति। सङ्ख्यापरिमाणादयोऽपि आत्मनि तिष्ठन्ति। सुखदुःखादीनां मनःसन्निकर्षजन्यत्वात् संयोगः, तथा मनः सन्निकर्षाभावात् तेषामनुत्पत्तिरिति विभागोऽपि जीवात्मनो गुण इत्युच्यते।

द्रव्यलक्षणं तावत् यस्मिन् गुणक्रियेसमवायसम्बन्धेन भवतस्तद् द्रव्यमित्युच्यते। तदुक्तं—यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् द्रव्यं समवायिकारणमिति। यथा तन्तवः पटस्य, पटश्च स्वगतरूपादेः[2]। एवं आत्मनि बुद्धिसुखदुःखादीनि समवायसम्बन्धेन वर्तन्ते। अतस्तेषामाश्रय आत्मेति गीयते।

तत्र बुद्धिस्तु द्विविधा–विद्या अविद्या चेति। तत्र विद्या तु चतुर्विधा—प्रत्यक्षानुमानस्मृत्यार्षलक्षणा इति। तत्र प्रत्यक्षं तु इन्द्रियविषययोः सन्निकर्षजन्यं ज्ञानमित्युच्यते। व्याप्तिज्ञानेन यत् समुत्पन्नं ज्ञानं तदनुमानम्। पूर्वानुभूतवस्तुनो भूयो भूयश्चिन्तनं स्मृतिरिति। आर्षं तु आम्नायानुष्ठातॄणामृषीणामतीन्द्रियजनितधर्माधर्मादित्रिकालज्ञानमित्युच्यते।

अविद्याऽपि चतुर्विधा—यथा संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा इति। तत्र संशय एकस्मिन् धर्मिणि (वस्तुनि) विरुद्धनानाधर्मावगाहि ज्ञानमिति। तदपि अन्तर्बहिर्भेदेन द्विधा। विपर्ययं मिथ्याज्ञानं, यथा शुक्तौ रजतमिति ज्ञानम्। अनध्यवसायज्ञाने वस्तुन एकदेशज्ञानमेव भवति, न तु संपूर्णम्। स्वप्नज्ञानं तावत् उपरतेन्द्रियग्रामस्य प्रलीनमनस्कस्येन्द्रियद्वारेणैव यदनुभवनं मानसं तत् ज्ञानं स्वप्नमित्युच्यते।

---

१. प्रशस्तपादभाष्ये—पृ० २०८, द्रव्ये आत्मप्रकरणम्

२. तर्कसंग्रहः—४१ पृ०।

सुखमपि आत्मनो गुणः, तदनुग्रहलक्षणं सुखमिति। अतीतविषयेषु स्मृतिजम्, अनागतेषु सङ्कल्पजं सुखमिति। आत्मनः प्रतिकूलविषयो दुःखमिति। अप्राप्तस्य प्रार्थना—इच्छा, प्रज्वलनात्मको द्वेषः, प्रयत्नस्तु काङ्क्षितवस्तुनः प्राप्त्यर्थम् अहितवस्तुनस्त्यागार्थं क्रियमाणो व्यापार इत्युच्यते। तत्र धर्मः कर्तुः प्रियहितमोक्षादिहेतुरतीन्द्रियः पुरुषान्तःकरणसंयोगजः, वर्णाश्रमोपदिष्टः श्रुतिस्मृतिविहितकर्मानुष्ठानजन्य इति। प्रत्यवायकर्मणः समुत्पन्नोऽधर्मः। पूर्वानुभूतविषयाणां स्मृतेः कारणं संस्कार इत्युच्यते। स च संस्कारो वेगभावनास्थितिस्थापकभेदेन त्रिधा। अन्येऽपि ये गुणाः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः, ते सर्वे समवायसम्बन्धेनाऽऽत्मनि तिष्ठन्ति। मुक्तौ सुखदुःखेच्छादीनां सर्वेषां विशेषगुणानामत्यन्तिको वियोगो जायते। तदा आत्मा जडद्रव्यवत् भवति। एतादृशमोक्ष एव न्यायवैशेषिकयोः प्रतिपादितः। अतएव सोपहासमुक्तम् नैषधकारेण—

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः[1]॥

परिमाणतः आत्मा परममहत्परिमाणः, प्रतिशरीरं भिद्यते च। अतस्ते द्वैतवादिनः, वस्तुवादिनश्च।

धर्मप्रकर्षेण ब्रह्मेन्द्रप्रजापतिपितृमनुष्यलोकेषु जीवाः कर्मानुगुणशरीराणि धृत्वा सुखादीनि उपभुञ्जते, अपरे येऽधर्मप्रकर्षेण प्रेततिर्यग्योनिषु जायन्ते, ते दुःखादीनि अनुभवन्ति। अन्ये केचन जीवा ज्ञानपूर्वकं कृतात् असङ्कल्पितफलाद् विशुद्धकुले जातानामाचार्याणां कृपया अज्ञाननिवृत्तेर्विरक्ता रागद्वेषप्रवृत्तिलक्षणाभावात् धर्माधर्माभावाच्च केवलपरमार्थदर्शनेन समुत्पन्ननिवृत्तिलक्षणधर्मेण संसारात् निवर्तन्ते मुच्यन्त च। तदा निर्बीजस्यात्मनः शरीरादिनिवृत्तिः। पुनस्तस्यानुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्ष इति।[2]

मुक्तिविषये न्यायवैशेषिकयोरयमेव भेदोः यत् मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ

---

१. नैषधीयचरितम् १७।७५

२. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् वै० सू० १।१।३

प्रवृत्तिदोषनाशः, प्रवृत्तिदोषनिवृत्तौ सत्यां जन्मनिवृत्तिः, जन्मनिवृत्तौ दुःखनिवृत्तिस्तदा मुक्तिरिति न्यायकारमतम् ।

वैशेषिकास्तु द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यज्ञानादुत्पन्नं तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसं प्रति हेतुरिति । तच्चेश्वर-चोदिताभिव्यक्ताद् धर्मादेव भवतीति । अर्थात् वेदप्रतिपादितवर्णाश्रम-कर्मानुष्ठानादेव निःश्रेयसं सिध्यतीति ।

परमात्मा च समस्त-जगत् प्राणिनश्च सृजति, पालयति संहरति च । तस्य सिद्धिस्तु अनुमानप्रमाणादाऽऽम्नायाच्च भवति । स च ईश्वरः, पर-मात्मा वा सर्वज्ञो वा सर्वशक्तिमान् वेति कथ्यते । तस्येच्छया परमाणुषु क्रिया आरभ्यते, तदा द्व्यणुकादीनां सृष्टिर्जायते । परमाणूनां संयोगः सृष्टिस्तेषां वियोगः प्रलय इत्युच्यते । जगतः सृष्टिस्थितिप्रलयेषु ईश्वरो निमित्तकारणमिति मन्यन्ते । स परमात्मा नित्यज्ञानेच्छाकृतिमान् इति । जीवात्मसु बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मगुणा अनित्या इति सिद्धान्तः ।

ईश्वरसाधकानुमानानि—यथा "क्षित्यादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवदिति" यद्यत् कार्यं तत्तत् कर्तृजन्यमिति अनुमानेन जगद्रूपकार्यमपि सर्वज्ञेन ईश्वरेण प्रणीतमिति अनुमीयते । अतः समस्तपदार्थानां नाम-करणादिकमपीश्वर एव करोतीति । एवं सर्वान् कर्मस्वपि प्रवर्तयति सर्वज्ञत्वात्[1] ।

एवमस्माच्छब्यादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारको यः संकेत स परमात्मन एवेति । अतः शब्दार्थबोधे ईश्वरेच्छा एव कारणमिति दिक्[2] ।

साङ्ख्यदर्शने—आत्मतत्त्वम्

साङ्ख्यदर्शनं दुःखत्रयविनाशहेतुविवेकज्ञानाय कपिलमहर्षिणा प्रवर्तित-मिति ईश्वरकृष्णेनादौ प्रतिज्ञा कृता । तदुक्तं कारिकायां—"दुःखत्रयाभि-

१. संज्ञा कर्मत्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्—वै० सू० २।१।१८
प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः— वै० सू० २।१।१९

२. सामयिकः शब्दार्थप्रत्ययः—वै० सू० ७।२।२०
प्रशस्तपादभाष्ये—आत्मप्रकरणं द्रष्टव्यम् पृ० सं० १६७, तः २२६ यावत्

घाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेताविति[१]"। साङ्ख्यदर्शनेऽपि अन्यदर्शनेषु इव सूत्रं भाष्यञ्चास्ति। परन्तु विद्वांस ईश्वरकृष्णेन रचिताः कारिका एव प्रमाणत्वेन उदाहरन्ति। सूत्राणि तु केनचिदन्येन विज्ञानभिक्षुणा वा विरचितानीति मन्यन्ते। अतः कारिकाभ्य एव स्वविषयमहमुपस्थापयामि, विद्वद्भ्योऽभ्यर्हिततत्वात् प्राचीनत्वाच्च कारिकाणाम्।

अस्मिन् दर्शने—आत्मा पुरुषशब्दैर्व्यवहृतः। अतः योऽन्यदर्शनेषु आत्मा, स एवास्मिन् दर्शने पुरुष इति अवगम्यते।

स च पुरुषो निर्गुणः विवेकी, अविषयः, असामान्यरूपः, स्वतन्त्र-सत्तावान्, चेतनः, अप्रसवधर्मी, अहेतुमान्, सर्वगतः, निष्क्रियः, अनाश्रित-श्चास्ति।[२]

पुरुषस्य ज्ञानं प्रत्यक्षप्रमाणेन नैव भवति, यतोहि प्रत्यक्षे केवलव्यक्त-पदार्थानां, तत्रापि विकारिपदार्थानामिन्द्रियसन्निकर्षेण ज्ञानं भवति। तत्रात्मा न प्रत्यक्षग्राह्यः सूक्ष्मत्वात् प्रधानवत्। किन्तु पुरुषस्य ज्ञानमनु-मानेनागमेन च भवति। तत्रानुमानं प्रमाणं त्रिविधम्। तद्यथा पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टञ्चेति। तेष्वनुमानेषु पुरुषप्रकृत्योर्ज्ञानं सामान्यतो-दृष्टानुमानेन भवति। यथा देशाद्देशान्तरं प्राप्तं गतिमच्चन्द्रतारकादिकं दृष्टम्, चैत्रवदिति। एवमेव महदादिकं त्रिगुणात्मकं, यस्येदं त्रिगुणं कार्यं तत् प्रधानमिति। यतश्चाचेतनं बुध्यादिकं चेतनमिव भाति, तस्मात् तस्याधिष्ठाता अन्यः कश्चित् पुरुषश्चेतनोऽस्तीति अनुमीयते। आगमेनापि पुरुषस्य सिद्धिर्जायते[३]। तदुक्तं काठके—

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः[४]॥

---

१. दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्॥ सां० का०।

२. त्रिगुणमविवेकिविषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥ (सां० का० ११)

३. अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपा।
अजो ह्येको जुषमाणमजोऽन्यः जहात्येनां भुक्तभोगोऽनुशेते॥
सां० तत्व कौ०। —मंगलाचरणश्लोके।

४. कठोपनिषत् १।३।११ मन्त्रः।

किञ्च पुरुषस्य सद्भावेऽनुमानान्तरं प्रदर्श्यते। यथा—योऽयं महदादि संघातः स पुरुषार्थोऽचेतनत्वात् पर्यङ्कवत्। यथा—पर्यङ्कः प्रत्येकं गात्रोत्पलकपादपीठतूलीप्रच्छादनपटोपधानसङ्घातः परार्थो, नहि स्वार्थः पर्यङ्कस्य, न हि किञ्चिदपि गात्रोत्पलाद्यवयवानां परस्परं कृत्यमस्ति अतोऽवगम्यतेऽस्ति पुरुषो यः पर्यङ्के शेते। यदर्थं पर्यङ्कस्स पर्यङ्कात् परइति। तथैवेदं शरीरं पञ्चानां महाभूतानां सङ्घातो वर्तते। अतोऽस्योपभोक्ता अन्यः कश्चिदस्ति पुरुषस्तस्य भोग्यं शरीरं महदादि[1] संघातरूपम्।

एवं यथा लङ्घनप्लवनधावनसमर्थैरश्वैर्युक्तो रथः सारथिना अधिष्ठितः प्रवर्तते, तथा आत्मनोऽधिष्ठानाच्छरीरमपि चेष्टते। तथा चानुमानं—शरीरमात्माधिष्ठितं चेष्टावत्त्वात् रथवदिति। अत्र पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते[2]। पुरुषः सर्वेषां (प्रकृत्यादोनां) भोक्ता, न तु कर्ता, कर्तृत्वं तु प्रकृतेः। पुरुषार्थचतुष्टयमध्ये मोक्ष एव परमपुरुषार्थ इति सर्वेषां दार्शनिकानां मतम्।

साङ्ख्यतन्त्रे मोक्षस्वरूपं तावत् केवलभावः तद्भावस्तु सर्वसंसारनिवृत्तौ भवति। तस्मादपि संसारादतिरिक्तस्य पुरुषस्य सिद्धिर्जायते।

यथा अद्वैतवेदान्तिभिरात्मनोऽस्तित्वं चेतनत्वं च स्वीक्रियते तथा साङ्ख्या अपि पुरुषस्यास्तित्वं चेतनत्वञ्च मन्यन्ते। परन्तु अद्वैतवेदान्ते आत्मन एकत्वं प्रतिपादितम्। साङ्ख्ये पुरुषबहुत्वं प्रतिपादितम्। ते पुरुषाणां बहुत्वे प्रमाणं प्रदर्शयन्ति। यदि पुरुष एकः स्यात् तर्हि एकस्य जनने सर्वेषां जननम्, एकस्य मरणे सर्वेषां मरणं भवेदिति। इत्थं लोके नावलोक्यते। एवमेकोऽन्धः, अन्यो बधिरः अपरो मूकश्चेति बहुविधानि स्वरूपाणि पश्यामः। तस्मादपि पुरुष-बहुत्वं निश्चीयते[3]।

ते पुरुषाः साक्षिणः सन्ति। पुरुषस्य कर्तृत्वाभावात् स कुत्रापि न प्रवर्तते, नापि निवर्तते च। स केवलस्त्रिगुणेभ्यो भिन्नः मध्यस्थः पुरुषः

---

१. संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ सां० का० १७

२. द्रष्टव्या सां० का० १७ ॥ गौडपादभाष्यम्।

३. जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ सां० का० १८

परिव्राजकवदिति। यतः स मध्यस्थः, अतस्तस्य द्रष्टृत्वमकर्तृत्वञ्च सिध्यति। याः काश्चित् प्रवृत्तयो जायन्ते, ताः सर्वाः सत्त्वरजस्तमोगुणैरुत्पद्यन्ते कर्मकर्तृभावेन। तस्मात् पुरुषस्य निर्लिप्तता सिद्धा[1]।

आप्तश्रुतिः, आप्तागम इति उच्यते। आप्तास्तु आचार्या ब्रह्मादयः तेषां श्रुतिर्वेदा इति।

केचन दार्शनिका असद्वादिनः, अर्थात् असतः सदुत्पत्तिं मन्यन्ते। अन्ये सत्कार्यवादिनः। तत्र साङ्ख्याः सत्कार्यवादिनः सन्ति।

अनेकेषु दर्शनेषु सृष्टेः कारणं ब्रह्म वा ईश्वरो वेति। परन्तु साङ्ख्यदर्शने सृष्टेः कारणं प्रकृतिरेवास्ति। एवं सर्वत्र तस्याः कर्तृत्वं विद्यते। अतः पुरुषोऽकर्ता, किन्तु स प्रकृतेर्भोक्ता चास्ति। प्रकृतिरपि स्वतन्त्रसत्तावती, तथापि सा स्वतन्त्ररूपेण पुरुषं विना सृष्ट्यादिकं कर्तुं न प्रभवति। पुरुषसंयोगेन प्रकृतौ गुणक्षोभो जायते। ततः समस्तचराचरात्मकं जन्यते। लोकेऽपि दृश्यते स्त्रीपुरुषसंयोगेन सन्ततिर्जायते। तद्वत् अस्य प्रपञ्चस्यापि सृष्टिरिति। तस्या प्रकृतेः सकाशाद् महच्छब्दवाच्या बुद्धिरुत्पद्यते। ततोऽहङ्कारः, अहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि च समुत्पद्यन्ते। तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि प्रादुर्भवन्ति। इमानि पञ्चविंशतितत्त्वानि साङ्ख्यतन्त्रे उपपादितानि। एषु तत्त्वेषु व्यक्तं तत्त्वं महदादीनि। अव्यक्तं प्रधानं तथा व्यक्ताव्यक्ताभ्यामतिरिक्तः पुरुषः इति कथ्यते[2]।

ननु प्रकृतौ क्रिया नोत्पद्येत जडत्वात् पाषाणवदिति चेन्न, चित्संयोगे तस्यां क्रिया उत्पद्यते। चुम्बकसंयोगे लोहवत् पुरुषसंयोगे सति क्रियया सा प्रकृतिश्चेतनेव दृश्यते। यदा प्रकृत्या सह पुरुषसंयोगो जायते तदा प्रकृतेर्गुणक्षोभो जायते। तेन तस्याः कर्तृत्वं समुपजायते। यावत् गुणेषु साम्यमस्ति तावन्न सृष्ट्यादिकं कर्तृत्वं वा तस्याः भवति। पुरुषस्तूदासीनः किन्तु

---

१. तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ सां० का० १९ ॥

२. सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥ ८ ॥
असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ ९ ॥

प्रकृतिसंयोगेन क्रियाकर्तृत्वमिव तस्मिन् दृश्यते। यथा दर्पणमालिन्येन प्रतिबिम्बिते मुख एव मालिन्यमनुभूयते जनैस्तथा। अपि चाग्निसंयोगेन लोहपिण्डोऽपि ज्वलतीव दहतीव च, तद्वदेव प्रकृतिसंयोगेन पुरुषोऽपि कर्तेव भवति[1]।

अत्र जडचेतनयोः (प्रकृतिपुरुषयोः) मेलनं तावत् किञ्चिदुद्देश्यं साधयितुं प्रभवति। तदुद्देश्यं तु कैवल्यमिति वा सृष्ट्यादिकमिति वा। तत्र कैवल्यं तु पुरुषस्य दर्शनेन भवति। तद्दर्शनमपि प्रकृतेर्विलासः।

यथा पङ्ग्वन्धौ विपत्त्या कानने प्राविशताम्, अन्धस्य दृष्टिर्नास्ति, खञ्जस्य चलनशक्तिर्नास्ति ग्रामागमनाय। तदा उभौ परस्परसाहाय्यं कृतवन्तौ। अन्धः स्वस्कन्धे पङ्गुमारोहयति, पङ्गुरपि अन्धं मार्गं प्रदर्शयति। एवं कृत्वा उभौ ग्रामं प्राप्तवन्तौ। तथा इहापि पुरुषस्य दर्शनार्थं प्रकृतेः कैवल्यार्थञ्च तयोः संयोगो भवति। यदा तयोः प्रयोजनं समुत्पत्स्यते तदा प्रकृतिपुरुषयोर्विभागोऽपि संपत्स्यते।

अस्मिन् दर्शने पुरुषप्रकृतिसंयोग एव सृष्टिः, विभागस्तु मोक्ष उच्यते। अर्थात् मोक्षः कैवल्यम् दुःखत्रयप्रशमलक्षणम् प्रकृतिपुरुषविवेकनिबन्धनम्। पुरुषाद्विवेकेन दृष्टा प्रकृतिर्विवेकमन्तं पुरुषं प्रति सर्गाय न प्रवर्तते किन्तु निवर्तते, अविवेकिनं प्रति प्रवर्तत एव। तस्माद्विभागो मोक्षः। इत्थञ्च—प्रधानमेव पुरुषस्य मोक्षं कृत्वा निवर्तते। पुरुषोऽपि प्रधानं दृष्ट्वा कैवल्यं गच्छति।

सृष्टिस्तु—आदौ प्रकृतेर्महदुत्पद्यते। तस्य महतोऽध्यवसायो लक्षणम्। यथा घटोऽयम्, पटोऽयम् इत्यादि। सा बुद्धिरष्टविधाऽस्ति सात्त्विकतामसभेदाभ्याम्। तत्र सात्त्विकबुद्धिश्चतुर्विधा। यथा धर्मज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यञ्चेति तत्र धर्मस्तावत्—दयादानयमनियमलक्षणोऽस्ति। ज्ञानं प्रकाशकमवगमरूपं भानं च पर्यायाः। तद्द्विविधम्—बाह्यमाभ्यन्तरभेदेन। बाह्यं तु वेदशिक्षाकल्पव्याकरणादिजन्यज्ञानरूपमस्ति। आभ्यन्तरं च प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानरूपम्। तद्यथा इयं प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था अयं पुरुषः सिद्धो

---

१. तस्मात्तत् संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥ सां० का० २०॥

निर्गुणो व्यापी चेतन इति। तत्र बाह्यज्ञानेन लोकानुरागः प्रवर्तते। आभ्यन्तरज्ञानेन मोक्षो लभ्यते।[1]

वैराग्यं द्विविधं—बाह्यमाभ्यन्तरञ्चेति। बाह्यं तु दृष्टविषयवैतृष्णमर्जनरक्षणक्षयसङ्गादिषु दुःखात् वैराग्यम्। मोक्षेच्छा आभ्यन्तरवैराग्यमित्युच्यते। ऐश्वर्यमीश्वरीभावः तच्चाष्टगुणाः, यथा—अणिमा महिमा-गरिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यम् ईशित्वं कामावसायित्वञ्चेति।

तामसबुद्धिस्तद्विपरीता—यथा अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यरूपा। इयं बुद्धिस्त्रिगुणादव्यक्ताज्जायते। अत्र बुद्धि—इन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाण्यहङ्कारो मनश्चैतानि स्वं स्वमर्थं पुरुषस्य प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति। बुद्धिस्थं कुर्वन्तीत्यर्थः। तत्र बुद्धिस्थं सर्वं विषयसुखादिकं पुरुषः प्राप्नोति।

प्रतिशरीरं पुरुषाः सूक्ष्मरूपेण (शरीरेण) सदा तिष्ठन्ति। स्वकृतशुभाशुभकर्मानुसारेण लोकान् सञ्चरन्ति च। स्त्रीपुरुष-संयोगे सूक्ष्मशरीरं मातृगर्भे प्रविशति। तत्र तयोः शुक्रशोणितेन स्थूलशरीरं वर्धते। प्रसवकाले मातृकुक्षेर्बहिरागत्य यावत्कालमुषित्वा मरणे पाञ्चभौतिकानि शरीराणि इहैव परित्यज्य पुनः कर्मानुसारेण लोकान्तरं गच्छन्ति जीवाः[2]।

सर्वेषां मुक्तिपर्यन्तेयं प्रक्रिया प्रचलिता। तत्र शुभकर्मकर्तारो जीवाः देवमनुष्यविद्वदादीनि शरीराणि प्राप्नुवन्ति। अशुभकर्मकर्तारः पशुमृगादीनि शरीराणि गृह्णन्ति। प्रलयकाले ते सर्वे प्रधाने संलीयन्ते। सर्गे ते एव जीवाः पुनः स्थूलशरीराणि गृह्णन्ति। पुनर्जन्मनः कारणमासक्तिरेवेति। इदं सूक्ष्मशरीरं लिङ्गशरीरमित्युच्यते। सूक्ष्मशरीरेण पुरुषः प्रकृतिमुपभुङ्क्ते। तद्यथा नटः पटान्तरेण प्रविश्य देवो मनुष्यो विदूषक इत्यादीनि रूपाणि कृत्वा रङ्गमञ्चे क्रीडति तथा लिङ्गशरीरं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेनोदरान्तः—प्रविश्य हस्तिस्त्रीपुमादीनि शरीराणि प्राप्नुवन्ति।

तेषूत्तमजीवानां त्रिविधा भावा भवन्ति। यथा सांसिद्धिकः, प्राकृतः, वैकृतश्च। तत्र सांसिद्धिकभावः कपिलादीनां, तेषां जन्मना सहोत्पन्नानि धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याणि सन्ति। प्राकृतभावस्तु ब्रह्मणश्चतुर्षु मानसपुत्रेषु सनकसनन्दनसनातनसनत्कुमारेषु दृश्यते। तेषां ज्ञानवैराग्यादीनि प्राकृत-

---

१. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ सां० का० २१॥

२. सां० का० २३ गौडपादभाष्यं द्रष्टव्यम्

मित्युच्यते। अन्यानाचार्यान् निमित्तीकृत्य यज्ज्ञानं समुत्पद्यते तद्वैकृतभाव इत्युच्यते। धर्मेण सूक्ष्मशरीरस्योर्ध्वगमनं शुभस्थानं प्राप्यते। तद्यथा—ब्राह्मं, प्राजापत्यं, सौम्यमैन्द्रं, गान्धर्वं, याक्षं, राक्षसं, पैशाचं प्राप्नोति।

अधर्मेणाधोगमनमशुभस्थानानि पशुमृगसरीसृपस्थावरान्तानि। तत्र केचन ज्ञानेनाऽपवर्गं प्राप्नुवन्ति[1]। केवलज्ञाननिमित्तं वैराग्यमिति। वैराग्ये सति प्रकृतिलयो भवति।

सांख्यदर्शनानुसारेण बन्धस्य मूलमज्ञानमस्ति। ते चत्वारो बन्धाः—नैमित्तिकः, प्राकृतः, वैकारिकः, दाक्षिणिक इति भेदेन। तत्र अणिमा-महिमाद्यष्टविधैश्वर्यनिमित्तको नैमित्तिको बन्धः। आत्मबुद्ध्या इन्द्रियो-पासनं वैकारिको बन्धः। पुरुषमजानतः स्वकामनया इष्टापूर्तकर्मानुष्ठान-निबन्धनो दाक्षिणिको बन्धः। इमे बन्धा रूपान्तरं प्राप्य पुरुषं बध्नन्ति[2]।

यद्यपि सांख्या वैदिका एव सन्ति, तथापि ते वेदोदितयज्ञयागादीनि कर्माणि न कुर्वन्ति, यतोहि तत्र हिंसाबाहुल्यात् तदशुभमिति मन्यन्ते। अतस्ते ज्ञानमेवोपदिशन्ति। केवलज्ञानादेव कैवल्यमिति तेषां सिद्धान्तः। कर्मविषये वैदिककर्माणि हेयानीति कथयन्ति[3]।

मुक्तये श्रुत्युक्तं वचनं "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" पुरुषं ज्ञात्वा जीवो मोक्षं प्राप्नोतीति।

अत्र सिद्धयोऽष्टधा भवन्ति। तत्रोहो नाम प्रथमसिद्धिः कश्चित् नित्योहने किमिह सत्यं, किं परं, किं निःश्रेयसं, किं कृत्वा कृतार्थः स्यामिति चिन्तयतो यज्ज्ञानमुत्पद्यते, तदूहो ज्ञानसिद्धिरिति। शब्दज्ञानेन प्रकृति-पुरुषयोर्ज्ञानमुत्पद्यते, तत् शब्दाख्या द्वितीया सिद्धिः। वेदादिशास्त्राध्यय-

---

१. धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेनचापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः॥ सां० का० ४४॥

२. वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात्।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात् तद्विपर्यासः॥ सां० का० ४५॥

३. दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात्॥ सां० का० २॥
षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य वचनादूनानि पशुभिस्त्रिभिः॥ सां० का० गौ० पा० भाष्यं पृ० ३

नात् पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं तृतीया सिद्धिरिति। चतुर्थस्तु आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकदुःखत्रयाभिघाताय गुरुं समुपगम्य तस्योपदेशान्मोक्षो भवति। निदिध्यासनेनोदितविवेकज्ञानं पञ्चमी सिद्धिस्तासां त्रयो भेदाः, यथा प्रमोदमुदितमोदमाना इति षष्ठीसिद्धिः। कश्चित् सुहृज्जनमधिगम्य मोक्षं गच्छति एषा सप्तमी सिद्धिः। दानेन यत् प्राप्तं ज्ञानं तत् अष्टमी सिद्धिरित्युच्यते[1]।

यावत् पुरुषः सूक्ष्मशरीरं ज्ञानेन न विजहाति तावत् चतुर्दशमण्डले विभिन्नं शरीरं गृहीत्वा संसरति। तेषु-तेषु शरीरेषु स पुरुषो रोग जन्मजरामरणकृतं दुःखमनुभवति च[2]। मोक्षायाभीष्टं ज्ञानं तावत् उक्तञ्च—

यथा—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राऽऽश्रमेवसेत्।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः[3]॥

साङ्ख्यदर्शनस्येदं वैशिष्ट्यमस्ति यत् प्रकृतिरेव पुरुषस्य मोक्षाय प्रयतते। अन्यदर्शनेषु जीवात्मा स्वयं मुक्तये यतते।

ननु अचेतना प्रकृतिश्चेतनपुरुषस्य कथं मुक्तिं करोतीति चेन्न, यथा गोभक्षितं तृणोदकं क्षीरभावेन विपरिणम्य वत्स विवृद्धिं करोति। वत्से पुष्टे वर्धिते च निवर्तते तद्वत् अत्रापि प्रधानमिति ज्ञातव्यम्। तस्मात् प्रवृत्तिनिवृत्ती उभे प्रकृतेरेव भवतः न तु पुरुषस्य[4]।

किञ्च, यथा नर्तकी रङ्गस्थले नृत्यं कृत्वा लोकान् परितोष्य पश्चात् निवर्तते। तथा प्रकृतिः पुरुषं स्वज्ञानं कारयित्वा विमुञ्चति[5]। सा अत्यन्तसुकुमारतरा, यावत् पुरुषः स्वज्ञानं सम्पादयति, तावत् तं प्रकृतिः

---

१. ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत् प्राप्तिः।
दानञ्च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः॥ सां० का० ५१

२. तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन॥ सां० का० ५५

३. सां० का० गौडपादभाष्यम् २३ द्रष्टव्यम्।

४. वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥ सां० का० ५७

५. रङ्गस्य दर्शयित्वा विनिवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥ ५९

बध्नाति। बन्धनं तु धर्मवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यमिति सप्तविधानि सन्ति[1]। ज्ञानञ्च मुक्तिहेतुः।

तेभ्यो बन्धेभ्यो मुक्तपुरुषः प्रकृतिं तत् कार्यञ्च पश्यति प्रेक्षकवत्[2]। साङ्ख्यदर्शने—ईश्वरसत्ता नास्ति। यदीश्वरः स्यात्तदा निर्गुणत्वादीश्वरस्य कथं ततः सगुणप्रजा जायेरन्? यथा शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्लपटो भवति, न कृष्णपटः। अत्र त्रिगुणात् प्रधानात् त्रयो लोकास्त्रिगुणाः समुत्पन्ना इत्यवगम्यते। निर्गुणेश्वरात् सगुणानां लोकानामुत्पत्तिरयुक्ता इति ज्ञातव्यम्। अनेन दर्शनेन पुरुष एव व्याख्यातः।

केषुचिद्दर्शनेषु काल एव सर्वेषामुत्पत्तिविनाशयोः कारणमिति। तदुक्तम्—

कालः पचति भूतानि कालः संहरते जगत्।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥

अत्र "व्यक्ताव्यक्तज्ञः" इति मूले त्रयः पदार्थाः सन्ति। कालोऽपि एषामन्तर्भूतोऽस्ति। स हि व्यक्तः (कालः) सर्वकर्तृत्वात्। तस्यापि प्रधानमेव कारणम्[3]। तस्मात् सर्वेषां कार्याणां कारणं प्रधानमेव। केवलपुरुष एव चतुर्विंशतितत्त्वेभ्योऽन्यः, स्वतन्त्रसत्तावान्। तस्य विवेकतः परिज्ञानेन मुक्तिर्लभ्यते—इति दिक्।

योगदर्शने-आत्मतत्त्वम्

योगदर्शने आत्मसंबंधिनी सैव मान्यता स्वीकृता या साङ्ख्ये प्रसिद्धा। साङ्ख्ये आत्मतत्त्वं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं प्रतिपादितं सूत्र-भाष्यतद्व्याख्याग्रन्थेषु। तथा चोक्तम् बन्धप्रसङ्गे—"न नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते" इति सूत्रे।

योगभाष्येऽपि तथैव प्रतिपादितं "चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च सत्त्वगुणात्मिका चेयम्[4]—इति।

एवं साङ्ख्ये त्रिगुणात्मकाभ्यां व्यक्ताव्यक्ततत्त्वाभ्यां वैपरीत्येन पुरुषस्य साक्षित्वं द्रष्टृत्वादिकञ्च प्रतिपादितम्। "तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं

---

१. रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नाति आत्मानमात्मना प्रकृतिः॥ ६३

२. तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम्॥ ६५

३. द्रष्टव्यम्—गौडपादभाष्यम्—सां० का० ६१

४. योगसूत्रभाष्य पा० १—सू० २

साक्षित्वमस्य पुरुषस्य, कैवल्यं माध्यस्थं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च"[१] इति कारिकायाम् ।

योगेऽपि "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्[२]" इति सूत्रे आत्मनो द्रष्टृत्वं प्रतिपादितम् । द्रष्टृत्वादेरेव च साक्षित्वादिकमपि तस्मिन्नायाति । यतो द्रष्टा हि साक्षी भवति नाद्रष्टा ।

योगदर्शने आत्मनो निर्देशः क्वचित् द्रष्टृशब्देन क्वचिच्च पुरुषशब्देन भवति । अतएव पुरुषः किं स्वभाव इति प्रश्नमुत्थाप्य "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" इति सूत्रे द्रष्टृशब्देन पुरुषो निर्दिष्टः । एवं सत्यपि बाहुल्येन पुरुषशब्द एव तदर्थं प्रयुज्यमानो दृश्यते भाष्यादिग्रंथेषु । चितिशब्दोऽपि तस्मिन्नेवार्थे प्रयुज्यते । यथा यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते[३] ? सा च योगवार्तिके जीवात्मरूपा परमात्मरूपा चेति आत्मशब्देनापि तस्या व्यवहारो विज्ञानभिक्षुणा कृतः[४] । तत्त्ववैशारद्यामपि वाचस्पतिमिश्रेण "तथा चायमविपर्ययोऽप्यात्मा विपर्ययवानिवाभोक्ताऽपि भोक्ता इव" इत्यत्रात्मशब्दो व्यवहृतः[५] ।

एवं "विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः[६]" इति सूत्रभाष्यादिषु आत्मशब्दः प्रयुक्तो दृश्यते ।

इत्थञ्चात्मनः कृते द्रष्टृशब्दः प्रयुज्यताम्, चितिशब्दः प्रयुज्यताम्, आत्मशब्दः प्रयुज्यताम्, पुरुषशब्दो वा प्रयुज्यतां न कश्चिद्विशेषः । तथापि साङ्ख्यवत् योगेऽपि पुरुष शब्दप्रयोग एव विशेषाग्रहो दृश्यते । अतएव ईश्वरस्वरूपवर्णनप्रसङ्गे "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः[७]" इति पुरुषविशेषत्वेनेश्वरो लक्षितः । यद्यपि उभयत्रापि दर्शने पुरुषः "नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः" स्वीकृतः, तथापि योग इदमेव वैशिष्ट्यमस्ति यद्योगे ईश्वरोऽपि स्वीकृतः, पुरुषविशेषरूपेण । इतरपुरुषापेक्षया अतएव ईश्वरात्मकपुरुषेऽयमेव विशेषोऽस्ति, यदितरपुरुषाः क्लेशादिभिर्न सर्वथा

१. सांख्यकारिका १९

२. यो० सू० १।३

३. योग सू० भाष्यम् १।९ ।

४. योग सू० वार्तिक १।१७ ।

५. यो० सू० तत्त्ववैशारदी १।४ ।

६. योगसूत्रम् ४।२५ ।

७. योगसूत्रम् १।२४ ।

विनिर्मुक्ताः ईश्वरस्तु सर्वदैव क्लेशादिभिर्विनिर्मुक्तः। अत इतरपुरुषेषु केषाञ्चित् पूर्वबन्धकोटिर्भवति यथा मुक्तानाम्। केषाञ्चिच्चोत्तरा बन्धकोटिर्भवति यथा प्रकृतिलीनानाम्। ईश्वरस्य तु न पूर्वबन्धकोटिर्भवति नापि उत्तराबन्धकोटिर्भवति। स तु सदैव ईश्वरः, सदैव मुक्तः इत्युच्यते।

यद्यपि साङ्ख्यवत् योगेऽपि पुरुषे विद्यमाना पूर्वापरबन्धकोटिरपि अविद्यात्मिकैव वर्तते। तथापि ईश्वरेऽविद्यात्मिकाऽपि बन्धकोटिर्न भवति इति तयोः पुरुषेश्वरयोर्भेदः। पुरुषसिद्धौ यानि प्रमाणानि साङ्ख्यैर्दीयन्ते तान्येव प्रमाणानि योगैरपि ईश्वरसिद्धौ स्वीकृतान्येव सन्ति। अत एव आत्मसाधनाय योगे तथा प्रयासो न दृश्यते, यथा साङ्ख्यदर्शने दृश्यते।

यतो हि उभे दर्शने तद्विषये समाने एव स्तः। अतः साङ्ख्येनैवात्म-साधनं योगेऽपि गतार्थमिति प्रतीयते। अतएव पुरुषविशेषस्येश्वरस्य साधने योगदर्शने महान् संरम्भो दृश्यते।

मुक्तिविषये साङ्ख्यदर्शने पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानात् पुरुषः कैवल्यपद-मश्नुते इति ज्ञानमार्गः प्रदर्शितः। योगे तु "चित्तवृत्तिनिरोधः" इति क्रिया-मार्गः प्रदर्शितः। क्रियासाधनेन चित्तं तमोगुणेन आवृतमप्यधर्माज्ञाना-वैराग्यानैश्वर्यादीन् विजहाति ततो रजोगुणेन धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्येषु साधकः प्रवर्तते। रजोगुणरूपमलादपि निवृत्तचित्तं सत्त्वगुणाधिक्यात् स्वरूपदर्शने योग्यं भवति। तदा साधकस्य चित्तात् समस्तविवेकख्यातिर्निर्गच्छति तदा धर्ममेधसमाधौ स प्रविशति। स च समाधिः सर्वक्लेशान् विनाशयति स्वरूपे स्थापयति च।

योगदर्शने क्रियायोगं विना अनादिकालादागतानामविद्यादिक्लेशानां अन्तो न भवतीति। ताः सर्वाः क्रियाः परमेश्वरे समर्पयेदिति।[1]

तथा च सूत्राणि—

"तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः"।
"समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च" ॥
"समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्" । इति

भगवद्गीतायामप्युक्तम्—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्[2] ॥

---

१. तपः (यो० सू० २।१)। यो० सूत्र २।२, २।४५।

२. भगवद्गीता ९।२७।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥१॥

अनेन सर्वकर्मसमर्पणरूपेण क्रियायोगेन जीवः समाधिं लभते । ईश्वर-प्रसादात् । जीवानां संसरणे अविद्या कारणमिति मन्यन्ते । सा अविद्या अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरूपा अस्ति[१] । तस्या अविद्याया निवृत्तिर्मोक्ष इति ।

योगदर्शने चित्तवृत्तिनिरोधाय "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानीति"[२] एषु अङ्गेषु यमनियमासनप्राणाया-मप्रत्याहारास्तु बहिरङ्गसाधनानि सन्ति, अन्ये धारणाध्यानसमाधयोऽ-न्तरङ्गसाधनानि सन्ति । एतेषां साधनानां बहुकालं श्रद्धया सेवनेनेश्वर-प्रसादात् परमपुरुषार्थरूपमोक्षो लभ्यते ।

मोक्षेच्छायाः कारणानि विद्वद्भिर्मृग्यन्ते । तद्यथा—पुरुषः संसारे संसरन् कष्टमनुभवति । तत्र संसारस्तापको जीवस्तप्यः । तन्निवारणाय चतुर्व्यूहं शास्त्रं चिकित्साशास्त्रवत् प्रवृत्तम् । यथा चिकित्साशास्त्रं रोगः रोगहेतुः, आरोग्यम् भैषज्यमिति चतुर्व्यूहम्, तथा योगशास्त्रं भवरोगिणां रोगः संसारः, तद्धेतुः संसारहेतुः, आरोग्यं मोक्षः, भैषज्यं मोक्षोपाय इति चतुर्व्यूह-मस्ति । इमानत्र चतुर्व्यूहमिति मन्यन्ते । अत्र दुःखबहुलसंसारो हेयः, प्रधानपुरुषसंयोगो हेयहेतुः, संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानं मोक्षो वा । हानोपायः सम्यग्दर्शनम् । अतो विशुद्धज्ञानं पुरुषकैवल्यकारणमिति ।[३]

ननु दृग्दृश्ययोः संयोगोऽनित्यः, यद्यदुत्पन्नं तत्तद्विनाशि इति न्यायेन । बन्धहेतुः संयोगः स्वयमेव नंक्ष्यति । तथा च साधनं विनैव मोक्षः स्यादिति चेन्न, तयोः संयोगस्यानादित्वात् अविद्यात्मकत्वात् ज्ञानं विना वियोगो नास्तीति । ज्ञानेन वियोगो जायते । अतो ज्ञानसाधनाय यतनीय-मिति ।

एवं बन्धमोक्षयोः स्वरूपं तु द्रष्टुर्दृश्यस्योयोगोबन्धः द्रष्टुः स्वरूपो-पलब्धिरपवर्ग इति । अष्टाङ्गयोगाभ्यासेनाशुद्धिः शनैः शनैः प्रक्षा-

---

१. भगवद्गीता ९।२८, यो० सू० २।५ ।

२. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मकख्यातिरविद्या । यो०सू० २।२५ ।

३. योगसूत्रभाष्यम्–२।१५ ।

ल्यते, ततः सम्यग् ज्ञानमुदेति। तस्य नव कारणानीति शास्त्रे कथितम्। यथा—

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम्[1]॥

तत्रोत्पत्तिकारणं मनो भवति विज्ञानस्य। स्थितिकारणं मनसः पुरुषार्थता, शरीरस्येवाहार इति। अभिव्यक्तिकारणं यथा रूपस्यालोकस्तथा रूपज्ञानम्। विकारकारणं मनसो विषयान्तरम्, यथाग्निः पाक्यस्य। प्रत्ययकारणं धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य। प्राप्तिकारणं योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः। वियोगकारणं तदेवाशुद्धेः। अन्यत्वकारणं यथा स्वर्णस्य सुवर्णकारः। एवमेकस्य स्त्रीप्रत्ययस्याविद्या मूढत्वे, द्वेषो दुःखत्वे, रागः सुखत्वे, तत्त्वज्ञानं माध्यस्थ्ये। धृतिकारणं शरीरमिन्द्रियाणाम्, तानि च तस्य। महाभूतानि शरीराणाम्। तानि च परस्परं सर्वेषाम्। तैर्यग्यौनी न मानुषदैवतानि च परस्परार्थत्वादिति। एतानि नवकारणानि। तानि च यथा—सम्भवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यानि। योगस्य पूर्णसिद्धिस्तु ईश्वरप्रणिधानजन्यप्रसादाद्भवति।[2] पुरुषज्ञानेन चित्तस्य संस्कारा विनश्यन्ति। तद्यथा दग्धबीजभावाः क्लेशाः न प्ररोहसमर्था भवन्ति।

तथा ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावः पूर्वसंस्कारो न प्रत्ययं प्रसूते। तथा च सूत्रम्—"हानमेषां क्लेशवदुक्तम्"[3] इति। यदा अयं ब्राह्मणः प्रसंख्यानेऽपि अकुसीदो न किञ्चित् प्रार्थयते। तत्रापि विरक्तस्य योगिनः सर्वथा विवेकख्यातिरेव जायते।[4] सा अवस्थाधर्ममेघसमाधिरित्युच्यते। धर्ममेघसमाधिना सर्वक्लेशादीनि दह्यन्ते। सर्वक्लेशनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति।

ननु सवासनक्लेशकर्माशयप्रशमहेतौ धर्ममेघसमाधौ सिद्धेऽपि पुनर्जन्तुः कथं न जन्म गृह्णातीति चेन्न, कारणसमुच्छेदेन पुनर्जन्मानुपपत्तेः। कारणसमुच्छेदेऽपि यदि कार्यंस्यात्तर्हि—अन्धादिभिर्मणिवेधादयो भवेयुः। उक्तञ्च—

---

१. यो० सू० भा० २।२८।
२. यो० सू० २।४५।
३. यो० सू० ४।२८।
४. यो० सू० भा० ४।२९।

विदुषिसति सर्वावरणात्मकं मलं नश्यति । तदा ज्ञेयवस्तु नास्तीति ।
उक्तञ्च—

अन्धोमणिमविध्यत्तमनङ्गुलिरावयत् ।
अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्तमजिह्वोऽभ्यपूजयत्[1] ॥

इत्थञ्च मुक्तौ सत्यां चित्तस्य समस्तसत्ता समाप्यते । ततः पुरुष एवावभासते । तत्र ज्ञेयवस्तु नास्ति, किन्तु केवलो ज्ञाता तिष्ठति ।

यद्यपि—साङ्ख्ययोगयोर्बहुस्थलेषु साम्यमस्ति, तथापि केषुचित् स्थलेषु कश्चिद्भेदोऽपि दृश्यते । यथा पञ्चविंशतितत्वानीति साङ्ख्याः, षड्विंशतिरिति योगिनः । प्रत्यक्षादीनि त्रीणि प्रमाणानीति उभयोः सम्मतम् । पुरुषप्रकृतिसंयोगः संसारः, तयोर्वियोगो मोक्ष इति उभयोः सिद्धान्तः । प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानेन मोक्ष इति साङ्ख्यैः, ईश्वरप्रणिधानेनेति योगिभिः । प्रकृतिवियोगो मुक्तिरिति साङ्ख्याः । पुरुषस्य स्वरूपेऽवस्थानं मोक्ष इति योगिनः । साङ्ख्या निरीश्वरवादिनः, योगिनः सेश्वरवादिनः, ईश्वरः प्राणिनां कर्मफलदाता इति च योगिनो मन्यन्ते ।

योगदर्शने प्रतिपादिताष्टाङ्गयौगिकक्रियाः सर्वे भारतीय-दार्शनिका अंशतो वा पूर्णतया वा स्वीकृतवन्तः । अतो भारतीयदर्शनेषु योगदर्शनस्य प्रमुखस्थानमस्ति ।

मीमांसादर्शने-आत्मतत्त्वम्

मीमांसकाः द्विविधाः भाट्टाः प्राभाकराश्चेति । यद्यपि उभयोरपि मीमांसकयोः एकमेव जैमिनिसूत्रजातं शबरस्वामिनः भाष्यञ्च मूलग्रन्थौ स्तः; तथापि व्याख्यातृ-बुद्धिवैचित्र्यात् मतभेदः स्पष्टमेव दृश्यते । तत्र जैमिनिसूत्रेषु आत्मविचारपरं सूत्रमेव न दृश्यते । यद्यपि परलोकसाधनभूतेषु कर्मसु प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं देहव्यतिरिक्तात्मनिरूपणं जैमिनिनापि कर्तव्यमेव, तथापि "एक आत्मनः शरीरे भावात्" इत्यधिकरणे व्यासाचार्यैः निरूपयिष्यते देहव्यतिरिक्त आत्मा । अतोऽत्र जिज्ञासवः तत एव गच्छन्तु इत्यभिप्रायेण जैमिनिस्तं न सूत्रयामास । अतएव जैमिनिसूत्राणां वृत्तिकृता उपवर्षेण स्वीयवृत्तौ आत्मनिरूपणप्रसङ्गे शारीरके वक्ष्याम इति स्पष्टीकृतम् ।

---

१. यो० सू० भा० ४।३१ ।

श्रीशबरस्वामिनस्तु "औत्पत्तिकसूत्रे" शरीरेन्द्रियप्राणादिव्यतिरिक्तमात्मानं स्पष्टं न्यरूपयन्। आत्मा स्वयंज्योतिः स्वप्रकाशः नान्यैः द्रष्टुं शक्यः, स च परलोकगामीति। परलोकप्राप्तिफलाः यागादयः सफला इत्यूचुः[१]। अत्र शबरस्वामिभिः आत्मा कीदृश इति तद्विशेषो न निरूपितः। कुमारिलभट्टास्तु तद्विशेषमपि निरूपयन्ति। तथाहि—

ज्ञानशक्तिस्वभावोऽतो नित्यः सर्वगतः पुमान्।
देहान्तरक्षमः कल्प्यः सोऽगच्छन्नेव योक्ष्यते[२]॥

यजमानत्वमप्यात्मा सक्रियत्वात् प्रपद्यते।
न परिस्पन्दः एवैकक्रिया नः कणभोजिवत्[३]॥

न च स्वसमवेतैव कर्तृभिः क्रियते क्रिया।
क्रियाधात्वर्थमात्रं स्यात् अन्याधारेऽपि कर्तृता[४]॥

सत्ता ज्ञानादिरूपाणां कर्ता तावत् स्वयं पुमान्।
योऽपि भूतपरिस्पन्दस्तत्राधिष्ठानतो भवेत्[५]॥

इत्यादि श्लोकैः भट्टास्तु आत्मनः स्वरूपं विवृण्वन्ति।

आत्मा विभुः ज्ञानादिगुणवान्। तस्य यागादिषु कर्तृत्वं तदनुकूलकृतिमत्त्वमेव। कृतिश्चात्मधर्मः। ज्ञानादिकं प्रति कर्तृत्वं तु आश्रयत्वमेवेति ऊचुः।

भट्टमतानुयायी पार्थसारथिमिश्रस्तु शास्त्रदीपिकायामुक्तवान्—आत्मा शरीरेन्द्रियप्राणमनोभिन्नः; विभुश्च। तस्याणुत्वे युगपत् शिरः पादयोर्वेदनानुपपत्तिः। शरीरपरिमाणत्वे सावयवत्वादनित्यत्वप्रसङ्गः। तस्य च प्रतिदेहं भिन्नत्वमेव। एकत्वे चैत्रेणानुभूतस्य मैत्रेणापि स्मृतिप्रसङ्गात्। स चात्मा स्वप्रकाशः, तस्य स्वप्रकाशत्वं च स्वेनैव गृह्यमाणत्वम्। अत एव

---

१. जैमिनिदर्शनम् सू० १।१।५।

२. श्लोकवार्तिके पृ० सं० ५००, आत्मवादे श्लोक० ७३।
३. ,, पृ० ५०१, ,, ७४।
४. ,, पृ० ५०१, ,, ७५।
५. ,, पृ० ५०१, ,, ७६।

मामहं जानामीति सार्वजनीनः कर्तृकर्मभावेनात्मनोऽनुभवः। स्वप्रकाशत्वे सुषुप्तावप्यात्मनः प्रकाशप्रसङ्गः[1]।

सिद्धान्तबिन्दौ मधुसूदनसरस्वत्यस्तु भट्टमतमेवमाहुः—जडबोधात्मक इति भाट्टा इति[2]। तस्यार्थः—आत्मनः अंशद्वयमस्ति जडांशः चिदंशश्च। तत्र चिदंशेनात्मा द्रष्टा, सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञाविषयश्च। अचिदंशेन तु आत्मनो ज्ञानसुखादिरूपेण परिणामित्वं, मामहं जानामीत्यादिप्रत्यये ज्ञेयत्वं ज्ञानरूपातीन्द्रियव्यापारेण विषयनिष्ठज्ञातताारूपसंवित् कर्तृत्वं चेति-तद्व्याख्यातार आहुः। एतादृशात्मनः बन्धो नाम आत्मनः प्रपञ्चसंबंधः सुखाद्यनुभवश्च। तथाहि न्यायसुधाकृत आहुः—

सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते।
पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधारणात्॥ इति।

भट्टवार्तिकात्? आत्मज्ञानं संयोगपृथक्त्वन्यायेन क्रत्वर्थं पुरुषार्थं चेति। तत्र अविनाशि वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति इत्यत्र मात्राशब्दे भूतेन्द्रियधर्माभिधानात् शरीरादि-व्यतिरिक्तनित्यात्म-प्रतिपादनपूर्वकस्य "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य" इत्यात्मज्ञानविधेः फलाश्रवणात्, दृष्टसंभवेऽदृष्टकल्पनायोगात् कर्मप्रवृत्तिसिद्ध्यर्थत्वं निर्णीयते[3]।

असंसारिस्वरूपात्मज्ञानस्य तु कर्मप्रवृत्त्यर्थत्वायोगात् मोक्षरूप-पुरुषार्थत्वमेव। पुरुषार्थरूपमात्मज्ञानञ्चाभ्युदयफलत्वेन मोक्षफलत्वेन च द्विविधम्। तत्र "य आत्माऽपहतपाप्मा"[4] इत्यादि श्रुत्युक्तापहतपाप्म-त्वादिगुणाष्टकविशिष्टात्मज्ञानस्य सगुणात्मज्ञानरूपस्य "स यदि पितृलोक-कामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्तीत्यादि"[5] श्रुत्युक्तं योग-जन्याणिमाद्यष्टैश्वर्य-फलमस्ति।

"निर्गुणात्मज्ञानस्य तु निःश्रेयसं फलम्"। स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते"[6] इत्यपुनरावृत्तिफलाभिधानात्।

१. शास्त्रदीपिका पृ० सं० २४७ तः २६२ पर्यन्तम्।
२. सिद्धान्तबिन्दुः—पृ० सं० १२
३. श्लोकवार्तिक पृ० सं० ५१४
४. छां० उप० ८।७।१
५. „ ८।५।१
६. „ ८।१५।१

तत्र ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इति व्युत्पत्त्या परमात्मप्राप्तिरेव फलत्वेनाभिप्रेता। परमात्मा च जीव एव कर्तृभोक्त्रात्मकसंसारिरूपपरित्यागेन अकर्त्रभोक्त्रात्मकनिजरूपविशिष्टोऽभिप्रेतः जीवातिरिक्तपरमात्मनः अनभ्युपगमात्। मोक्षार्थं च नित्यनैमित्तिककर्ममात्रमनुष्ठेयम्।

"मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया॥"[1]

इति श्रुतेः।

यत्तु ज्ञानस्य कर्मनाशकत्वं "यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन! ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।" इति स्मृतिसिद्धं तथा "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिन्द्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इति श्रुतिमूलकमिति तदर्थवादमात्रमिति वार्तिककाराशयः। इत्थं च ज्ञानकर्मसमुच्चयः मोक्षसाधनमिति भाट्टमतम्। न च बन्धहेतुकर्मक्षयादेव मोक्षसिद्धेः ज्ञानवैफल्यमिति वाच्यम्, सत्यपि पूर्वकर्मक्षये कर्तृत्वाभिमानानिवृत्तौ मुमुक्षोः निर्व्यापारत्वानुपपत्तेः पुनः बन्धहेतुकर्मारम्भप्रसङ्गात्।

ननु मोक्षे कथमानन्दोपभोगसंभवः। तस्य मोक्षदशायामुत्पत्तिस्वीकारे मोक्षस्यानित्यतापत्तेः, इति चेन्न, आत्मनि स्वाभाविकः स्वप्रकाशः आनन्दोऽस्ति; स च संसारदशायां वायुविक्षिप्तदीपवत् दुःखसंवलितत्वेन न प्रकाशते मुक्तौ तु दुःखनिवृत्तौ सत्यां प्रकाशते। तदुक्तम्—

निजं यत्त्वात्मचैतन्यं आनन्दश्चेष्यते च यः।
यच्च नित्यविभुत्वादि तेनात्मा नैवमुच्यते॥ इति[2]

अभावात्मकमोक्षप्रतिपादकं वार्तिकं तु मतान्तराभिप्रायमिति न्यायसुधाकाराणामभिप्रायः।

पार्थसारथिमिश्रास्तु मोक्षे आनन्दानुभवः मनसोऽनुवृत्त्यङ्गीकारेणैवोपपाद्यः, तच्च मोक्षस्यामनस्कत्वश्रुतिविरुद्धमिति अभावात्मकमेव मोक्षं स्वीचक्रुः।[3]

---

१. श्लो० वार्तिक पृ० सं० ४७६, श्लो० ११०
२. न्यायसुधा ३२९-२३१।
३. शास्त्रदीपिका—पृ० २७८ तः २७९ पर्यन्तम्।

तदुक्तं वार्तिके—"नह्यभावात्मकं मुक्त्वा मोक्षनित्यत्वकारणम्"[1] इति। तथा च नैयायिकमोक्षवत् दुःखनिवृत्तिरेव मोक्षः, तस्य जन्यत्वेऽपि दुःखनिवृत्तेर्ध्वंसरूपत्वादनन्तत्वम्। तन्निर्वाहश्चेत्थम्, यो हि देहाद्विरक्त-मजरममरमात्मानं जानाति तस्य विरक्तस्य पूर्वकृतकर्मणां भोगेन क्षये काम्यप्रतिषिद्धयोरकरणात् तन्निमित्तशुभाशुभशरीरानुत्पत्तिः। देहपाते सकलदुःखध्वंसरूपो मोक्षः। तत्र मुमुक्षुणा नित्यनैमित्तिके कर्मणी प्रत्यवाय-परिहायानुष्ठेये। आत्मस्वरूपज्ञानं तु पूर्वकृताधर्मक्षयाय काम्यनिवृत्तये च संपादनीयमिति ज्ञानकर्मसमुच्चयमाहुर्भाट्टाः।

प्राभाकरास्तु—

बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो भिन्न आत्मा विभुर्ध्रुवः।
नानाभूतः प्रतिक्षेत्रमर्थवित्तिषु भासते॥ २॥[2] इति

आत्मा जडः तद्धर्मः ज्ञानं तच्च स्वप्रकाशम्[3]। स्वप्रकाशत्वञ्च पर-प्रकाश्यत्वाभावः न तु स्वविषयकत्वम्, सुखदुःखादय आत्मन एव धर्माः। आत्मा विषयानुविद्ध एव प्रकाशते। सर्वस्य ज्ञानस्य मिति-मातृमेयप्रकाश-रूपत्वात्। तत्र मितिः स्वप्रकाशा, आत्मा मितौ प्रकाशमानोऽपि न मितिकर्म परसमवेत-क्रियाफलभागित्वाभावात्, अपि तु कर्तैव। विषय एव तु कर्म।[4]

मोक्षश्च सांसारिकविविधदुःखोपरमत्वात् पुरुषार्थः, दुःखोपरमस्य पुरुषैरर्थ्यमानत्वात्। सांसारिकसुखं तु दुःखमिश्रितत्वात् दुःखकोटिमेव प्रविशति। न च मोक्षे आनन्दः श्रुतिसिद्धः, श्रुतीनां सिद्धवस्तुबोधकत्वा-भावात्। किन्त्र सिद्धस्यानन्दस्येदानीमभिभवादप्रकाश इति वक्तव्यम्। तन्न, स्वारसिकस्य स्वयं प्रकाशस्यानन्दस्याभिभवायोगात्। न च परम-प्रेमास्पदत्वेनात्मनः आनन्दरूपता, असिद्धेः। सर्वे हि दुःखनिवृत्तिमेव कामयन्त इत्यात्मनि प्रेमाभिमानः। अतः दुःखनिवृत्तिरेव मोक्षः, आत्मन आनन्दरूपत्वश्रुतिः दुःखाभावपरा[5]।

---

१. श्लो० वा० पृ० सं० ४७५।

२. प्रकरणपञ्चिका पृ० ४१६

३. सिद्धान्तबिन्दुः—पृ० १२

४. प्रकरणपञ्चिका पृ० सं० ३३२-३३३

५. प्रकरणपञ्चिका—दुःखनिवृत्तिरेव मोक्षः इति, पृ० ३३४-३३५

स चात्मा विभुः प्रतिशरीरं भिन्नश्च । आत्यन्तिकदेहोच्छेदो मोक्ष इति पर्यवसितम् । तत्र देहस्य धर्माधर्मकृतत्वात् तयोरात्यन्तिकः क्षय अपेक्ष्यते । तदर्थं मुमुक्षुणा काम्यनिषिद्धे कर्मणी वर्जनीये । प्रारब्धं तु भोगेनैव क्षपणीयम् । संचितकर्माणि तु आत्मचिन्तनेन निरसनीयानीति मोक्ष-सिद्धिः[१] ।

तत्र प्राभाकरा देहेन्द्रियसंबंधस्यात्यन्तिकोच्छेदो मोक्षः, विहितात्मज्ञान-पूर्वकवैदिककर्मानुष्ठानात् धर्माधर्मक्षये तत्सिद्धिरित्याहुः ।

भाट्टास्तु ज्ञानकर्मसमुच्चयादेवात्मनो जडबोधात्मकस्य नित्यज्ञानं नित्यसुखं चोच्यते । ततश्च विषयविशेषानपेक्षया नित्यज्ञानेन नित्यसुखाभि-व्यक्तिरित्याहुः ।

मानसज्ञानेन वा नित्यसुखाभिव्यक्तिरिति । केचित्तु तत्पक्षीया आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिं मोक्षमाहुरिति दिक् ।

●

---

१. प्र: रणपञ्चिका—स्वमतेन मोक्ष—तत् साधननिरूपणम्—पृ० ३४१-३४४

चतुर्थोऽध्यायः

विभिन्नवेदान्तप्रस्थानेष्वात्मतत्त्वम्

अद्वैतवादे-आत्मतत्त्वम्

आचार्यबादरायणविरचितेषु ब्रह्मसूत्रेषु अनेके आचार्या विभिन्नदृष्ट्या स्वस्वभाष्याणि विरचयामासुः। भारतीयदर्शनेषु केवलवेदान्तदर्शने एवानेकमतानि दृश्यन्ते। अतोऽस्य दर्शनस्य विचारं स्वतन्त्ररूपेणास्मिन्नाध्याये कुर्मः।

तत्र भाष्यकारेषु मध्ये श्रीशङ्करभगवत्पादाः सर्वप्रथमं ब्रह्मसूत्रभाष्यकारा बभूवुः। ते स्वकीयभाष्यं "अद्वैत" दृष्ट्या प्रतिपादयामासुः। ते श्रुत्युक्तानि "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" "एकमेवाद्वितीयम्", "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति", "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "नेह नानास्ति—किञ्चन", मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति", इति वाक्यानि "तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्यः" इति सूत्रानुसारेण" क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत", वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः" इति स्मृतेर्वचनानुसारेण च सर्वत्राद्वैततत्त्वमिति निर्णीतवन्तः।

वस्तुतस्तु तेषां दृष्ट्या पारमार्थिकरूपेण ब्रह्मसत्तातिरिक्तसत्ता नास्तीति। अतस्तत् सत्तारूपेण, चिद्रूपेण, आनन्दरूपेण चैकमेवात्मतत्त्वं सर्वत्र विराजते। प्रत्यक्षे यत्र कुत्रापि भेदो दृश्यते, तस्य कारणानि अविद्याकृतानि नामरूपाणि। तेषु नामरूपेषु अधिष्ठानरूपेण तदात्मतत्त्वमेवाऽस्ति। अतः समस्तभेददर्शनानि वस्तुतः असत्यानि, मिथ्या च।

आत्मतत्त्वस्य दर्शनस्पर्शनश्रवण-घ्राणरसनादि-गोचरत्वाभावात्, प्रत्यक्षागोचरत्वात् तत् शब्देनैव ज्ञातव्यम्। तत्त्वनिरूपणावसरे ते सत्तात्रयं न्यरूपयन्। ताः सत्ताः पारमार्थिकव्यावहारिकप्रातिभासिकभेदेन प्रसिद्धाः। तत्र पारमार्थिकी सत्ता तु ब्रह्मण एव, ब्रह्मैव सद् वा, व्यावहारिकी प्रपञ्चस्य सत्ता मोक्षपर्यन्तस्थायिनीति। प्रातिभासिकी तु सत्ता शुक्तिरजतादीनामिति मन्यन्ते। तासु सत्तासु ब्रह्मणः सत्तैव नित्यसत्ता इति।

यतो हि वृद्ध्यर्थको बृहधातुः स्मर्यते। भगवत्पादास्तु जीवात्मपरमात्मनोरपि वास्तविकभेदं न स्वीकुर्वन्ति। उपाधिभेदेनैव तयोर्भेद इति। अतस्तेषां भाष्ये ब्रह्म, आत्मा पारमार्थिकं सत् इत्यादयः शब्दाः पर्यायवाचिनः। तदुक्तं भाष्ये "आत्मा च ब्रह्म" इति[1]। तदनुसारेण ब्रह्मात्मनोरभेदात् ब्रह्मजिज्ञासा वा आत्मजिज्ञासा वा कर्त्तव्या इति वेदान्तप्रथमसूत्रार्थः।

स चात्माऽऽप्नोतेरादत्तेरत्तेर्वा निष्पन्नः परः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरशनायादिसर्वसंसारधर्मा-धर्मवर्जितो नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभावोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयोऽद्वयो वा इदं यदुक्तं नामरूपकर्मभेदभिन्नं जगदात्मैवैक इति[2]। तदुक्तं शाङ्करभाष्ये—

"यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥

अत्राऽऽप्तिर्ज्ञानं व्याप्तिश्चोच्यते। सत्तास्फुरणाभ्यां सर्वं व्याप्नोतीति सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं चोच्यते। सत्ताप्रदानेनोपादानत्वसूचनात् सर्वशक्तित्वमस्तीत्यनेन संहर्तृत्वमततीत्यनेन विविधपरिच्छेदराहित्यमुच्यत इति। अशनायादिवर्जितत्वादिति विषयादनेन रूढ्या च प्रत्यगभेदश्चोच्यत इत्युक्तरूप आत्मपदेनोच्यत इत्यर्थः[3]?

आचार्यमतानुसारेण परमपुरुषार्थस्तु "ब्रह्मविदाप्नोति परमिति[4]" मन्त्रवर्णात् ब्रह्मविज्ञानेन सिध्यतीति।

ब्रह्मणः स्वरूपम्

तद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं, सर्वज्ञं, सर्वशक्तिसमन्वितं, नित्यं, सर्वगतं, नित्यतृप्तं, सर्वक्रियारहितं, निरवयवं, निर्विकारं, निरञ्जनं, निर्गुणं, साक्षिस्वरूपं, पारमार्थिकं, कूटस्थं, व्योमवत्सर्वव्यापकं, स्वयंज्योतिःस्वभावम्, चैतन्यमस्ति। इमानि सर्वाणि ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणानि यानि

---

१. १।१।१ भाष्ये द्रष्टव्यम् पृ० ७।
२. शांकरभाष्यम्—क० उप० II अ० मं० १।
३. आनन्दगिरि टीका—ऐतरेयोपनिषत्, १ खं० प्र० मन्त्र, १ पृ० २५-२६।
४. तैत्तिरीय २।१।

ब्रह्मणि सदा तिष्ठन्ति। अन्यल्लक्षणं तु तटस्थं, यत् कस्मिंश्चित् समये लक्ष्ये तिष्ठत् अन्यसमये विलुप्यते। तदुक्तं सूत्रे "जन्माद्यस्य यतः"[१] इत्यस्य प्रपञ्चस्य जन्मस्थितिप्रलया यस्मिन् भवन्ति तद् ब्रह्मेति उक्तम्। ब्रह्मणः सत्तायां श्रुतिरेव प्रमाणम्[२]।

वस्तुस्थितिरपि भवति यत् यद्वस्तु यस्माज्जायते, यस्मिन् जीवति, विलीयते च तत्तस्योपादानकारणमित्युच्यते। यथा पृथिवी ब्रीहियवादीनामुपादानम्। श्रुत्या व्यहवहारेण चास्य जगतो जन्मादिकं ब्रह्मण्येवेति निश्चीयते। अत उपर्युक्तोभाभ्यां लक्षणाभ्यां ब्रह्मणः सिद्धिर्जायते[३]। किञ्चास्य जगतोऽनेकनामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्त्रादि-युक्तस्य, नियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाऽपि अचिन्त्यरचनारूपस्य सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितं ब्रह्म विना उत्पत्तिः भवितुं नार्हतीति ऊह्यते। तथा च श्रुतिः "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" इति[४] कथयति। अतोऽन्यान्यपि एवं जातीयकानि वाक्यानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावब्रह्मणि योजयितव्यानि सन्ति।[५]

ब्रह्मणो ज्ञानं तु शास्त्रादेव भवति। एवं महत ऋग्वेदादेर्ज्ञान-विज्ञान-प्रतिपादकग्रन्थस्याल्पज्ञेन न प्रणयनं शक्यते। यथा एकस्मिन्नेव पाणिनीये ग्रन्थे कियद्विज्ञानमस्तीति विद्वद्भिरनुभूयते तथैव वा ततोऽप्यधिकं ज्ञान-विज्ञानस्वरूपं वेदानामस्तीति तेषां शाखाप्रशाखाभेदेन प्रणयने कः समर्थः स्यादिति जिज्ञासायां सर्वज्ञेन सर्वशक्तिसमन्वितेनेति निश्चीयते। अतस्तद् ब्रह्मण्येव भवतीति शास्त्रावलोकनेनापि दृढ़ीभवति। तदुक्तं बृहदारण्यके "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति।

---

१. ब्रह्मसूत्र १।१।२।

२. यतो वा इमानि भूतानि—(तैत्ति० ३।१)।

३. भाष्ये द्रष्टव्यम्—१।१।२।

४. तैत्तिरीय—२।६।

५. भाष्ये द्रष्टव्यम् १।१।३।

जगतः स्वरूपम्

अत्र जगत उपादानकारणं, निमित्तकारणञ्च ब्रह्मैव भवतीति। तदुच्यते—"स ईक्षाञ्चक्रे[1]", "स प्राणमसृजत[2]" इत्यादिभिः श्रुतिभिरिदं ज्ञायते, स ईक्षापूर्वकसृष्ट्यादिकं कार्यं प्रति निमित्तकारणमिति अभ्युपगम्यते। एवं "आत्मनः सकाशादाकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, तत ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नात् पुरुषः "इत्यनेन सर्वेषां भूतानामुपादानकारणञ्च ब्रह्मैवेति श्रुत्या ज्ञायते[3]।

ननु श्रुत्यन्तरेषु "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनमि"ति उक्तत्वात् निष्कलं निष्क्रियं ब्रह्म कस्यचिद्वस्तुन उपादाननिमित्तकारणं न भवेदिति चेत् न, "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" इति सङ्कल्पादिकं सर्वं चेतनधर्मो भवेत्। अनेन ब्रह्मणि जगतो निमित्तकारणत्वं संभवति। उपादानं तावत् "सर्वाणि ह वा इमानि आकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान् आकाशः परायणम्[4]" इति। यद्वस्तु यस्माज्जायते, यस्मिन् तिष्ठति, यत्र विलीयते च तत्तस्योपादानमित्युच्यते। अत्राऽऽकाशरूपेण ब्रह्म एवाभ्युपगन्तव्यम्। तदुक्तं श्रुत्या—"तदात्मानं स्वयमकुरुत[5]" "इत्यनेनाऽऽत्मानमिति कर्मत्वेन ब्रह्म एव प्रदर्शितम्। तस्मात् सर्वेषां भूतानां, जीवानाञ्च कारणं ब्रह्मेति अवगम्यते। तथा च श्रुतिः "कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्[6]", "यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः[7]" इत्यादिः। एवमादिमन्त्रेण ब्रह्मैव जगत उपादाननिमित्तञ्च कारणमिति निश्चीयते[8]।

---

१. प्रश्नोपनिषत् ६।३।
२. ,, ६।४।
३. तैत्तिरी० उप २।१।
४. छां० उप० १।९।१ मन्त्रः
५. तैत्तिरी० उप० २।७ मन्त्रः
६. —मुण्ड० उप० ३।१।३।
७. ,, १।२।६।
८. योनिश्च हि गीयते (ब्र० सू० १।४।२७)

अतः सङ्कल्पादिविशिष्ट-विवर्ताधिष्ठानत्वेन निमित्तकारणं, प्रकृतिरूपेण चोपादानकारणं ब्रह्मैवेति स्वीकृतम्।

जीवस्य स्वरूपम्

जीवस्तावत् जातो देवदत्तः, मृतो देवदत्त इत्यादिवचनेन जातकर्मादि-संस्कारविधानाच्च जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ स्यातामिति चेन्न, जीवस्योत्पत्ति-प्रलयौ न स्तः। यतोहि उत्पत्तिप्रलयौ च स्थूलशरीरप्राप्तितद्वियोगौ स्तः[१]। तदुक्तं "न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा" इति। ननु जीवस्य यदि जन्ममरणञ्च नास्ति तर्हि जननमरणानां व्यपदेशः कथमिति चेदुच्यते—तद्गौण एवास्तीति। ननु उत्पत्तिविनाशश्रुतयोगौण्यस्तर्हि का वा मुख्यश्रुतिरित्याशङ्कायामाह—स्थावरेषु जङ्गमेषु शरीरप्राप्तिपरिहारा-वेव जन्ममरणमिति। जातकर्मादिविधिनिषेधौ च देहनिमित्तौ[२]। जीवात्मा तु प्राणानां धारयिता, शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसंबन्धी च। स च जीवात्मा किं आकाशवदुत्पद्यते आहोस्विन्नैवोत्पद्यते ब्रह्मवदिति प्राप्ते, कुत्रचित् स्थले "सुदीप्ताग्नेर्विस्फुलिङ्गा इव जीवा ब्रह्मणः सकाशादुप-जायन्त" इति आम्नायते[३]।

ननु जीवात्मा अविकृतपरमात्मैव स्यात् तर्हि अपहतपाप्मत्वमपि स्या-दिति चेत् न, "स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरो"[४], न जायते म्रियते विपश्चित्[५]", अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते[६]", तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्[७]", "अयमात्मा ब्रह्म अपूर्वमनपरं सर्वानुभूः"[८] "एको देवः

१. जीवापेतं वा व किलेदं न जीवो म्रियते—छां० ६।११।३

२. स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरभिसंपद्यमानः स उत्क्रामन्म्रियमाणः (बृह० आ० उप० ४।३।८)

३. यथा सुदीप्तात् पावकद्विस्फुल्लिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्तो—मुंड० २।१।१

४. बृ० आ० ४।४।२५

५. कठ० उप० २।१

६. कठ० उप० २।१८

७. तैत्तिरी० उप० २।६।१

८. बृह० बा० उप० २।५।१९

सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा[१]", इत्यादिषु मन्त्रेषु ब्रह्मैव जीवरूपं प्राप्तमिति ज्ञायते। अतस्तस्य स्वरूपन्तु नित्यचैतन्यमेव, परं ब्रह्मैव उपाधिसम्पर्काज्जीवभावं प्राप्तमित्यवगम्यते। तस्मात् ये अचेतनवादिनस्ते सर्वे श्रुतिविरोधिन इत्यभ्युपगन्तव्यम्।

जीवस्य परिमाणं तावत् किमणु वा, मध्यमं वा, महद् वेति विचार्यते। यदि जीवस्य परिमाणं विभुत्वं चेत्तर्हि तस्य शरीरादुत्क्रमणं न भवेत्। अतः स जीवोऽणुपरिमाण एव भवेदिति। तथा च श्रुतिः—"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः" "यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश"[२], "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च",[३] "आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः",[४] इत्यादिना जीवोऽणुरिति ज्ञायते।

ननु जीवात्मा यदि अणुस्तर्हि सकलशरीरस्य वेदना युगपत् नानुभूयेत इति चेत्— उच्यते यथा हरिचन्दनबिन्दुः शरीरैकदेशस्थत्वेऽपि सकलशरीरं व्याप्नोति तद्वदिति।[५] एवमपवरकैकस्थाने स्थापितदीपोऽपि कृत्स्नमपवरकं प्रकाशयति, तथैव अणुपरिमाणचैतन्यमपि सकलशरीरस्य वेदनां गृह्णातीति प्राप्ते—उच्यते नात्मा अणुर्भवितुमर्हति, कुतः? श्रुत्या परब्रह्मैव शरीरे प्रविष्टमिति उक्तत्वात्[६]। एतेन परस्य ब्रह्मणो विभुत्वमाम्नातम्। तस्मादयं जीवोऽपि विभुरेवेति निश्चीयते। जीवात्मनः स्वरूपं तावत् चैतन्यमेवेति उक्तम्। अतस्तस्मिन् गुणगुणिभावोऽपि नास्ति। अनेनात्मनो मध्यम-परिमाणमपि निराकृतम्। पारिशेष्याद्विभुरेवेति सिद्धम्। जीवात्मनोऽणुत्वा-दिव्यपदेशस्तु बुद्धिगुणादिना पुरस्कृत्योक्तम्।[७]

तद् बुध्यादिना उपाधिना जीवशब्देन व्यपदिष्टम्। तस्योपाधिः—सम्यग् दर्शनं विना न नश्यति। स जीवोऽपि नित्यमुक्तस्वरूपः, ईश्वरादन्यो

---

१. श्वेता० ६।११

२. मुण्ड० ३।१।९

३. श्वेता० ५।९

४. श्वेता० ५।८

५. ब्रह्मसूत्र—२।३।२३, अविरोधश्चन्दनवत्।

६. तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् (तैत्तिरी० २।३।१) अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपेण व्याकरणाणीति (छां० उप० ६।३।२)।

७. बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः (श्वेता ६।८)।

नास्तीति। तथा च श्रुतिः—"नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ, नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ, नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्"[१] "अहं ब्रह्मास्मि"[२] इत्यादिः। स च जीवः परमात्मा, अतो विभुरिति दृढीकरोति।

ननु आत्मा यदि विभुः परमात्मैव स इत्यभ्युपगम्यते तर्हि जुहुयात्, यजेत, दद्यात्, इत्यादीनि विधिनिषेधवाक्यानि व्यर्थानि स्युरिति प्राप्ते उच्यते—कर्तृत्व-भोक्तृत्वादीनामविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात् अज्ञानकाल एव विधिनिषेधवाक्यानि, ज्ञानकाले तानि वाक्यानि न विधायकानि स्युः।[३] तदुक्तं सूत्रभाष्ये—यथा तक्षा वास्यादिकं गृहीतवान् सन् कर्ता भवति तत्त्यक्तवांस्तु अकर्ता च भवति, अयमेव न्यायः सर्वत्रानुषज्यते।[४]

ईश्वरः—

ईश्वरस्तावत् प्राणिनां तत्तत्कर्मानुसारेण सद्गतिं दुर्गतिञ्च तेभ्यो ददाति। स एव जीवानां हृदि तिष्ठन् तेषां पूर्वकृत-कर्मानुसारेण तान् प्रेरयति।[५] ननु कांश्चित् जीवानुद्धरति परमेश्वरः, अन्यानधो नयति। अतः स लौकिकैः समानः पक्षपाती निर्दयश्च भवेदिति चेन्न, कर्म कर्तुं जीवानां स्वातन्त्र्यात्। फलमपि यथाकर्म यथाश्रुतम् इति श्रुतेः कर्मानुरूपं कर्मणां फलमिति निश्चीयते। न तत्र परमेश्वरस्य किञ्चित् नैर्घृण्यं जीवान् प्रति अस्ति। अत ईश्वरो जीवेभ्यः फलप्रदाने निमित्तकारणं पर्जन्यवत्।

एवं स वेदसंरक्षको वेदविहितकर्माणि दृष्ट्वा तदनुसारेण जीवानामुपरि निग्रहानुग्रहौ करोति[६]।

---

१. बृह० आ० उप० ३।८।११।

२. बृह० आ० उप० १।४।१०।

३. यत्र द्वैतमिव भवति, बृह० आ० २।४।१४, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैव बृह० आ० २।४।१४. तत्र को मोह कः शोकः (ईशा० उप० ७)।

४. यथा च तक्षोभयथा २।३।४०, ब्र० सू० भाष्यम्।

५. एष ह्येव साधुकर्म कारयति तं—(कौषी० ३।८)।

६. कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः—सूत्रभाष्य २।३।४२।

केचन भास्करादयो वेदान्तिनः "जीवा ईश्वराद्भिन्नाः" इति मन्यन्ते। एवं तेषु केचन भिन्नाभिन्नाश्चेति। परन्तु शाङ्करमते जीवः संसारदशायामपि ईश्वरादभिन्न एव। ननु "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः", "अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि—"अग्नेर्विस्फुलिङ्गा इव सर्वत्र भेदनिर्देश इति चेन्न, "त्वं स्त्री, त्वं पुमानसि, त्वं कुमार उत वा कुमारी"[1]— "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीराः", "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा"[2] इत्यत्र सर्वत्र मुख्यवृत्त्या अभेदः प्रदर्शितः।

जीवेश्वरयोरुभयोश्चेतनत्वात् जीवोऽपि ब्रह्मैवेति अभ्युपगम्यते। न च जीवः सुखदुःखादीननुभवति, ईश्वरस्तु नानुभवति इति वाच्यम्, तस्याविद्याकृतत्वात्। अविद्याऽपनयने सुखदुःखादीनामपि अभावो भवति।[3]

ननु यदि जीवेश्वरयोरभेदः स्यात् तर्हि अनुज्ञापरिहारौ न स्यातामिति चेद् न, देहसंबंधादनुज्ञापरिहारौ प्रदर्शितौ। जीवो नाम उपाधितन्त्रः, उपाधिनिवृत्तौ सत्यां जीवत्वमपि निवर्तते। यथा जले सूर्यस्याभासो जलकम्पने कम्पते, तथैव शरीर-संसर्गात् विधिनिषेधौ स्तः। अत उपाधिनिराकरणे सति विधिनिषेधयोर्लवोऽपि जीवे नायाति। एवमात्मा सूर्यवदचलः शुद्धः स एव ब्रह्मेति सिद्धान्तः।

जीवगतिः—

जीवानां मरणादूर्ध्वं गतिर्विचार्यते। तत्र ये अकामनिष्कामाप्तकामात्मकामा ज्ञानिनश्च तेऽत्रैव मुच्यन्ते, इयं जीवन्मुक्तिरित्युच्यते। अतिदुर्लभा इयं मुक्तिः। अन्ये ये शुभकर्माणस्ते देवयानं वा पितृयानं वा गच्छन्ति। ये निन्दितकर्माणस्तेऽधोगतिंतिं प्राप्नुवन्ति, स्थावरजङ्गमेषु विचरन्ति पश्वादिरूपेण वृक्षलतादिरूपेण वा।

ये ईश्वरार्पणबुद्ध्या कृतकर्माणः सगुणोपासकाः सूर्यमण्डलात् विद्युतं प्राप्य ततोऽमानवेन ब्रह्मलोकं गच्छन्ति। तत्र ते ब्रह्मणा सह कल्पान्तेषु मुच्यन्ते इति। इयं क्रममुक्तिः। अपरे ये इष्टापूर्तादिशुभकर्मभिश्चन्द्रमण्डलं

---

१. श्वेता० ४।३

२. बृहदारण्य० ३।७।२३।

३. प्रकाशादिवन्नैवं परः २।३।४६ भाष्ये।

ततो धूमयानेन स्वर्गादि (पितृ) लोकञ्च प्राप्य कर्मानुसारेण तत्र सुखानि उपभुञ्जते। यदा शुभकर्मफलं क्षीयते तदा मेघेन वर्षं भूत्वा पुनरागच्छन्ति अस्मिंल्लोके। अत्र सस्यादिरूपेण प्रादुर्भवन्ति। ते एवान्नरूपेण प्राणिनां शरीरे प्रविशन्ति। तत्र वीर्यरूपेण परिणम्य स्त्रीपुरुषयोः संभोगकाले स्त्रीणामुदरमाविशन्ति। ततः पुनः जायन्ते। इदं कर्मफलं संसारः, महद्वैचित्र्यम्, जीवानां बन्धनम्। अतो जन्मनिमित्तदुःखानि दृष्ट्वा ये मुमुक्षवः सन्ति तेषां कृते मुक्तये साधनानि निरूपयन्ति श्रुतयः।

साधनम्—

किं कर्मणा प्राप्तस्य जन्मादिकदुःखस्य शास्त्रोक्तकर्मणा नाशो भवति आहोस्विज्ज्ञानेन नाशो भवतीति संशयः। तत्र कर्मणा चतुर्विधानि फलानि भवन्ति, यथा उत्पाद्यम्, आप्यं, विकार्यं, संस्कार्यञ्चेति। तत्रोत्पाद्यं तावन्न संभवति, तथा सति कर्मणा प्राप्तमोक्षस्यापि अनित्यतापत्तेः। एवमेव विकार्यमपि पूर्वोक्तदोषेण दूषितत्वात् न सङ्गच्छते। आप्यत्वे कर्मणा ब्रह्मणः परिच्छिन्नत्वापत्तेः। संस्कार्यमपि न युक्तं तेन नित्यशुद्धबुद्धब्रह्म-स्वरूपमोक्षस्य स्वरूपहानिप्रसङ्गात्। अतः केनचिदपि कर्मणा मोक्षस्या-संभवः। तस्माद् ज्ञानादेव मोक्षसंभवः। उक्तञ्च—"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।" अतो बन्धपरिहाराय स्वरूप-ज्ञानमेव कारणमिति। स्वरूपज्ञानं तु वेदान्तवाक्यार्थानां श्रवणमननिदिध्यासनेनैव भवति। अतो महावाक्यार्थविचारः कर्तव्यः।

जीवेश्वराभेदप्रतिपादकानि तत्त्वमस्यादि-वाक्यानि यदा साधकेन "त्वमहमस्म्यहञ्च त्वमसी"ति भावनया विचार्यन्ते तदा स्वरूपसाक्षात्कारो-ऽविद्या-निवृत्तिश्च भवति। तदुक्तम्—अविद्याऽस्तमयो मोक्षः" इति। तदेव ब्रह्मसंस्थितिर्वा, अमृतत्वं वा इत्युच्यते।[1]

मुक्तिः—

मुक्तिप्राप्त्यर्थमाचार्याणां विभिन्नमतानि सन्ति। यथा "त्रयो धर्म-स्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति"[2] ज्ञानकर्मसमुच्चयेनेति केचन मन्यन्ते।

---

१. छान्दोग्य—उप० २।२३।१।

२. तदेव २।२३।१।

अन्ये "तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये"[१] इति वैखानसः। अपरे "एवमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति"[२] इति पारिव्राज्यात् अर्थात् संन्यासादेव मुक्तिरिति।

तत्र जैमिनिस्तु यज्ञोऽध्ययनदानमिति कर्मसहितज्ञानादेव मुक्तेः प्राप्तिरिति वदति। बादरायणास्तु पारिव्राज्यमपि वेदसम्मतमिति मन्यन्ते। अतस्तत् समभिहारात् परिव्राजकस्यैव ज्ञानान्मुक्तिरित्युच्यते। वैखानसवानप्रस्थादयः पुण्यलोकभागिनो भवन्तीति। तदुक्तं श्रुत्या—"न्यास ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्म",[३] "संन्यासयोगाद्विशुद्धसत्त्वा"—इति संन्यासेन ब्रह्मप्राप्तिरिति मन्यन्ते। तदुक्तं जाबाले—"परिव्राडविवर्णवासो मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवतीति।"[४]

अस्मिन् मते मुक्तिद्वयं प्रतिपादितम्, जीवन्मुक्तिर्विदेहमुक्तिश्चेति। येषामविद्यादयो दोषा निर्गतास्तेषामत्रैव मुक्तिरिति जीवन्मुक्तिः। येषामाविद्यादिकं शरीर-पर्यन्तं तिष्ठति ततो नश्यति तेषां विदेहमुक्तिरिति स्वीकृतम्।

केचन दार्शनिका मन्यन्तेमुक्त्यां शरीरेन्द्रियमनआदीनि अवतिष्ठन्त इति। परन्तु शाङ्करमते एतन्नास्ति। तदुक्तं श्रुत्या—"अशरीरं वावसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः" इति। ये सगुणोपासकास्तेषां ब्रह्मलोकपर्यन्तशरीरं भवति। तत् कल्पान्ते ते कार्यब्रह्मणा सह परब्रह्मणि विलीयन्ते। तदा जीवो यथा लवणमुदके समवलीयते तथैव स परब्रह्मणि एकीभवति। इयमेवाद्वयात्मकमुक्तिरद्वैतवादिनः श्रुतिसम्मता।

किञ्च—ये जना नाड्या रश्मिभिरर्चिरादिना देवयानेन वा शास्त्रोक्ताग्निहोत्रादिकर्मणा वा ब्रह्मलोकं गताः, तेषां पुनरावृत्तिरस्ति न वेति विचार्यते। तदुक्तं श्रुत्या "तयोर्ध्वमायन्नममृतत्वमेति"।[५] न पुनरावर्तन-

---

१. मुण्डकोपनिषत् १।२।११।

२. बृह० आ० उप० ४।४।२२।

३. नारा० उप० ७८

४. जाबालश्रुतिः—५

५. छान्दोग्ये ८।६।६, क० उप० ६।२।५

मिति उक्तम् "एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते",[१] "ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते"[२] इति च। सूत्रञ्च "अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्" इति "कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परम-"[३] भिधानात् इत्यत्र च येषां सम्यग्दर्शनेन विध्वस्ता अविद्यादयो दोषास्तेषां तु नित्यसिद्धा निर्वाणस्वरूपमुक्तिः, अन्ये ये सगुणोपासका ब्रह्मलोकं प्राप्तास्तेषामपि चानावृत्तिरिति श्रुत्या प्रतिपादितम्।

एते हि आत्मसम्बन्धिनो विविधविचारा अद्वैतमतानुसारेण प्रदर्शिताः।

औपाधिकभेदाभेदवादे-आत्मतत्त्वम्

ब्रह्मसूत्रोपरि भगवतः शङ्कराचार्यात् पश्चात् श्रीभास्कराचार्याः स्वीयभाष्यं रचयामासुः। ते ब्रह्मसूत्रेषु भेदाभेदात्मकं तत्त्वं वर्णितमिति मन्यन्ते। तेषामयमभिप्रायो यत् वेदान्तप्रतिपादितं यद् ब्रह्म तत् कारणात्मना, कार्यात्मना, जीवात्मना च रूपेण आत्मानं प्रविभज्य तिष्ठति। अतस्तत्त्वं भेदाभेदात्मकमिति स्वीकृतम्। तदुक्तं स्वीयभाष्ये—सत्ता-ज्ञेयत्व-द्रव्यत्वादि-सामान्यात्मना सर्वमभिन्नं, व्यक्त्यात्मना तु औपाधिकात् परस्परवैलक्षण्याद्भिन्नमिति सिद्धान्तः। तदुक्तम्—

कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।
हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा[४] **॥ इति।**

ब्रह्म

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इति सूत्रोक्तब्रह्मशब्देन ब्रह्म, ईश्वरः, परमात्मा च गृह्यते। न ब्राह्मणजातिवेदचतुर्मुखानामत्र ग्रहणं परमात्मलक्षणस्य वक्ष्यमाणत्वात्।

स च ईश्वरः, सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान्, चेतनः, व्यापको जगतोऽपि कारणमस्ति। तस्मादेवास्य जगतो विविधविभक्तभोक्तृसंयुक्तस्य नियत-

---

१. छान्दोग्ये ४।१५।६।
२. छान्दोग्ये ८।१५।१।
३. ब्रह्मसू० ४।४।२२, ४।३।१०।
४. सूत्रभाष्ये द्रष्टव्यम्—१।१।४ पृ० १८।

देशकालफलोपभोगाश्रयस्याचिन्त्यरचनस्य सृष्टिस्थितप्रलयाः प्रवर्तन्ते। स एवास्य जगत उपादाननिमित्तकारणमस्ति। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इति श्रुतेः "जन्माद्यस्ययतः" इति सूत्रप्रामाण्याच्च। परमात्मनो ज्ञानं तु शास्त्रादेव भवति "शास्त्रयोनित्वात्" इति सूत्रप्रामाण्यात्। श्रुत्यन्तरमपि, यथा—

"द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति, खं वै नाभि चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे।

दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च, सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता[1]॥इति

तैत्तिरीयके—अन्नमयं, प्राणमयं, मनोमयं, विज्ञानमयमिति-अनुक्रम्याम्नायते—"तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय इति। तत्र शङ्कते—आनन्दमयशब्देन प्रकृतं ब्रह्मैव परिगृह्यते? किं वा अर्थान्तरमिति? तत्राऽऽनन्दमयः प्राप्तैश्वर्यो हिरण्यगर्भादिः व्यपदिश्यते। प्रियाद्यवयवयोगाच्छरीरत्वश्रवणात्। तदुक्तं "तस्य प्रियमेव शिरः" इत्यादि। अतस्तन्मुख्यपरमात्मनि न घटते—इति प्राप्ते—उच्यते—ब्रह्मैवानन्दमयो न विकारापन्नो जीव आनन्दमयो भवितुमर्हति कुतोऽभ्यासात्। "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्",[2] "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्",[3] "एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रामति"[4] इति। ननु आनन्दमयवदमुख्य आत्मेति चेत्, नायं दोषः, परमात्मनो व्यापकत्वात् सर्वान्तरश्रुतेः। अतः आनन्दमयः परमात्मेति निश्चीयते, "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"[5] इति श्रुत्या प्रकृतस्य ब्रह्मणः प्रतिपिपादयिषितत्वात्[6]।

तत्र केचन दार्शनिकाः "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इत्यनेन मन्त्रेण ब्रह्म पुच्छवत् सर्वेषामाधारमिति व्याख्यातवन्तः। तन्न सङ्गच्छते, यतोहि आनन्दमयो न जीवः परन्तु परमात्मैवेति। तदुक्तम्—"यदा ह्येवैष

---

१. सूत्रभाष्ये द्रष्टव्यम्-१।२।२५, पृ० ४८।

२. तैत्ति० ३।६।

३. तैत्ति० २।४

४. तैत्ति० ३।१०।५

५. तैत्ति० २।१।१

६. आनन्दमयोभ्यासात् १।१।१२, पृ० २५

एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवतीति"[1]। श्रुतिरियं परमात्मपरिग्रहेऽवकल्पते, न तु जीवपरिग्रहे सङ्गच्छते।

ननु पुच्छादिकं प्रियशिरस्त्वादिकञ्च ब्रह्मणो न कल्पते सविशेषत्वापत्तेरिति चेदुच्यते—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"[2] इति श्रुतिः सविशेषनिषेधवाक्यम्। सिद्धान्ते "एतस्यैवानन्दस्य परमेश्वरस्य शतगुणोत्तरक्रमेणाऽऽनन्दरूपत्वं प्रतिपादितमिति निर्णीयते[3]।

जगत्

भेदाभेदवादे तु जगतो निमित्तोपादानकारणं ब्रह्मैवेति स्वीकृतम्। तदुक्तं श्रुत्या "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय", बहुभवामीति। अत्र सङ्कल्पादिकं सर्वं चेतनगुणो भवितुमर्हति, न प्रकृतेर्गुणः[4]। एवं "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते। आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति" इति उत्पत्तिप्रलयौ श्रुत्या आकाशे ब्रह्मण्येव उक्तौ। तद्यथा पृथिव्यां भूतग्रामः[5] उत्पद्यते लीयते च।

"तदात्मानं स्वयमकुरुतेति" श्रुत्या कृतिकरणत्वेन, कर्तृत्वेन, कार्यत्वेन चात्मा निर्दिश्यते। ननु कर्तृकरणयोर्भेद एव सिध्यतीति चेन्न, परिणामात्। स च परमात्मा स्वयमात्मानं कार्यत्वेन परिणमयामास इति आचार्येण जगत् प्रति परिणामवादः स्वीकृतः।

ननु परमात्मा शुद्धश्चेतनस्तर्हि तस्य परिणामोऽपि चेतन एव भवेदिति चेदुच्यते, पदार्थानां विभिन्नरूपेण परिणामात्। तस्मादिदं जगत् जडमस्ति, किन्तु तन्नित्यं विकारि चास्तीति अभ्युपगम्यते।

किञ्च भगवतोऽनन्ता हि शक्तयः सन्ति। स भगवान् ताः प्रक्षिपति उपसंहरति च यथा सूर्यः स्वकिरणान् प्रसारयति उपसंहरति, तद्वत्। तथा

---

१. तैत्तिरी० २।७

२. ,, २।४।५

३. सूत्रभाष्य १।१।१९, द्रष्टव्यम्

४. अभिध्योपदेशात् १।४।२३

५. साक्षाच्चोभयाम्नानात्

च मन्त्रवर्णः भाष्यकारेणोद्धृतः—"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"[1] इति। अतः स च परमात्मा स्वशक्त्या कार्यात्मना, करणात्मना, कर्त्रात्मना, कृत्यात्मना च परिणमयामास इति इदं जगत् ब्रह्मणः परिणाम इति मन्यन्ते।

जीवः

जीवोऽपि ब्रह्मणः परिणामः। तद् ब्रह्म स्वशक्त्या आविर्भवति तिरोभवति चेति भगवतो विशेषशक्तिं वर्णयामास। एवमेतेषां मते प्रपञ्चस्य प्रविलापनमपि न भवति यथा अद्वैतवादिनां मते प्रसिद्धम्। जगत् प्रति अविद्या कारणमिति येऽद्वैतवादिनः वदन्ति तान् प्रति तेषां कथनमस्ति यत् अविद्या तु महायानिकं बौद्धादागतमिति।[2] "कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्" इत्यनेन जगत उपादाननिमित्तकारणं ब्रह्मैव भवतीति स्वीचक्रुः[3]।

जीवस्तु स्वरूपश्चेतनः परिमाणतोऽणुः परमात्मनो भिन्नो भोक्ता चास्ति। यतः स अणुः ततः स शरीरे प्रवेष्टुं शक्नोति। यदि स विभुस्तर्हि तस्य शरीरे प्रवेशाभावात् तन्नोपपद्यते। एवं जीवात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादयः सर्वे तस्योपाधयः। इमे उपाधयो मुक्तिपर्यन्तं जीवात्मनि तिष्ठन्ति। अणुत्वादिपरिच्छिन्नधर्माश्च तावदेव तिष्ठन्ति। यावन्न ते मुच्यन्ते। ननु जीवात्मा अणुस्तर्हि सकलशरीरस्य वेदनां न गृह्णीयादिति चेन्न, चन्दनबिन्दुवदुपपत्तेः। ललाटस्थचन्दनबिन्दोः सर्वशरीरे सुगन्धः प्रसरति आह्लादयति च तथैवाणुरात्माऽपि सकलशरीरवेदनां गृह्णातीति तदुक्तं श्रुत्या—

> **बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।**
> **भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते[4]॥**

---

१. आत्मकृतेः परिणामात् १।४।२५, श्वेताश्वेतर ६।८

२. सूत्रभाष्यम् १।४।२५

३. योनिश्च हि गीयते १।४।२६, ब्र० सू०

४. श्वेता० ५।९

"आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः"[१] इत्यादि श्रुतिवचनमात्मनोऽणुत्वं निरूपयति।

एवं जीवात्मनो ब्रह्मणा सह भेदाभेदौ तु "अग्नेर्विस्फुलिङ्गरूपेण", "समुद्रे तरङ्गबुद्बुदबिन्दुरूपेण" च भवतः। तस्य ज्ञातृस्वरूपस्य चैतन्यं सर्वदा अपरोक्षमस्तीति। जीवस्य जननमरणं तु ग्रामवासिनो स्वग्रामप्रवेशनिर्गमनमिव जायते। तस्याणुत्वादिकं तु चेतसा ज्ञातव्यमिति। तदुक्तं "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः"[२] इति।

किञ्च—जीवो नाम पञ्चभूतानां सूक्ष्मावस्थैरिन्द्रियैश्च तदाश्रितैः पञ्चवृत्तिना वायुना परिवेष्टितः विभिन्नशरीरेषु संसरति। इमे सर्वे तस्योपाधयः। शङ्करदर्शने जीवात्मनः त्रीणि शरीराणीति कथयन्ति। तद्यथा स्थूलसूक्ष्मकारणानीति। परन्तु भास्करदर्शने शरीरद्वयमेवोक्तम्। स्थूलं सूक्ष्मञ्चेति। तत्र पुराणदृष्टान्तमाह—

पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते।
तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन च॥[३] इति।

जीवात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिकं सर्वमनित्यमिति मन्यते। तद्यथा तक्षा वास्यादिकरणयुक्तः सन् कर्ता भवति, तद्वियुक्तः सन् अकर्ता, तथैव जीवात्माऽपि कर्ता भोक्तेति मन्यन्ते।[४]

किञ्च—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः", अंशो नानाव्यपदेशात्, "ब्रह्मदाशा ब्रह्मेमे कितवाः कैवर्ता" इति, "त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि विश्वतो मुखः" इति जीवात्मपरमात्मनोरभेदव्यपदेशः। ननु श्रुत्युक्तानुज्ञापरिहारौ न स्यातामिति चेन्न, अनुज्ञापरिहारादिकं सर्वं देहसम्बन्धमधिकृत्य भवति। यथा ऋतौ भार्यामुपेयादिति अनुज्ञा, परभार्यां न गच्छेदिति परिहारः। अतो लौकिकव्यवहारादिकमुपाधिवशाद्भवतीति[५]।

---

१. श्वेता० ५।८

२. मुण्ड० ३।१।९

३. तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः २।३।२९, ब्र०सू०

४. यथा च तक्षोभयथा—२।३।४०, ब्र०सू०

५. अनुज्ञापरिहारौ २।३।४८, सू० भा०

ये केचनाभासवादिनः, प्रतिबिम्बवादिनस्तान् प्रति आचार्याः कथयन्ति यत् प्रतिबिम्बादयः सर्वे वस्तुनि अवस्तूनां शशविषाणवत् कल्पना अस्ति। अतस्तन्न युक्तम्, यतस्तेषां मते न बन्धो न वा मोक्षो न च कर्माधिकारो वा सम्भवेत्। तस्मात् प्रतिबिम्बादयः सर्वे वादा विद्वद्भिर्निराकरणीया इति[1]।

साधनम्

परमपुरुषार्थरूपमोक्षस्तु ज्ञानकर्मसमुच्चयेन प्राप्यत इत्याचार्या मन्यन्ते। तदुक्तम्—"कर्मणि चापरिज्ञाते विद्यायाः केन समुच्चयः केन नेति विभागो न शक्यते वदितुं हेयोपादेयप्रतिपत्त्यभावात् इति[2]।"

कर्म

"विधिनिषेधात्मकं कर्म, ब्रह्मज्ञाने को वा विधिरिति चेत्", "श्रोतव्यो मन्तव्यः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यश्च तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्[3]" इत्यादीनि वचनानि सन्ति। अन्यदपि "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः[4]" इति। अत्र द्रष्टव्यशब्दस्य न विज्ञानात्मनो दर्शने तात्पर्यं, अपितु परमात्मदर्शन एव तात्पर्यमिति तेषां सिद्धान्तः। कर्माणि चत्वारीति प्रसिद्धम्। यथा—उत्पाद्यं, प्राप्यं, विकार्यं, संस्कार्यञ्चेति। तत्रोत्पाद्यविकार्यसंस्कार्यकर्माणि न मोक्षाय संभवन्ति। परन्तु प्राप्यं कर्म तु सम्भवति। "यज्ञेन दानेन तपसा" इत्यादिश्रुत्या तस्य विनियोगदर्शनात् कर्मसमुच्चित ज्ञानेनैव मोक्षः स्यात् इति सिद्धान्तः[5]।

ननु "पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च" व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीति श्रुत्या कर्मप्रतिषिध्यते इति चेदुच्यते—तत् स्मृतिप्राप्तस्यैवानुवादत्वात्। संन्यासस्तु पुत्रादिलिङ्गाद् गार्हस्थ्यादुत्थायाऽऽश्रमान्तरं प्राप्नोतीति मुख्यार्थत्त्वात्। स्मृत्यनपेक्षित्वे सति तु शाक्यक्षपणकादीनां

---

१. आभासा एव च २।३।५०,५३।

२. ब्र० सू० १।१।१

३. ब्र० सू० १।१।१

४. बृ० आ० उप० २।४।५

५. ब्र० सू० भाष्यम् १।१।४

भिक्षाचरणेष्वपि श्रौतत्वं प्रसज्येत। श्रवणमननादौ च त्रिदण्डयज्ञोपवीतादि-नियमादुत्तमाश्रमः स्वरूपतो धर्मतश्च स्मृतौ ज्ञायते। तथा च मन्त्रवर्णः— "मन्त्रतपः प्रभावाद् देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्। अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यग् ऋषिसङ्घजुष्टमिति[१]" इति। न च त्यक्तसर्वकर्मणां केवलादेव ज्ञानान्मोक्षः स्यादिति वाच्यम् "वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।" "नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्राशिष्याय वा पुनः"[२]। इति मन्त्रप्रमाणेन च सर्वकर्मसंन्यासो वेदविरुद्ध इति स्फुटम्। अन्यानि च वाक्यानि "ब्रह्मविज्जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेनेजे"[३] इति विद्यावत एव कर्माणि—इति विधानात्। तदुक्तमाचार्यं कुलाद्वेद-मधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य स्वकुटुम्बे शुचौ अर्थावबोधपर्यन्तः स्वाध्यायविधिरिति"[४]। तस्मात्—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा" इत्यादिभिर्लिङ्गैश्च ज्ञानकर्मसमुच्चयेनैव मोक्षः[५] सिध्यतीति।

तत्त्वमसीति वाक्ये त्वमहमहञ्च त्वमसीति व्यतिहारो व्यत्ययः कर्तव्यः, विरूपा दृष्टिरेका कर्तव्या इति तस्य तात्पर्यम्। अनेनाभ्यासेन जीवात्म-परमात्मभावनायामेकत्वं = परमात्मभावना दृढ़ी भवति। तत्र द्वैतवादिनो जीवात्मपरमात्मैक्यभावना अनिष्टास्यादिति। किन्तु एतेषां मते तन्न भव-तीति निर्णीयते। यथा तृणमग्नौ क्षिप्यतां, अग्निस्तृणे वा क्षिप्यतामुभयथाऽपि तृणमेवाऽग्नौ लयं प्राप्नोति। तद्वदेव जीवः परमात्मनि विलीयते[६]।

जीवानां गतिः

जीवात्मनो मरणादूर्ध्वं त्रिधा गतिरुक्ता। तत्र विदुषां देवयानम्, कर्मिणां पितृयानम्, दुष्कर्मिणां अधोगमनमिति।[७] केचन दार्शनिका

---

१. श्वेता० ६।२१

२. श्वेता० ६।२२

३. बृह० आ० ३।१।१

४. छां० ८।१५।१

५. ईशा० उप० २, सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेरश्ववत् ३।४।२६, ब्र०सू०भा०

६. व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवत् ३।३।३७ ब्र०सू०भा०

७. ब्र०सू० भाष्यं द्रष्टव्यम्—४।२।७, ४।२।१

विद्यावतामत्रैव ब्रह्मप्राप्तिरिति यद् वदन्ति, भास्कराचार्यास्तु तन्न मन्यन्ते। तदुक्तम्—"शुको वैयासिकिरादित्यमण्डलं प्राप्य सर्वात्मभूतोऽभवदिति" शुकस्यार्चिरादिना गतिरुक्ता—

सन्निरुद्धस्तु तेनात्मा सर्वेष्वायतनेषु वै।
जगाम भित्त्वा मूर्धानं दिवमित्युपपात ह॥

अन्यदपि—

सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग् भूतानि पश्यतः।
दिवापि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः॥

मन्त्रवर्णश्च—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति[1]॥

एतेषां मते मुक्तानामियमेव गतिः। तदर्चिरादिना आदित्यं, ततश्चान्द्रमसं, ततो विद्युतं, ततस्तेनैव आतिवाहिकशरीरेणामानवो ब्रह्मलोकं गमयतीति श्रुत्या श्रूयते। सूक्ष्मशरीरपरिवेष्टितानां स्वातन्त्र्येण गमनागमनानुपपत्तेः[2]। तत्र ये साक्षाद् ब्रह्मणः एवोपासकास्ते सद्य एव मुच्यन्ते। अन्ये हिरण्यगर्भं प्राप्य तत्र ज्ञानप्रकर्षेण तेन सह मुच्यन्ते इति। द्विविधा मुक्तिः—सद्योमुक्तिः क्रममुक्तिश्चेति, न तु जीवन्मुक्तिरिति तेषां सिद्धान्तः।

मुक्तेः स्वरूपम्

मुक्तौ सर्वे जीवात्मानः परमात्मना समानाः सर्वज्ञाः सर्वशक्तिमन्तः सर्वात्मानो भवन्तीति। एकदा सद्यो वा क्रममुक्तौ वा कार्यब्रह्मापि प्राप्तः सन् "न च पुनरावर्तते" इति श्रुतिसूत्रपक्षमेव समर्थयन्ति।

संसारे (व्यवहारे) भेदवादः, मुक्तौ अभेद इति भेदाभेदवादिनां सिद्धान्तः।

---

१. कठ० उप० २।३।१६ मन्त्रः, आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्, ब्र० सू० ४।३।४

२. अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायणः—४।३।१४ सू० भा०

विशिष्टाद्वैतवादे–आत्मतत्त्वम्

ब्रह्मसूत्राणां लोकप्रियभाष्येषु अद्वैतवादात् पश्चात् विशिष्टाद्वैतवादस्यैव प्रसिद्धिरस्ति। विशिष्टाद्वैतभाष्यकाराः स्वीय श्रीभाष्यं भेदविशिष्टाभेदं वा द्वैतविशिष्टाद्वैतं वा इत्यर्थेन "विशिष्टाद्वैतनामकं" भाष्यं रचयामासुः। एतद् भाष्यकाराणां श्रीमद्रामानुजाचार्याणां दृष्टौ ब्रह्म न केवलं चैतन्यमात्रमपितु चिदचिद्विशिष्टश्चास्ति। उभे तस्य ब्रह्मणः शरीरे स्तः चिदचित्पदाभ्यां भोक्तृभोग्यपदार्थौ गृहीतौ स्तः। अतः सर्वत्र ते विशिष्टाद्वैतं ब्रह्मतत्वमिति वदन्ति, न केवलाद्वैतमात्रमिति।

विशिष्टाद्वैतप्रतिपादकश्रुतिवाक्यानि—"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति"– इत्यारभ्य य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः,"[१] "यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद इत्यारभ्य योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद, यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन् यस्य मृत्युः शरीरं यं मृत्युर्न वेद—एष सर्वभूतानान्तरात्मा दिव्यो देव एको नारायणः"[२] इति। अत्र मृत्युशब्देन वाच्यं तमः स्वीकृतम्[३]। यथा "अव्यक्तमक्षरे लीयते, अक्षरं तमसि लीयते" इति, "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा.......[४]", अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः" "मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्[५]", "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः[६]", "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गणेशः[७]", "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा[८]",

---

१. बृह० आर० उप० ३।७।३

२. सुबालो० ७

३. सुबालो० २.

४. यजुरारण्य० ३।११।२१

५. श्वेता० ४।९,१०

६. श्वेता० १।१०

७. श्वेता० ६।१६

८. श्वेता० १।१२

"पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा[१]", इत्यादीनि श्रुतिवाक्यानि "अहङ्कार-इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा[२]", "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्[३]" इत्येवं जातीयस्मृतिवाक्यान्यपि योजयामासुः ।

तेषु वाक्येषु कार्यावस्थः, कारणावस्थः, स्थूलसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरो नारायणः परमपुरुषः सर्वेषां कारणमस्ति । तस्मिन् सर्वाणि कार्याणि अनन्यत्वेन तिष्ठन्ति । अतस्तस्य विज्ञानेनेदं सर्वं चिदचित् स्थूलसूक्ष्मवस्तु ज्ञातं भवतीति तेषामभिप्रायः[४] ।

ब्रह्म

आचार्यमतानुसारेण नारायण एव परब्रह्म । स अक्षरः, शिवः, विश्वशम्भुः, परब्रह्म, परञ्ज्योतिः, परत्वादिशब्दनिर्दिष्टः, उपास्यवस्तु अस्ति । तदुक्तं श्रुतिषु—"विश्वमेवेदं पुरुषः", 'तत्त्वं नारायणः परः" "तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः", "अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणस्थितेः", "सब्रह्म सशिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमेश्वराद् इत्यादीनि वाक्यानि च उदाहरन्ति ।

स सर्वज्ञः, सर्वशक्तिमान्, निरस्तनिखिलदोषः समस्तहेयगुणरहितश्चास्ति । एवं स अनवधिकासंख्येयकल्पनातीतगुणानामाकरः, पुरुषोत्तमः, सर्वेश्वरश्चास्ति[५] । अपि च स नित्यः सर्वक्रियाश्रयः, नित्यतृप्तः, सावयवः, सविशेषः सगुणः, कर्ता, चिज्जडशरीरवान्, विभुः, सूक्ष्मः, सर्वगतः, अव्ययः, सर्वभूतयोनिः[६], सत्यकामः, सत्यसङ्कल्पः, भगवान् "संभर्तेति तथा भर्ता भकारार्थद्वयान्वितः । नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने ! ॥" "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णांभग इतीरणा" ॥ वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि । स च सर्वेषु भूतेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः[७] ॥ इमानि सर्वाणि लक्षणानि परब्रह्मणि वासु-

---

१. श्वेता० १।६
२. भग० गीता ७।६
३. भग० गी० ९।१०
४. ब्र० सू० पृ० १५५
५. ब्र० सू० पृ० ६।७
६. ,, ,, पृ० ८०
७. ,, ,, पृ० ९८

देव एव घटन्ते, नान्यत्रेति। तत् परब्रह्म सविशेषम्, विभूतिरूपम्, इदं जगदपि पारमार्थिकमिति। कृत्स्नमिदं विश्वं तस्य शरीरमस्ति।

शाङ्करमते—तद्ब्रह्म निर्गुणं निर्विशेषञ्चास्ति। परन्तु रामानुजमते सगुणं सविशेषञ्चेति। तेषामियं युक्तिर्यत् श्रुतिन्यायानुगृहीतप्रत्यक्षादिसकलप्रमाणवृत्तयाथात्म्यं सविशेषमेवेति। यतो हि निर्विशेषवस्तुनः प्रमाणादिकं न वक्तुं शक्यते, सविशेषत्वात् सर्वप्रमाणानाम्।[1] तस्मात् निर्विशेषवस्तुनो जगदुपादानकारणत्वमपि न सङ्गच्छते। यदि निर्विशेषं वा अभावो वा वस्तुनो भावः, तदा प्रपञ्चस्योत्पत्त्यादिश्रुतयो व्यर्थाः स्युरिति। यत्र कुत्रापि निर्गुणश्रुतयः सन्ति, ताः सर्वाः परस्य ब्रह्मणो हेयगुणान् प्रतिषेधन्ति। यथा सत्यकाम-सत्यसङ्कल्पान् गुणान् सविशेष एव कथयन्ति इति।[2] निर्गुणनिर्विशेषपुरुषो नास्तीति। अतः शास्त्रेषु न निर्विशेषवस्तुनः प्रतिपादनमस्ति। नापि चिदचिदीश्वराणां स्वरूपभेदनिषेधोऽप्यस्ति।[3] शब्दप्रमाणमपि सविशेषवस्तुन एव भवति, सविशेष एवाभिधानसामर्थ्यात्। निर्विशेषवस्तुप्रतिपादनसामर्थ्यं पदवाक्येषु नास्तीति मन्तव्यम्।[4]

अद्वैतवेदान्ते ब्रह्मणः सजातीयविजातीयस्वगतभेदो नास्तीति। अत्र सजातीयविजातीयभेदौ ब्रह्मणि न मन्यन्ते, परन्तु स्वगतभेदं स्वीचक्रुः।[5] "जन्माद्यस्य यतः" इति सूत्रं निर्विशेषब्रह्मणस्तटस्थलक्षणमिति यदुक्तमद्वैतवादिभिस्तन्निराकुर्वन्ति। किन्तु विशेषणविशिष्टलक्षणेनैव वस्तुनो व्यावृत्तिर्भवतीति उच्यते। एवं निर्विशेषे कस्यचिदपि विशेषणस्य व्यावृत्तेरसंभवात् पारिशेष्याद् ब्रह्म सगुणमेव तिष्ठतीति तेषां सिद्धान्तः।

ननु सगुणमेव यदि ब्रह्म तर्हि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति वाक्ये ब्रह्मणोऽनन्तत्वप्रतिपादनात् द्वैतापत्तिरिति चेन्न, "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमिति अधिष्ठानान्तरं प्रतिषिध्य, "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" इत्येकस्य ब्रह्मणः सङ्कल्पादिना जगज्जन्मस्थितिप्रलयानां स्वनिमित्तोपादानयोरेव भवने न काचिदनुपपत्तिरस्ति। अतो जगज्जन्मा-

---

१. ब्र० सू० पृ० ४८
२. ,, ,, पृ० ९५
३. ,, ,, पृ० ११३
४. ,, ,, पृ० ५०
५. ,, ,, पृ० ३३

दीनां विशेषणतया ब्रह्मणि लक्षणत्वे न कश्चिद्दोषः। एवं निर्विशेषवस्तुनो जिज्ञास्यत्वमपि असंभवं, जगज्जन्मादिकार्यं ईक्षणादिकमपि च सगुणस्यैव भवेदिति ब्रह्मणः सगुणत्वं दृढीकृतम्।[१]

तस्य ब्रह्मणः सगुणत्वेऽपि सूक्ष्मत्वात् अतीन्द्रियत्वात्, प्रत्यक्षादि-प्रमाणाविषयतया शास्त्रैकप्रमाणत्वात् तस्यावगमने योनिः कारणं शास्त्र-मिति तृतीयसूत्रार्थः।[२] अर्थात् सकलजगज्जन्मादिकारणं निरवद्यं सर्वज्ञं सत्यसङ्कल्पं सर्वशक्तिमत् ब्रह्म वेदान्तादिशास्त्रेणैव ज्ञातव्यमतीन्द्रियत्वात् सूक्ष्मत्वाच्च। यथा अद्वैतवेदान्तिनस्तु सर्वाणि वेदान्तवाक्यानि ब्रह्मण्येव-समन्वितानि वदन्ति, तथैव विशिष्टाद्वैतवेदान्तिनोऽपि स्वीकुर्वन्ति। तत्र तावदयं भेदो यद् ब्रह्मज्ञानादेव परमपुरुषार्थसिद्धिरिति यदुक्तमद्वैतवादि-भिस्तन्नेमे स्वीकुर्वन्ति। एतेषां मतानुसारेण ज्ञानं नाम उपासनमिति। तस्मात् केवलज्ञानादेव न पुरुषार्थसिद्धिर्जायते इति तेषां सिद्धान्तः।[३]

आनन्दमयाधिकरणे तैत्तिरीयोक्तेषु अन्नमयादिषु आनन्दमये "मयट्" प्रत्ययस्य प्राचुर्यार्थे सत्त्वात् विज्ञानात्मा एव आनन्दमय इति यदुक्तमद्वैत-वादिभिस्तद्रामानुजैर्न मन्यन्ते। कुतः ? आनन्दमयः परमात्मैव भवति। तदुक्तं श्रुत्या—"सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति" इत्यारभ्य "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्येवमन्तेन वाक्येन, शतगुणोत्तरक्रमेण निरतिशयानन्दस्य जीवात्मन्यसंभवात् निरतिशयकल्याणगुणाकरः परमात्मैव भवितुमर्हतीति निश्चीयते। तथा चोक्तम् "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय" इति।[४]

जगत्—

जगतो निमित्तोपादानकारणं ब्रह्मैवेति स्वीकृतम्। तत्र प्रमाणमाह— "तस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति" श्रुतेः। प्रतिज्ञाया अस्याः "कारणमेवावस्थान्तरापन्नं कार्यम् न द्रव्यान्तरमिति कार्यकारणरूपेण अवस्थितमृद्विकारादिनिदर्शनेन समर्थनात् ब्रह्मैव जगदुपादनमिति

---

१. ब्रह्मसूत्रभाष्यम् १।१।२

२. १।१।३ ब्र० सू०

३. ज्ञानञ्चोपासनम्, उपास्यं च ब्रह्म सगुणमित्युक्तम् पृ० १२

४. आनन्दमयोऽभ्यासात् १।१।१३, सू० भा०

निश्चीयते न तु प्रकृतिः।[१] एवं निमित्तोपादानयोरैक्यमपि "उत तमादेशम-प्राक्ष्यः—येनाश्रुतं श्रुतं भवति" इत्यादिनोपदिश्यते।[२] एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि—इति साधकतमत्वेन कर्ता विवक्षितः। एवं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म",[३] "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्",[४] इत्युपादानरूपेण "सोऽकामयत—"[५] "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय"[६] इति निमित्तरूपेण कार्यावस्थं कारणावस्थञ्च सर्वं जगद् ब्रह्मात्मकमिति श्रुत्या अवगम्यते। जगत् ब्रह्मणः परिणामोऽस्ति।[७] ब्रह्म स्वयमेवात्मानं जगद्रूपेण शरीरेण परिणमयामास इति।

अत्र चिदचिदंशेन शरीरभूता भगवतः सर्वे चिदंशा अपुरुषार्थाः अस्वतन्त्राः अचिदंशस्तु सर्व विकाराः। उभौ चिदचिदंशौ ब्रह्मणः कार्याणीति मन्यन्ते। परमात्मा तूभयोर्नियन्ता आत्मा चास्ति। एवमिमानि चिदचिद्वस्तूनि स्थूलसूक्ष्मदशापन्नानि परस्य ब्रह्मणो लीलोपकरणानि सन्तीति। तत्र सृष्ट्यादिकं सर्वं तस्य लीला इति मन्यन्ते।[८] "कर्तारमीशं ब्रह्मयोनिम्"[९] "यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः...."[१०] "योनिश्च हि गीयते",[११] यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च",[१२] इत्युपदेशात् ब्रह्मैव जगतो निमित्तोपादानं कारणमिति सिद्धम्।

जीवः

श्रुत्या जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ निषिध्येते। यज्ज्ञानाश्रयश्चैतन्यरूप इत्यु-

१. ब्र॰सू॰ भाष्यं द्रष्टव्यम् (पृ॰ ४२८)
२. छान्दोग्ये ६।२।२
३. छां॰ ६।८।७
४. छां॰ ३।१४।१
५. तैत्ति॰ २।६
६. छां॰ ६।२।३
७. ब्र॰ सू॰ १।४।२७
८. लोकवत्तु लीला कैवल्यम्, ब्र॰ सू॰ २।१।३३
९. मुण्ड॰ ३।१।३
१०. मुण्ड॰ १।२।६
११. ब्र॰ सू॰ १।४।२८
१२. मुण्ड॰ १।१।७

क्तम्। परन्तु अद्वैतवेदान्ते जीवात्माऽपि ब्रह्मैवेति यदुक्तं तन्न विशिष्टाद्वैतिनः स्वीकुर्वन्ति जीवस्तु परस्य ब्रह्मणः कार्यमिति तेषां सिद्धान्तः। कार्यकारणयोरनन्यत्वात् "एकविज्ञानेन सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति" श्रुत्या यदुक्तं तदपि कार्यविज्ञानेन कारणस्यापि ज्ञानं भवतीति अत्र सङ्गच्छते।

कार्यं तावत् वस्तुनोऽन्यथाभावो वा अवस्थान्तरं वा उच्यते। अत्र यथा वियदादीनां पञ्चमहाभूतानां स्वरूपस्यान्यथाभावो भवति, जीवस्य तथा न भवति। परन्तु ज्ञानसङ्कोचविकासलक्षणो जीवस्यान्यथाभाव इति स्वीकृतम्[1], न तु स्वरूपान्यथाभावः। ब्रह्म तु चिदचिद्विशिष्टं, जीवस्तु चिदंश एवास्ति। अतो जीवो ब्रह्मणोंऽशः, ईश्वरस्तु अंशी, अंशांशिनोः कार्यकारणभावात् ईश्वरः सर्वेषां कारणम्, जीवः कार्यमिति। अपि च स ईश्वरः कदाचित् कार्याद्भिन्नः, कदाचिदभिन्नश्चास्ति। तत्र ईश्वरे भोग्यरूपोऽचिदंशः, भोक्तृरूपश्चिदंशः इति प्रकारद्वयमपि ब्रह्मणि अस्ति। परन्तु जीवस्य स्वकर्मविशेषात् भोगाय तदनुरूपज्ञानविकासरूपविकारो भवति[2]।

जीवात्मा तु न केवलज्ञानरूपः, अपितु ज्ञाता चास्ति तदुक्तं श्रुत्या— "एष हि द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बौद्धा, कर्ता, विज्ञानात्मा पुरुषः",[3] "एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः"[4] इति जीवस्वरूपम्। परिमाणतो जीवोऽणुः। यदि आत्मा सर्वगतो, विभुः स्यात्तर्हि सर्वेषामात्मनां सर्वगतत्वेन सर्वैः करणैः संयुक्तत्वात् अदृष्टादेरपि अनियमः स्यात्। तस्मादात्माणुरेवेति सिद्धम्।

केचन वेदान्तिन आत्मानमकर्ता अभोक्ता इति कथयन्ति, तन्नेमे स्वीकुर्वन्ति। तेषां कथनमस्ति यदि आत्मा अकर्ता स्यात् "यजेत स्वर्गकामः" मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत" इत्येवमादीनि वाक्यानि व्यर्थानि स्युः। शास्त्राणां प्रवृत्तिस्तु चेतन एव विधीयते, नाचेतने। अतः शास्त्रीये प्रवृत्तिनिवृत्ती जीवमुद्दिश्य वर्तेते—इति। तस्मादपि आत्मनः कर्तृत्वमा-

---

१. ब्र० सू० भाष्यम् २।३।३ पृ० ५७४

२. ब्र० सू० भा० २।३।३, ५।५

३. प्रश्नोप० ४।९

४. प्रश्नोप० ६।५

याति।[1] कर्मकरणेऽपि जीवस्य स्वातन्त्र्यं नास्ति—इति तेषां सिद्धान्तः। तदुक्तं श्रुत्या—"अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा",[2] "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति भ्रामयन् सर्वभूतानि, यन्त्रारूढानि मायया" ॥[3] इति पुरुषप्रयत्नमन्तरेणान्तर्यामिणा आज्ञाप्रदानेन जीवस्य प्रवृत्तिनिवृत्तीस्त इति। अतः अन्तर्यामिणो वा ईश्वरस्य वा जीवः परतन्त्र इति।[4]

एतेषां मते—जीवः परमेश्वरस्यात्यन्ताभिन्न इति परैर्यदुच्यते, तन्नैते सहन्ते। तदुक्तं सूत्रकारेण—"तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः",[5] "अधिकं तु भेदनिर्देशात्"[6] इति। अनयोः सूत्रयोर्भेदाभेदःप्रदर्शितः। एवं—"अंशो नानाव्यपदेशात्, अन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके"[7] "ममैवांशो जीवलोके" इत्यादिवचनेषु च जीवो ब्रह्मणोंऽशः इति कथितम्। यदि जीवब्रह्मणोरत्यन्ताभेदः स्वीक्रियते तर्हि बन्धमोक्षादिव्यवस्थाऽनुपपत्तिः स्यात्। अपि च जीवब्रह्मणोर्भेदः साक्षात् दृश्यते। यथा जीवेषु परमेश्वरस्य सृज्यत्व-नियम्यत्व-शरीरत्व-शेषत्व-तदाधारत्वपाल्यत्व-संहार्यत्वोपासकत्व - तत्प्रसादलभ्यधर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थभाक्त्वमित्या - दीनि न कश्चिदपि निराकर्तुं शक्नोति।[8] अतोऽभेदप्रतिपादकश्रुतयः सर्वा औपचारिक्यः (गौण्यः) सन्ति। ननु अभेदश्रुतयो मुख्याः स्युः भेदश्रुतयो गौण्यो भवेयुरिति चेन्न, तथा सति जीवगतरागद्वेषादयो दोषा ब्रह्मण्यपि आपद्येरन्। अतो जीवो ब्रह्मणोऽत्यन्तभिन्न एवेति सिद्धान्तः। जीवब्रह्मणोः भेदवादस्वीकारे एव श्रुत्युक्तानुज्ञापरिहारौ घटेते। तस्मात् प्रतिशरीरं भिन्नमात्मनोऽस्तित्वं मन्येत। ननूपाधेरेव जीवब्रह्मणोर्भेदः प्राप्त इवेति चेन्न, तदा अदृष्टादीनामनियमात् तत्तदुपाधिसंसर्गेण सुखदुःखादिकमपि ब्रह्मणि आपततीति। अतो जीवो ब्रह्मणोऽत्यन्तभिन्न इति

---

१. कर्त्रधिकरणम् २।३।५

२. तैत्ति० आर० ३।११।१०

३. भग० गी० १८।६१

४. परायत्ताधिकरणम् २।३।६

५. ब्र० सू० २।१।१५

६. ब्र० सू० २।१।२२

७. ब्र० सू० २।३।४२

८. ब्र० सू० २।३।४२

स्वीकर्तव्यम्[१]। तस्य स्वरूपविस्मरणं वा उपाधिर्वेति स्वीकारे उक्तदोषः प्रसज्येत।

साधनम्

मुक्तेः साधनं न ज्ञानम्, नापि ज्ञानकर्मसमुच्चयः, किन्तु सम्यग् भगवतः प्रीत्यर्थं भक्तिरूपसाधनमेवोत्कृष्टमिति मन्यन्ते[२]। तदुक्तं भगवद्गीतायाम्—"भक्त्या मामभिजानाति" इति भगवतो वचनेन भगवत्प्राप्तये भक्तिरेव महत् साधनमिति आचार्याणां मतम्। किञ्च भगवद्गीतायाम्—"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया"........"भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन"[३] इति। श्रुतिरपि—"यमेवैषवृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्"[४]। इति। एवमेवान्यान्यपि एवंविधानि वाक्यानि स्मर्तव्यानीति। जीवस्तु सर्वास्ववस्थासु दोषयुक्तः। अतः स दोषपरिहाराय परमात्मानं सम्यग् उपासीत, सर्वदा जीवस्य श्रुतिचोदितयागदानतपोहोमादिभिराराधनेनैव परमपुरुषार्थसिद्धिरिति तैः कथ्यते[५]। अतः कर्मसहितोपासनमेव मुक्तेः सोपानमिति तात्पर्यम्। तत् कर्म तु स्वाश्रमोचितमेवेति मन्यन्ते। तत्र गृहस्थोऽपि ऊर्ध्वरेतोभिः समानं शमदमादियुक्तो यज्ञदानादीनि कर्माणि कुर्वीत। येन परमपुरुषस्तृप्येत्। जाबालादिश्रुतिषूक्तं केवलं पारिव्राज्यम् ते न स्वीकुर्वन्ति[६]।

ननु सर्वाणि कर्माणि बन्धरूपाणि सन्तीति चेन्न, अभ्युदयातिरिक्तकर्मभिर्भगवन्तम् तोषयेत्। येन समूलबन्धस्योच्छेदो भवतीति। तस्मात् ज्ञानप्राप्तये कर्मणामपि आवश्यकत्वमिति तेषाम् सिद्धान्तः। तदुक्तं "पाण्डित्यम् निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्" इति बालभावस्तु कर्म इति तेषाम् कथनम्। कर्मसहितज्ञानेन =(उपासनया) परमेश्वरो जीवेभ्यो मुक्तिम्

---

१. अंशोनाना व्यपदेशात्............"इत्यतः प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात्" पर्यन्तद्रष्टव्यम्।

२. अतिपतितसकलेतरप्रमाणसंभावनाभूमि निरस्तसमस्ताविद्यादिदोष....परस्मात् पुरुषात्भोगरूपापवर्गरूपं फलञ्च वदन्तीति। पृ० ७७१, ७७२

३. भग० गी० ११।५४

४. मुण्ड० ३।१।८

५. अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ३।२।२४ भाष्यं द्रष्टव्यम्

६. अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ३।४।१९

प्रददाति इति[१]।

बन्धनम्

बन्धनं तु अनात्मनि आत्मबुद्धिरहङ्कारः। इयमेवाविद्या[२]। तत्त्वमसि वाक्ये—तत् पदं हि सर्वज्ञं सत्यसङ्कल्पं जगत्कारणं परं ब्रह्मेति परामृशति। तत् पदसमानाधिकरणं त्वं पदं चाचिद्विशिष्टजीवशरीरकं ब्रह्म प्रतिपादयति। प्रकारद्वयावस्थितैकवस्तुपरत्वात् सामानाधिकरण्यस्य। प्रकारद्वयपरित्यागे प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदासंभवेन सामानाधिकरण्यमेव परित्यक्तं स्यात्। तयोः पदयोर्लक्षणा चास्ति[३]। अद्वैतिनस्तु "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि भगवो देवते" इति व्यतिरेकेणोक्तवन्तस्तन्नेमे मन्यन्ते। तत्र व्यवतिहार इति सूत्रेण स्वात्मनोऽभिन्नत्वं निषिध्य स्वस्मादपि अधिकं परमात्मानं मत्वा तस्य शरीरत्वेन भावनया सामानाधिकरण्यमित्युच्यते, न तु तस्यैवात्मत्वेनेति तात्पर्यम्।[४]

जीवानां गतिः

ये जीवाः केवलेष्टपूर्तादिशुभकर्मणा धूमादिना पितृयागेन मरणादूर्ध्वं गमनं कुर्वन्ति, तेषां कर्मफलावसाने तत्तल्लोकान् प्रति पुनरावर्तनमिति आम्नातं श्रुत्या[५]। तत्रारोहावरोहयोः कारणं कर्म एवेति कथ्यते। तत्र कर्मिणामारोहणं हि धूमरात्र्यपरपक्षदक्षिणायनषण्मासपितृलोकाकाशचन्द्रक्रमेण गमनमिति। आगमनञ्च चन्द्रमसः स्थानादाकाशवायुधूमाभ्रमेघ-क्रमेण—इति। यो जीवोऽनात्मवित् स अबादिभूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्त इतस्ततः कर्मानुसारेण भ्रमतीति। विदुषामूर्ध्वरेतसाञ्च देवयानमार्गेण गमनमित्युक्तम्। अपरे ये निन्दितकर्माणस्तेषामधोगमनञ्चास्ति। न तेषां मार्गद्वयमप्यस्ति। ते अण्डजोद्भिज्जस्वेदजरूपेण पश्वादिनीचयोर्नि प्राप्नुवन्ति[६]।

---

१. मुक्तिफलस्याप्युपासनस्य स्वसाधनभूतैरतिशय—३।४।१५ सू० भा०

२. शरीरागोचराचाहं बुद्धिरविद्यैव। सूक्ष्मतया १।१।१, सू० भा०

३. सू० भा० पृ० १४५

४. आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ४।१।३

५. छां० उप० ५।१०, ब्र० सू० ३।१।२

६. सू० भा० ३।११।३

मुक्तिः—

विशिष्टाद्वैतमते जीवन्मुक्तिर्नास्तीति। एवं परमात्मनि विलयोऽपि नास्ति। अर्थात् मुक्तपुरुषाणामपि शरीरं भवत्येव। परन्तु तेषु शरीरेषु ज्ञानानन्दयोर्भगवत्सादृश्यमस्ति। किन्तु तैः शरीरैः लीलादिकं वा अवतारादिकं वा सृष्ट्यादिकञ्च कर्तुं न शक्यते। तेषु पितृलोकादिलोकाः द्रष्टुं शक्यन्ते।[1] तदुक्तं श्रुत्या—"न तत्र प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।"[2] इति वचनं ते न स्वीकुर्वन्ति। तेषां राद्धान्तस्तु "शतञ्चैका हृदयस्य नाड्य·····"[3] "ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्वा सूर्यमण्डलम् ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम्"[4] इत्यनेन जीवात्मन उत्क्रमणमुक्तम्। तदेवं देवयानेन सूर्यमण्डलं भित्वा अर्चिरादिमार्गेण विद्युत् प्राप्य ततोऽमानवेन ब्रह्मलोकगमनमेव ते मन्यन्ते। देवयानमपि श्रुतिषु बहुविधं प्रतिपादितम्। तथा च मुक्ताः सर्वे अर्चिरादिमार्गेण गच्छन्तीति। तत्र "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इति यदुक्तं श्रुत्या तद् ब्रह्मसंस्थितिस्तु नारायणस्य ध्रुवस्मृतिरेवेति मन्यन्ते। अनेन जीवः प्रारब्धकर्मानुसारेण प्राप्तं शरीरं विहाय ब्रह्मलोकं प्राप्नोतीति। तत्र भगवता सह ज्ञानानन्दैश्वर्यादीनुपभुङ्क्ते इति मुक्तिस्वरूपं निरूपितम्।

ननु परमपुरुषाधीनो जीवः स्वतन्त्रतां विना ईश्वरेच्छया तस्य मुक्तस्यापि पुनरावृत्तिर्भवेदिति चेन्न, "मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः"। "आब्रह्मभुवना····पुनर्जन्म न विद्यते।"[5] "स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते"[6] इति श्रुतिस्मृतिषु प्रतिपादनात् मुक्तपुरुषाणां न कदाचित् पुनरावृत्तिरिति। ते सदा परमात्मना सह मोदन्ते—इति दिक्।

---

१. सू० भाष्यम् ४।४।२०
२. बृह० आ० उप० ६।४।१
३. क० उप० २।३।१६
४. याज्ञ० श्लो० ३।७।६७
५. भग० गीता ८।१६
६. छान्दोग्य ८।१५।१

द्वैतवादे-आत्मतत्त्वम्

ब्रह्मसूत्रभाष्यकारेषु श्रीमध्वाचार्याः स्वकीयभाष्यं सर्वत्र भेददृष्टिमवलम्ब्य द्वैतवादनाम्ना रचयामासुः। यत्र प्रथमभाष्यकाराः श्रीशङ्कराचार्या अद्वैतवादरूपेण प्रतिपादितवन्तस्तत्रैव मध्वाचार्यास्तु द्वैतवादरूपेण तन्निर्ममुः। अन्येऽपि समस्तभाष्यकाराः स्वस्वभाष्याणि न्यूनं वा अधिकं वा अद्वैतरूपेणैवोपन्यस्तवन्तः। अर्थात् न सर्वथा अद्वैतवादं परिजह्रुः। यथा भेदाभेदं विशिष्टाद्वैतं, शुद्धाद्वैतवादं, स्वाभाविकभेदाभेदं, शक्तिविशिष्टाद्वैतं अचिन्त्यभेदाभेदं, अविभागाद्वैतं चेति।

अत्र द्वैतवादे श्रुतिवाक्यान्यपि अत्यल्पीयांसि अप्रसिद्धान्यपि भवन्ति। तद्यथा पैङ्गीश्रुतौ—"सत्य आत्मा, सत्यो जीवः, सत्यं भिदा, सत्यं भिदा, सत्यंभिदा, मैवावरुण्यो, मैवावरुण्यो, मैवावरुण्य इत्यादीनि" भाल्लवेयश्रुतौ च "आत्मा हि परमः स्वतन्त्राधिगुणो जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रोऽवरः" इत्यादि वचनानि। ते जीवात्मपरमात्मनोर्भेद इति वदन्ति।

एवमनुमानेनापि भेदः साध्यते। परमात्मा सर्वज्ञः, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्रश्च। जीवात्मा तु तद्विपरीतः, अल्पज्ञः, अल्पशक्तिमानस्वतन्त्रश्च। तस्मादपि भेदः सिध्यति।[1] अन्यानि श्रुतिवचनानि—"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्", "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे आत्मा चैवानात्मा च", तत्र स आत्मा नित्यशुद्धः केवलो निर्गुणश्च", "अथ ह्योऽनीदृशः सोऽनात्मा" इति तवलकारब्राह्मणे[2]—चेतनो द्विविधः प्रोक्तो जीव आत्मेति च प्रभो। जीवा ब्रह्मादयः प्रोक्ता आत्मैकस्तु जनार्दनः॥[3] "तमेवैकं जानथ आत्मानं अन्या वाचो विमुञ्चतेति"[4] इत्यादि वाक्यैरपि भेदः साध्यते।

ब्रह्म (परमात्मा)—

तद्दर्शने आत्मा परमात्मा इत्युच्यते। ते परमात्मा वा ब्रह्म वा विष्णुर्वेति कथयन्ति। तदुक्तं हरिवंशेषु—

---

१. सूत्रभाष्ये १।२।४ पृ० १२
२. ,, पृ० १५-१६
३. ,, पृ० १६
४. ,, पृ० १७

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥

कुत्रचित् स्थलेषु जीवा अपि औपचारिकतया आत्मेति कथ्यन्ते। परन्तु तस्यात्मशब्दस्य मुख्यवृत्तिस्तु परमात्मनि वर्तते। स च परमात्मा सगुणो निर्गुणश्च अन्ये सर्वे सगुणा इति[1]। श्रुतिरपि—

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥"

इति परमात्मनः स्वरूपमुक्तम्।

आनन्दमयाधिकरणे "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इति वाक्योक्ते[2] ब्रह्मण्येवाऽऽनन्दमयपदं प्रयुज्यते। तमवयविनं विना तस्यावयवमात्रस्य ज्ञानं न भवेत्। तथा चोक्तम्—आनन्दमयो ब्रह्मादिः प्रकृतिर्विष्णुर्वेति। "तदेवं ब्रह्म परमं कवीनाम्" इति। अतस्तं ब्रह्मेत्याचक्षते—विष्णोरन्यत्र-सर्वत्रापूर्णत्वादौपचारिकतया तदेवोच्यते "ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते। वासुदेवात्मकं ब्रह्म मूलमन्त्रेण वा यतिः॥" इत्यादिषु प्रसिद्धो ब्रह्मशब्दः[3]। स च परमात्मा निर्गुणोऽपि शरीरवान्, अवयववान् चेति। "स शिरः, स दक्षिणः पक्षः, स उत्तरपक्षः स आत्मा स पुच्छम्—इति। चतुर्वेद शिखायाम्—"शिरो नारायणः दक्षिणः सव्यः पक्षस्तु प्रद्युम्नानि-रुद्धश्च सन्देहो वासुदेवः, कदाचित् नारायणः सन्देहो वासुदेवः शिर इति चोक्तम्। पुच्छन्तु सङ्कर्षणः प्रोक्तः। तत्रैतेषामङ्गाङ्गित्वेन स विष्णुः क्रीडते। स तत्रान्योऽपि अन्यशब्देन एको बहुरूपवानिव ऐश्वर्यात् पुरुषोत्तम इति च कथ्यते।[4]

या अद्वैतप्रतिपादिकाः श्रुतयस्ताः सर्वा ब्रह्मणो लक्षणपराः सन्ति—इति तेषां कथनम्। परन्तु द्वैतश्रुतयस्तुमुख्यवृत्त्या स्वीक्रियन्ते। तदुक्तं—आनन्दस्य शतगुणोत्तरेण प्रजापतेरानन्दा इति। तत्र "अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते", अथ सोऽभयं गतो भवति स यश्चायं

---

१. इति पाद्मे—१।१।१।७

२. श्रुतत्त्वाच्च १।१।५।११

३. आनन्दमयाधिकरणम् १।१।६-१२

४. मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते १।१।६-१५,

पुरुष" इत्यादिभेदव्यपदेशात् "तत्त्वमसीति" श्रुतिवाक्यं सामानाधिकरण्येन सह "अहं ब्रह्मास्मि" इति च कदापि परमात्मना सह अभेदे न पठितव्यमिति स्पष्टञ्चक्रुः। तदुक्तं "विद्यात्मनिभिदाबोधः", "भेददृष्ट्याभिमानेन निःसङ्गेनापि कर्मणा। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः" इत्यादिषु जीवेश्वरयोर्भेदः परमार्थ इति। तस्मात् तत्त्वमसिवाक्यस्य ब्रह्मणा सह सामानाधिकरण्यं न संभवति इति "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इति वाक्यानि प्रामादकानि बन्धनभूतानि चेति। अतः ये मुमुक्षवस्ते तानि वाक्यानि निराकुर्युरिति। भागवतस्य वचनं तैः स्वीकृतम्[१]।

स च परमात्मा सर्वेषां जनानां प्राणिनाञ्चान्तः प्रविश्य तान् शास्ति। तदुक्तं "समुद्रेऽन्तः कवयो विवक्षते"[२] इति ब्राह्मे "अनन्तो भगवान् ब्रह्म आनन्देत्यादिभिः पदैः। प्रोच्यते विष्णुरेवैकः परेषामुपचारतः।" इति। "नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति", इति चोक्तम्[३]।

ननु अनन्तो भगवानित्यनेन जीवोऽपि ब्रह्म स्यादिति चेत् न, "एष उ एव ब्रह्मैष उ एव सवितैष उ एव इन्द्र एष उ एव हरिर्हरति परः परानन्दः" इति इन्द्रद्युम्नशाखायाम्—ब्रह्म जीवादन्यदेवेत्युक्तम्[४]। तदेव गारुडे च—जीवेशयोर्भोगे भिन्नता नित्या, तद्यथा जीवोऽल्पत्वादिगुणकः, ईश्वरस्तु सर्वज्ञत्वादिगुणकः इत्यादिरपि भेदमेव दर्शयति[५]। स चेश्वरः जीवेषु आत्मा अन्तरात्मेति स्वात्मानं प्रविभज्य तिष्ठति। एवं प्राणिनां कर्मरसं पिबति च।[६] स च परमात्मा शुभकर्मफलरसानेव पिबतीत्यर्थः नाशुभकर्मणाम्[७]। अपि च तस्य चेष्टाऽपि क्वचिन्न ज्ञायते। तस्य चत्वारि रूपाण्यपि श्रुतौ प्रतिपादितानि। "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं......." इति। शुक्लं, रक्तं, रौक्मं, कृष्णञ्चेति तस्य रूपाणि

१. भेदव्यपदेशाच्च १।१।६-१७ सू० भा०

२. अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् १।१।७।२०, सू० भा०

३. आकाशस्तल्लिङ्गात् १।१।८।२२

४. शब्दविशेषात् १।२।१।५ सू० भा०

५. संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् १।२।१।८

६. इति बृहत्संहितायां—गुहां प्रविष्टौ.... १।२।३।११

७. पाद्मे १।२।३।११ ब्र० सू० भा०

सन्ति।[1] इत्थञ्च सगुणो निर्गुणश्च, अरूपी रूपवान् च तद्विष्णुरेवेति मन्तव्यम्।

जगत्

जगतो निमित्तोपादानं कारणं प्रति प्रकृतिशब्दोऽपि ब्रह्मवाचक इति वदन्ति। "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां......", "स नित्यो निर्गुणो विभुः परः परमात्मा, नित्यो विभुः कारणो लोकसाक्षी, परो गुणः, सर्वदृक् शाश्वतश्च। इदं सर्वं विसृजति, विलापयति, विस्थापयति, प्रस्थापयति, आच्छादयति, प्रकाशयति, विमोचयति च एक एव, श्रुतेः। परमात्माऽपि न लीयते, अश्रुतत्वात् ब्रह्मप्रलयस्य[2]।

"हन्तैतमेव पुरुषं सर्वाणि नामान्यभिवदन्ति", किञ्च—माया, महामाया, अविद्या, नियति, मोहिनी, प्रकृतिः, वासना, अभिध्या इत्यादयस्तस्येच्छा एव। तथा च पैङ्गिश्रुतिः—"स एष स्त्री, एष पुरुषः, एष प्रकृतिः, एष आत्मा, एष ब्रह्म, एष लोकः, एषआलोकः, योऽसौ हरिरनादिरनन्तोऽन्तः परमः पराद् विश्वरूपः इति विष्णोरेव प्रकृतिपुरुषत्वमाम्नातम्। एवं स हरिः स्वयमेव प्रकृतिमनुप्रविश्य तां परिणम्यात्मानं बहुधा कृत्वा सर्वत्र स एव प्रसृतः। अतो जगन्मिथ्यात्ववादोऽपि निरस्तः। तदुक्तम्—"सत्यं जगत् तत्त्वतः" इति। तस्मात् स सर्वासां सृष्टीनां योनिरुपादानमित्यभिधीयते।[3]

वस्तुतस्तु पुरुषप्रकृत्योरयमेव भेदः—तदुक्तं ब्रह्माण्डे—"व्यवधानेन सूतिस्तु पुंस्त्वं विद्वाद्भिरुच्यते। सूतिरव्यवधानेन प्रकृतिः स्वमितिस्थितिः"। तस्माद्विष्णुः उभयात्मकत्वात् जगतो निमित्तोपादानमिति। तदेव महोपनिषदि—"एष ह्येव शून्य एष ह्येव तुच्छ एष ह्येवाभावः, एष ह्येवाव्यक्तोऽदृश्योऽचिन्त्यो निर्गुणश्चेति। एवमेव सर्वं पुरुषोत्तम इति स्वीकृतम्[4]।

जीवः

माध्वमतानुसारेण जीवोऽपि परमेश्वरादुत्पद्यते। अतः सोऽपि चित्स्व-

१. रूपोपन्यासाच्च १।२।६।२३, ब्र० सू० भा०

२. सू० भा० २।३।१७।१०

३. योनिश्च हि गीयते १।४।६।२८ ब्र० सू० भाष्ये

४. १।४।६ अधिकरणं सूत्रभाष्यञ्चेति

रूपः, परज्योतिः, अविनष्टः न नश्यति कदाचनेति। तस्य नित्यस्योत्पत्तिस्तूपाधिना इति उच्यते। परमात्मनः सकाशात् नित्यचैतन्यजीवः, अनित्याचेतनप्रकृतिश्चोत्पद्यते। तत्रैव जीवात्मा अणुपरिमाणः, पुण्यपापाभ्यां सिनीतः। अस्माच्छरीरादुत्क्रामति, अमुं लोकञ्च गच्छति। अमुष्मादिमं लोकमागच्छति। स गर्भो भवति प्रसूयते कर्म कुरुते च[1]। स अणुरपि सर्वशरीरं व्याप्नोति दीपवत्। ननु जीवोऽपि "तत्त्वमसि", "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि श्रुतिवाक्यैः परमात्मेति चेन्न, "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां, "द्वा सुपर्णा सयुजा……" इत्यादिषु भेदव्यपदेशात्। तदेवोच्यते परमात्मा जीवाद्भिन्नः अचिन्त्यः, पूर्णः नित्यमुक्तः, निरुपाधिकः, परन्तु जीवो बद्धः, अपूर्णः, सोपाधिकस्तस्माद्भिन्नः परमात्मनः तदेव-भविष्यति पर्वण्यपि "भिन्ना जीवाः परो भिन्नस्तथापि ज्ञानरूपतः प्रोच्यन्ते ब्रह्मरूपेण वेदवाक्येषु सर्वशः॥" तस्मात् "तत्त्वमसीति" सामानाधिकरण्ये वाक्यं न प्रयुज्यते।[2]

पुनरपि जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रदर्श्यते—जीवात्मपरमात्मानौ नित्यौ स्तः। जीवस्य धातवोऽनित्याः। अतः स उत्पद्यते म्रियते च विमुच्यते—इति आग्निवेश्यश्रुतौ। महाभारते—च—आत्मा नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो धातुरस्याप्यनित्यः—इति—पैङ्गिश्रुतौ[3]।

अयं जीवात्मा सह देवैश्च सर्वैः स आनन्दः स बलः, स ओजः, स स्वपरेणामुं लोकं नीयते स विमुच्यते च। स दुःखाद्विमुक्त आनन्दो भवति, अज्ञानाद्विमुक्तो बली भवति, स नित्यो निरातङ्कोऽवतिष्ठते। यथा पुरुषेषु बाल्यकालेऽपि पुंस्त्वे भूतेऽपि न प्रकाशते। तदेव यौवनकालेऽभिव्यज्यते। तथैव बलानन्दादयः परमात्मयोगेन प्रकाशन्ते[4]।

ननु जीवः स्वकर्मकरणे स्वतन्त्रः कर्ता नास्ति,

> **"कर्तृत्वं करणत्वञ्च स्वभावश्चेतना धृतिः।**
> **यत्प्रसादादिमे सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया।"** इति

---

१. उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् (२।३।१२।२०)

२. पृथगुपदेशात् २।३।१४।२८ भाष्यम्

३. यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् च। २।३।१५।३० सू॰ भा॰

४. २।३।१६।३१ सू॰ भा॰

पैङ्गिश्रुत्यनुसारेण जीवस्य शुभाशुभकर्मणां प्रेरयितृत्त्वं कारयितृत्त्वञ्च परमात्मन्यापतति। तथा च एकस्य जीवस्योद्धारस्यान्यस्याधःपतनस्य च कारणं परमात्मैव सिध्यति—इति प्राप्ते उच्यते–जीवस्य जन्मान्तरकृत-कर्मेच्छाप्रार्थनानुकूलमेव परमात्मा तं प्रेरयति कारयति च। अतो वैषम्य-नैर्घृण्यादिदोषः परमात्मनि न प्रसज्यते—इति।[1]

किञ्च—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति जीवा अंशाः, परमेश्वरोंऽशीति यदुच्यते किं तत्राभेदेन सम्बन्धो वा भेदेन सम्बन्धो वेति शङ्कायां परिहरति—"मां रक्षतु विभुर्नित्यं पुत्रोऽहं परमात्मनः", द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया," "अंशो नानाव्यपदेशात्……" इत्यादिना नाना-व्यपदेशादयो भेदेनैव संपद्यन्ते नाभेदेन। एवं जीवस्य जननमरण पितृ, मातृसखादयो व्यवहाराः सर्वेऽभेदेन कथं भवितुमर्हन्ति? किञ्चानुज्ञा-परिहारयोर्जीवस्य व्यपदेशात् भेद एव सिध्यतीति तेषां कथनम्।

परन्तु न वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धमत्स्यकूर्मवराहनारसिंहवामन-रामरामकृष्णबुद्धकल्क्यादिषु अहं परमात्मा न वेति भेदबुद्धिर्नास्ति, नैवैते जायन्ते न म्रियन्ते नैषामनुज्ञा, न बन्धो न मुक्तिस्ते सर्वे पूर्णा अजरा अमृताः परमानन्दाश्च भवन्ति। जीवस्य तु अल्पशक्तित्वात् नैतत् सर्वं तस्मिन् घटते। स्वरूपतो जीवः पञ्चभूतैः बुद्ध्यादिभिरावृतदेहैश्चावृतः, तस्मात् अपूर्णत्वात् जीवस्य न मत्स्यादिभगवदवताराणां साम्यमस्ति।[2]

ननु "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" इति श्रुत्यनुसारेण परमात्मना सह जीवस्य साम्यं कथं न संभवतीति प्राप्ते—उच्यते—"अंशोऽपि द्विविधः—प्रतिबिम्बः स्वरूपश्चेति। तत्र जीवाः परमात्मनः प्रतिबिम्बाः, न स्वरूपम्। प्रतिबिम्बेऽपि द्विविधः सोपाधिकोऽनुपाधिकश्च। तत्र जीवो-ऽनुपाधिकः। यथा—इन्द्रधनुष् सूर्यकिरणः सन्नपि तस्य पृथगुपदेशात्। प्रतिबिम्बभूतजीवेष्वपि अनाद्यविद्या-कर्मादिवैचित्र्यात् तेषां वैचित्र्यम्। अतो जीवोऽणुः, अल्पज्ञः, ईश्वराद्भिन्नः, अवरः, चेतनः, भूतपञ्चकैरावृतो बद्धश्चेति जीवेश्वरयोर्नित्यभेदः साध्यते माध्वैः[3]।

---

१. अधिकरणसारांशः २।३।१७

२. अधिकरणसारांशः २।३।१७

३. २।३।१८।४३ तः २।३।१९।५३, सारांशः।

बन्धनम्

जीवस्य बन्धनं तावत् अज्ञानविपर्ययौ स्तः। तयोर्निवारणाय साधनं कर्तव्यम्।

साधनम्

साधनं तावत् श्रवणं मननं निदिध्यासनं भक्तिश्च कर्त्तव्येति। तैः परमां गतिं जीवः प्राप्नोति[1]। भगवतः स्नेहमय्या भक्त्या जीव आनन्दादिकं लभते। तत्र जीवेष्वपि तारतम्यं मन्यते। देवास्तु तत्रोत्तमाः, ऋषयो मध्यमाः, मनुष्यास्त्वधमा इति स्मृताः। भक्तिविशेषेण मुक्तिज्ञानयोरपि तारतम्यं भवति। अप्रत्यक्षस्याव्यक्तस्य निर्गुणस्य भगवतो हरेः प्रत्यक्षं तु वेदन्तादिशास्त्रश्रवणादेव भवति[2]। स विष्णुः स्वशक्त्या मायया सर्वदा सर्ववस्तुषु तिष्ठतीति। अतस्तं सनातनं मायामयं वदन्ति। तस्य तान् सर्वान् गुणान् जनाः सदा ध्यायेयुः। तत्र श्रवणमननगुरुप्रसादेभ्यो मोक्षः सिध्यति। तत्र गुरावपि—पूर्वगुरोरपरमुत्तमं गुरुं लब्ध्वा तमेव निःसङ्कोचेन स्वीकुर्यात्[3]। न केवलं श्रवणादिभिर्गुरुप्रसादेनैव च ब्रह्म-दर्शनम्, किन्तु भक्त्या च। तत्र केचन जीवा हरेरवताराणां ध्यानेन विमुच्यन्ते। अन्येऽन्तर्दृष्ट्या, अपरे सर्वदृष्ट्या विमुच्यन्ते। इदमेव तार-तम्यं मुक्तौ दृश्यते[4]। तत्र भगवतः सत्यज्ञानपरमानन्दरूप आत्मेति नित्यो-पासनां कुर्यात्[5]।

अद्वैतवेदान्तिनस्तु ज्ञानादेव कैवल्यमिति यत् कथयन्ति, माध्वास्तन्न मन्यन्ते। तेषां मते ज्ञानकर्मसमुच्चयेन मोक्षः स्यादिति। कर्मण आधि-क्याज्ज्ञानस्याधिक्यं तन्न्यूनत्वात् तन्न्यूनत्वमिति[6]। तदेवोक्तम्—ब्रह्मतर्के

---

१. श्रवणं मननञ्चैव ध्यानं भक्तिस्तथैव च।
साधनं ज्ञानसंपत्तौ प्रधानं नान्यदिष्यते ।। पृ० २२३ इति नारदीये।

२. ३।२।१४।२४ सू० भाष्यम्।

३. ३।३।२८।४६ पूर्वस्मादुत्तमो लब्धः स्वयमेव गुरुर्यदि।
गृह्णीयादविचारेण विकल्पः समयो भवेदिति ।।"

४. अनुबन्धादिभ्य ३।३।३१।५१ (सू० भा०)

५. ३।३।४२।६८ सू० भा०

६. अधिकोपदेशात् बादरायणस्यैवम् ३।४।१।८

ज्ञानिनामपि देवानां विशेषः कर्मभिर्भवेत्।
चीर्णे कृते वा ज्ञानस्य न विशेषोऽस्ति कर्मणि[1] ॥ इति ।

"ज्ञानोत्पत्तौ विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन" इति श्रुतिः प्रमाणम् ।

अधिकारः

अवैष्णवानां, गुरुभक्तिरहितानां, शमादिरहितानां, निम्नवर्णानाञ्च वेदेष्वधिकारो नास्तीति तेषां सिद्धान्तः। तदेव ब्रह्मज्ञानेऽपि स्वीकर्तव्यम्। अधिकारे ब्राह्मणादयः, ऋषयः, देवा इत्युत्तरोत्तराः श्रेष्ठा इति जातिनिर्णयः[2] ।

मुक्तिः

माध्वमते जीवन्मुक्तिर्नास्ति किन्तु विदेहमुक्तिरेव भवति। तत् प्रारब्धकर्माभावे शरीरपतनानन्तरमेव मोक्षः स्यादिति[3]। अत्र संन्यासस्यापि विधानमुत्तममिति मन्यन्ते। उक्तञ्च—

विज्ञाय जातवैराग्यो विष्णुपादैकसंश्रयः।
स उत्तमोऽधिकारी स्यात् सन्न्यस्ताखिलकर्मणाम्[4] ॥

मरणसमये—इन्द्रियाधिष्ठातारः सर्वे देवा उमायां वाण्यां प्रविशन्ति। उमा रुद्रे (मनसि) प्रविशति। तथा चोक्तम्—स्कान्दे—

उमा वै वाक् समुद्दिष्टा मनो रुद्र उदाहृतः।
तदेतत् मिथुनं ज्ञात्वा न दाम्पत्याद् विहीयते[5] ॥"

मनः प्राणे, प्राणः परस्यां देवतायां विष्णौ विलीयते। ये मत्स्यकूर्मादयोऽवतारास्ते भगवता समानाः, किन्तु ब्रह्मेन्द्ररुद्रप्रजापतिबृहस्पतयो ये केचनान्ये देवाः, गन्धर्वाः, पितरो मनुष्यादयश्च ते सर्वे न्यूनाः, परस्परेषु समविषमाः सन्ति। ते सर्वे परमात्मनो वशा अस्वतन्त्रा भवन्ति[6] ।

---

१. ३।४।४।२६ ब्र० सू० भा०
२. ३।४।२।३, ब्र० सू०
३. एवं मुक्तिफलानियमः ३।४।११।५१
४. सू० भा० १।१।१।१
५. सू० भा० ४।२।१।१
६. सामीप्यात् तद्व्यपदेशः ४।३।६।९, ज्योतिर्मयेषु देहेषु ४।४।८।१६

तत्र विदुषां प्राणत्यागसमये तेषां हृदि ज्वलनं भवति। हृदयस्याग्रे ज्योतिः प्रद्योतते। तदा प्राण उत्क्रामति तदुक्तं काठके—"शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका.........." इत्यादिना। सुषुम्नानाड्या प्राणो निर्गच्छन्ति। ये—उत्तरायणे म्रियन्ते, ते ब्रह्मलोकं गच्छन्ति। अन्ये ये दक्षिणायने प्राणान् त्यजन्ति, स्वर्गं यान्तीति। इत्युभौ मार्गौ मरणादूर्ध्वं जीवानां गतो पुण्यकर्मणाम्। किन्तु ये भगवतोऽनन्य-भक्तास्तेषामत्र कालविशेषो नास्ति इति गमनागमनविचारः। यद् अन्य-दर्शनेषु प्रसिद्धोऽमानवो ब्रह्मलोकं गमयतीति उक्तं तन्माध्वमते वायुरिति कथ्यते। उक्तञ्च—

विद्युत्पतिर्वायुरेव नयेद् ब्रह्म न चापरः।
कुतोऽन्यस्य भवेच्छक्तिरमृतस्ते प्राणनायकम्॥

मुक्तिस्तु सशरीरं परमात्मनः सामीप्यम्[1]। मुक्तानां शरीरं तु प्रकाशकं चिन्मयञ्च[2]। तेन शरीरेण हरिं प्रविशति। तदवस्था "अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः" इति[3]।

मुक्तजीवाः क्षीरसागरं गच्छन्ति। तत्र सालोक्यसारूप्यसामीप्यादि-भेदेन मुक्तिसुखमनुभवन्ति। तत्रापि जीवेषु शरीरवर्णाश्रमादिभेदास्ति-ष्ठन्ति। इदं माध्वमतस्य वैशिष्ट्यम्। अन्यदर्शनेषु अयं भेदो नास्ति। तत्र जीवेषूत्तमो ब्रह्म, ततो रुद्रः इति। एवं रीत्या सर्वत्रोच्चनीच, न्यूनाधिक्य-ज्ञानानन्दादिषु भेदः। मुक्तिदशायामपि अवराः वरिष्ठान् सेवन्ते वैकुण्ठे। परन्तु मुक्तौ शरीरवृद्धिह्रासादिकं न भवति[4]। एवञ्च मुक्ताः पुनरपि जन्म गृह्णन्तीति न शङ्कनीयम्। सकृन्मुक्तावऽपि न पुनरावर्तन्ते—इति।

अत्रेदं विचार्यते—माध्वमते सर्वत्र भेददृष्ट्या सह विष्णुभक्तिरेव सर्वोत्कृष्टा प्रदर्शिता इति। तद् दार्शनिकदृष्ट्या समीचीनमेव भवतु परन्तु अवैष्णवानां वेदेऽधिकारो नास्तीति[5] यदुक्तं तन्न समीचीनम्। यतो हि

---

१. ब्र० सू० ४।४।५।७
२. ,, ,,
३. ब्र० सू० ४।४।८।१०
४. सू० भा० ४।४।१०।२१, २२ द्रष्टव्यम्
५. ब्र० सू० भा० (३.४.२-१२) अवैष्णवस्य वेदेऽपि अधिकारो न विद्यते।

सर्वे देवा वेदप्रतिपादिता भवन्ति। तत्रैकस्यानर्हत्वेऽन्यस्यापि तदेव स्यात् इति सामान्यात् सर्वेषां देवानामनर्हत्वं भवेत्। इत्थञ्च समग्रवेदतत्-प्रतिपादितदेवानामप्रामाण्यप्रदर्शनमेव तेषां महत् कौशलमिति मन्यामहे। तत्र वैष्णवान् प्रति—इदं वक्तुं शक्यते यद्रुद्राध्याये—'नमस्ताराय नमः शम्भवे च मयोभवे च" इत्यादिना रुद्रभगवतस्तारकस्वरूपमिति उक्तं शुक्लकृष्ण-यजुर्वेदयोः। तयोर्निरासे समेषां वेदानां निरासापत्तिः स्यात्।

वयं तु तद् भाष्यकाराणामुपास्यविष्णुं प्रति अनुरागो वा अन्यदेवान्-प्रति द्वेषो वेति मन्यामहे।

माध्वमतस्य सङ्क्षेपवर्णनञ्च—

श्रीमन्माध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्वतः।
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः॥
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनम्।
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥ इति

शुद्धाद्वैतवादे-आत्मतत्त्वम्

पुष्टिमार्गप्रवर्तकाः श्रीवल्लभाचार्या ब्रह्मसूत्रोपरि अणुभाष्यं रचयामासुः। तस्मिन् भाष्ये शुद्धाद्वैतवादं सर्वत्र प्रतिपादयामासुः। शुद्धं ब्रह्म तु यथा—"स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायतनमित्युपक्रम्य, वागेवायतनमिति दृष्टान्तार्थं निरूप्य, स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्तः" इत्यादिना लय-दृष्टान्तं प्रतिपाद्य न प्रेत्य संज्ञास्तीति प्रदर्श्य तन्निरूपणार्थं "यत्र द्वैतमिव भवति तदितर इतरमित्यादिना सर्वस्य शुद्धाद्वैते ब्रह्मणि तैः समन्वयः कृतः। तत्र जगतोऽपि आदिमध्यावसानेषु शुद्धब्रह्मण एवोपादानत्वात् सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वय एव शुद्धाद्वैतमित्युच्यते।'[1]

ब्रह्मणः स्वरूपं सृष्ट्यादिकर्तृत्वञ्च—

ब्रह्म चानन्तमचिन्त्यं सर्वशक्तिमत् सर्वभवनसमर्थं सच्चिद्रूपं देशकालापरिच्छिन्नं सर्वकर्तृनिरवध्यानन्दात्मकं सर्वनियामकं मनोवागगोचरं पुरुषोत्तमः केवलोपनिषद्वेद्यं सत्यं ज्ञानमनन्तं चास्ति। ननु नित्यशुद्धबुद्ध-

---

१. सू० भा० १।१।२ पृ० सं० १६

मुक्तस्वभावमित्यादिना तस्य कर्तृत्वादिप्रापञ्चिकधर्मराहित्यं प्रतीयते।[1] "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति कर्तृत्वञ्च। उपर्युक्तयोर्विरुद्धयोः वाक्ययोः जगतः कर्तृत्वं ब्रह्मणि अस्ति न वेति शङ्कायां जातायामुच्यते—

उत्पत्तिस्थितिनाशानां जगतः कर्तृ वै बृहत्।
वेदेन बोधितं तद्धि नान्यथा भवितुं क्षमम्॥
नहि श्रुतिविरोधोऽस्ति कल्पोऽपि न विरुध्यते।
सर्वभावसमर्थत्वादचिन्त्यैश्वर्यवद् बृहत्[2]॥

इति तस्य कर्तृत्वं वेदेनैव ज्ञायते। उक्तञ्च—"कर्ता कारयिता हरिरिति" स्मृतौ। तस्मात् कर्तृत्वं भोक्तृत्वमपि च ब्रह्मण्येवेति सिद्धम्। अतोऽस्यानेकभूतभौतिकस्य देवतिर्यङ् मनुष्यानेकलोकाद्यद्भुतरचनायुक्तस्य ब्रह्माण्डकोटिस्वरूपस्य मनसाऽपि अचिन्त्यरचनायुक्तस्य जगतोऽनायासेनोत्पत्तिस्थितिभङ्गं न लौकिकैः कर्तुं शक्यते। तत्तु ब्रह्मैव कर्तुं शक्नोतीति शास्त्रेणैवावगम्यते। तदास्य प्रपञ्चस्य निषेधोऽपि कर्तुं न शक्यते। "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः, "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिश्रुत्या अग्नेर्विस्फुलिङ्गवत् सर्वस्य प्रपञ्चस्योत्पत्यादि ब्रह्मणः सकाशादेवेति निश्चीयते। अतः समस्तजीवानां लोकानाञ्चोत्पत्तिस्थितिलया यतस्तद् ब्रह्मेति। एवं तस्य ब्रह्मणः अस्ति भाति प्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेण सर्वत्र प्रपञ्चेऽनुस्यूतत्वाद् तद् ब्रह्म कर्तृ इति प्रतीयते। किन्तु तस्यात्मशब्दप्रयोगात् गुणातीतमेव कर्तृम्।[3] एवं तत् ब्रह्म निर्गुणमद्वैतं परिपूर्णञ्च। "सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति" इति वचनानुसारं वेदाः यत् सर्वेषां कारणं कथयन्ति, तद् ब्रह्मेति[4]। तदक्षरं ब्रह्म "सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" सच्चिदानन्दविग्रहम्", इत्यादि श्रुत्या प्रतिपादितम्। यथा अन्ये रामानुजादय आनन्दो ब्रह्मैवेति कथयन्ति, इमेऽपि आनन्दो ब्रह्मैव भवितुमर्हति न जीवः। अतः "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इति सूत्रोक्तमानन्दं ब्रह्मैवेति एतेषां कथनमस्ति।

---

१. सू० भा० गतिसामान्यात् १।१।९

२. जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्, ब्र० सू० भा० १।१।२

३. सूत्रभाष्य १।१।५ पृ० ३३

४. स्वाप्ययात्, गतिसामान्यात्, श्रुतत्वाच्चेति सूत्राणामाशयः।

तेषां सिद्धान्तस्तु अक्षरविज्ञानेनाविद्यानिवृत्तिः, प्राकृतधर्मराहित्येन शुद्धत्वसंपादनम्, पुरुषोत्तमप्राप्तौ सत्यां स्वरूपयोग्यता च भवतीति। तदा गुहायां परमव्योमाविर्भावः। तद् "भक्त्या त्वनन्यया शक्यमिति" भक्त्या लब्धुं योग्यं भवति। उक्तञ्च—"अहं भक्तपराधीनः। वशे कुर्वन्ति मां भक्त्येति" वाक्यैर्भगवत्प्राप्तिसाधने भक्तिरेव गरीयसीति।

अपि च नहीश्वरादन्यः सर्वेषामात्मा भवितुमर्हति। तस्यैवानन्दत्वं श्रुतिषूक्तम्। तदुक्तं—श्रुत्या "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति", "रसो वै स रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति", "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्", "एष ह्येवानन्दयाति" इति परमात्मा एवानन्दमय इत्युच्यते, नो चेत् अन्योन्तर आत्मेति कथ्येत।[1]

अत्र मतान्तरेऽपि—साङ्ख्या जगतो निमित्तोपादानं कारणं प्रकृतिरिति वदन्ति। वेदान्तिनस्तु ब्रह्मैवेति। तदेवाणुभाष्यकारा अपि ब्रह्मरूपेण सत्यस्य जगतो ब्रह्मैव। निमित्तोपादानकारणमिति कथयन्ति।[2] तदुक्तं स्मृतौ "अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा" इति। अतो भगवानेव जगतः समवायिकारणमिति सिद्धम्।[3] एवं स सर्वं सृजति, अवति हन्ति चेति। किञ्च—"कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्", "यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः", "मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्", "तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता", अक्षरपुरुषोत्तमभावेन तथात्वम्। तस्माद्योनिरपि पुरुषोऽपि जीवस्य वीर्यमपि तद् ब्रह्मैवेति सुस्थम्। अत इदं सर्वं यदयमात्मा इति जगतो निमित्तोपादानं ब्रह्मैवेति सिद्धम्[4]।

जीवस्वरूपम्—

अणुभाष्यानुसारेण जीवः परिमाणतोऽणुः। अत एव श्रुतिस्तं विज्ञानमयं वदति। ननु अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्", इति तस्याङ्गुष्ठ-

१. सू० भा० १।१।११—आनन्दमयः पर इति चेदुच्यते—४६ पृ०

२. १।४।२३ सू० भा०

३. साक्षाच्चोभयाम्नानात् १।४।२५

४. योनिश्च हि गीयते १।४।२७

परिमाणत्वमिति इति स्मृत्या जीवस्याणुपरिमाणत्वमुक्तम्। ननु, "स वा एष महानजः आत्मा योऽयं विज्ञानमयः" इति तस्य महत् परिमाणमिति प्राप्तम्। अत्र उच्यते "स्वशब्दोन्मानाभ्याञ्च"[1] इति स्वशब्दोऽणु-परिमाणं जीवं बोधयति। न हि स्वप्ने व्यापकस्य, शरीरपरिमाणस्य वा विहरणं भवति। अतएव श्रुतिः "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते" इति अणुरेव जीवात्मा इति वदति। अपि च "आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः" इति पारिशेष्या-दणुरेवेति निश्चीयते। यदि जीवोऽणुः स्यात् स सर्वशरीरस्य वेदनां कथं गृह्णातीति संशये—चन्दनबिन्दुरिव अणुचैतन्यमपि समग्रशरीरस्य वेदना-मनुभवतीति। एवं जीवस्य जीवनकाले तस्य सच्चित्स्वरूपं तु प्रकटमस्ति, आनन्दस्तु मोक्षे एव प्रादुर्भवति। यथा पुंस्त्वादिगुणा बाल्यकालेऽपि सन्ति, तेषामभिव्यक्तिस्तु यौवने भवति, तथैवानन्दस्य प्रकाशस्तु मोक्षे भवतीति।

जीवकर्माणि—

समस्ताभ्युदयनिःश्रेयसफलकर्मप्रतिपादकानि शास्त्राणि जीवमधि-कृत्य प्रवृत्तानि। तेषां ब्रह्मणोऽनुपयोगात् जडस्याशक्यत्वाच्च। एवमेव लोकान्तरगमनमपि जीवानामुपदिशति, अतएव कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः सम्बन्धे साधुकारी साधु-र्भवति—इति सामानाधिकरण्यश्रवणात् जीव एव कर्ता भवतीति प्राप्ते उच्यते—यथा तक्षा रथं निर्माय तत्रारूढः सन् विहरति, त्यजति चेति तस्य कर्तृत्वमकर्तृत्वमुभे दृश्यते तद्वत्।[2] यद्यपि कर्तृत्वं कारयितृत्वञ्च जीवस्येति प्राप्तं तथापि। श्रुतौ तु कर्तृत्वादिकं सर्वं ब्रह्मगतमेवेति[3]। तथा च सूत्रान्तरम्—"परात्तु तच्छ्रुतेः" इति। "नान्यो-ऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता घ्राता...." इत्यादिना श्रुतिवचनेन सर्वकर्तृत्वं तस्मिन्नेव (ब्रह्मण्येव) घटते।

ननु ईश्वरः कांचन जीवानुद्धरति, अन्यानधोनयतीति तस्मिन् वैषम्यदोष इति चेन्न, प्रयत्नपर्यन्तं जीवकृत्यम्, अग्रे तु तस्याशक्यत्वात् परमेश्वरः

१. ब्र० सू० २।३।२२

२. यथा च तक्षोभयथा २।३।४०, सू० भा०

३. परात्तुतच्छ्रुते २।३।४१ सू० भा०

स्वयं कारयतीति। तत्र फलं जीवस्येच्छानुरूपमीश्वरो ददाति। कर्मकरणे प्रयत्नापेक्षः, प्रयत्ने कामापेक्षः, कामे प्रवाहापेक्षः—इति मर्यादारक्षार्थं परमेश्वरो वेदं चकार। तस्मादुक्तंदोषो भगवति लेशतोऽपि नायाति।[1]

जीवस्य भगवदंशत्वोपपत्तिः—

जीवो नाम ब्रह्मणोंऽशः। कुतः? नानाव्यपदेशात्। सर्वे एवात्मानो व्युच्चरन्ति[2] रमणीयचरणाः कपूयचरणाश्चेति। तत्र संशयः निरंश ब्रह्मणि सांशो जीवः कथमुत्पद्यते? यदि जीवो ब्रह्मणोंऽशः स्यात् ब्रह्माऽपि सावयवः स्यात् इति प्राप्ते—उच्यते "अंशांशित्वं", "सावयवनिरवयवत्वञ्च" वेदेनैव ग्राह्यम्[3] नान्यैः प्रमाणैः। वेदे तु विस्फुल्लिङ्गा इवाग्नेर्हि जडा जीवाश्च ब्रह्मणः समुत्पन्नाः इति कथ्यन्ते। जडजीवेषु ब्रह्मणोऽनेके धर्मास्तिरोभूताः सन्ति। तथापि उभौ ब्रह्मणोंऽशौ इति श्रुतिवचनम्। तद्यथा बाल्यकौमारयौवनादिभेदेन विभिन्नानि रूपाणि एकत्रैव सन्ततौ दृश्यन्ते, तथा अत्रापि ग्राह्यम्।

ननु सच्चिदानन्दब्रह्मणोंऽशो जीवोऽपि तथा स्यादिति चेन्न, "तदाभास एव जीवः। तस्मिन् आनन्दांशस्य तिरोहितत्वात्। किन्तु प्रतिबिम्ब इव न सर्वथा मिथ्यात्वम्, आभासोऽत्र विवक्षितः। यथा देहसंबंधेन जीवस्यानुज्ञापरिहारौ, अन्यथा न तदुत्पन्नौ। एवं शुद्धभाण्डजलं सर्वे गृह्णन्ति, परन्तु गङ्गाजलमपि चाण्डलभाण्डात् न पिबन्ति बहवः। तस्मात् न्यासादिसर्वविधानानि देहसंबन्धेनैव भवन्ति।[4] तस्मात् जीवात्मा अणुश्चेतनः कर्ता भोक्ता धर्माधर्माभ्यां सिनीतः परमात्मनोंऽशः, सच्चिद्रूपः बद्धो मोक्ष्यश्चेति।

श्रीकृष्णस्यैव परब्रह्मत्वनिरूपणम्–बन्धोऽनाद्यविद्यासंसारवासनात्मिका। सा च गुरुपसत्तिश्रवणमननविष्णूपासनादिरूपज्ञानसामग्रीभिः नश्यति।[5] भगवतो विष्णोः सर्वेऽवतारा उपासनायां श्रेष्ठाः सन्ति। तत्रापि "यत्रासौ

१. सूत्रभाष्यम् २।३।४२

२. अंशो नानाव्यपदेशात्—२।३।४३ सू० भाष्यम्

३. आभास एव २।३।५० सू० भा० द्रष्टव्यम्।

४. आभास एव २।३।५० सू० भा० द्रष्टव्यम्

५. तदधिगमउत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ४।१।१२ सू० भा०

संस्थितः कृष्णः स्त्रीभिः शक्त्यासमाहितः"[1] इति श्रीकृष्णावतारमेव सर्वोत्तममिति मन्यते श्रवणमननज्ञानजपेभ्यः। भागवते तु "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति गीयते।[2]

ननु ब्रह्मणो निरवयवत्वेन कस्यांशित्वं कस्यांशत्वमिति वक्तुमशक्यमिति चेदुच्यते "सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिः"[3] "विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तम्"[4] इत्यादिवाक्यैः यद्भगवत्स्वरूपमुक्तं तस्य व्रजनाथस्य कृष्णरूपस्य स्मरणजपध्यानेनांशांशिभावः। तद्रूपं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहमिति मन्यन्ते। तत् "रसो वै स" इति श्रीकृष्णस्वरूपमेव निरुपाधिकमित्युच्यते। अन्येऽवताराः सोपाधिका इति भाष्यकारमतम्।[5]

जीवस्य बन्धस्तन्निवृत्त्युपायश्च—

वस्तुतो जीवस्य भगवद्धर्माणां तिरोभाव एव जीवभाव इति। तस्मात् स जीवः सुखदुःखादिकमनुभवति। ऐश्वर्यतिरोभावाद्दीनत्वं पराधीनत्वञ्च, वीर्यतिरोभावात् सर्वदुःखसहनं, यशस्तिरोभावात् सर्वहीनत्वञ्च, श्रीतिरोभावाज्जन्मादिसर्वापद्विषयत्वञ्च, ज्ञानतिरोभावाद देहादिष्वहंबुद्धिः, सर्वविपरीतज्ञानञ्चापस्मारसहितस्येव, वैराग्यतिरोभादात्" विषयासक्तिरिति बन्धविपर्ययौ स्तः। तस्यानन्दस्य तिरोभावात् "काममयः" इत्युच्यते, अकामरूपत्वादानन्दस्येति।[6]

अस्मिन् पुष्टिमार्गे—कृतिसाध्यं साधनं ज्ञानभक्तिरूपं शास्त्रेणावगम्यते। ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्तिमर्यादा, तद्रहितानामपि स्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिरित्युच्यते। अर्थात् तत् प्रेमरूपभक्त्या भगवत्प्राप्तिरिति।[7] श्रवण-

---

१. गोपालताप० उ० २।२

२. श्रीमद्भागवत १।२।२८

३. भागवत १०।८६।१५

४. भागवत १०।२४।४

५. स्वाध्यायस्य तथात्वे न समाचारे—(३।३।३) स होवाचाब्जयोनिः योऽवताराणां मध्ये श्रेष्ठावतारो—२७९ पृष्ठतः २८० यावद्द्रष्टव्यम्।

६. पराभिध्यानात्तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ (३।२।५) अस्य जीवस्य ऐश्वर्यादि तिरोहितं तत्र हेतुः—भाष्यं द्रष्टव्यम्।

७. सू० भा० ३।३।२९, पृ० ४२७

मननोपासनादिभिः पापक्षये सति भगवत्प्रेमोत्पत्तिस्ततो मुक्तिरित्युच्यते। इदं तु न विधिविषयः, स्नेहेन क्रियमाणत्वात्। अतः श्रवणादिभिरपि भगवत्प्रेमफलमित्युच्यते।

मुक्तिः—

जीवस्य मुक्तिस्तु "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्....."[1] इति ज्ञानमार्गेऽक्षरज्ञानान्मोक्षः। परन्तु "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यनेनाक्षरादपि परमन्यदस्तीति ज्ञायते। तदेव—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

"अक्षरादपि चोत्तमः"[2] इत्यक्षरातीतपुरुषोत्तमः पर इति ज्ञायते। "भक्त्या मामभिजानाति" इति वाक्येन पुरुषोत्तमविषयकं ज्ञानं भक्त्या प्राप्तव्यमिति निश्चीयते। एवं ब्रह्मभूतस्य भक्तिलाभः, स च भगवदानन्दांशाऽऽविर्भावरूपः, तथाविद्यानाशद्वारा अक्षरज्ञानजन्यः। तस्मादक्षरज्ञानं मुक्तिमार्गस्य पूर्वावस्था एव। तदुक्तम्—"ब्रह्मभूतस्य भक्तिलाभात् तस्य चानन्दांशाविर्भावात्मकत्वात्, तस्य चाविद्यानाशद्वाराक्षरज्ञानजन्यत्वात् पूर्वावस्था एवाक्षरज्ञानम्। तेन ब्रह्मज्ञानेन ज्ञानावरोधानां नाशात् ततः पुरुषोत्तमप्राप्तिरिति। तथा "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति, न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्[3]॥" इति ब्रह्मभावानन्तरमेव भगवद्भावसंभवात् पुरुषोत्तमप्राप्तिरेव वास्तविकी मुक्तिः[4]।

व्यतिहारसूत्रार्थः भक्तिप्रभेदश्च—"तद्योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्"[5] "तैत्तिरीयके चाहमस्मि ब्रह्माहम्"[6] इति पठ्यते। अत्र व्यतिहारे ब्रह्माभेदः सिध्यति। तल्लीलामध्यपातिभक्तानामपि "कृष्णोऽहमहं कृष्णः"[7]

---

१. बृह० आर० ३।८।८
२. भग० गी० १५।१८
३. भग० गी० १८।५४।
४. अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत् तदुक्तम् ३।३।३३ ब्र०सू०।
५. ऐत० आर० २।१२।२।
६. महानारायण ५।१०।
७. श्रीमद्भागवत १०।१९।२७।

इति। अयमेवाभेदानुभवः ज्ञानं वा भक्तिफलमित्युच्यते। भगवद्भावनया भक्तानां विरहेण च चाद्वैतज्ञानं लभ्यत इति। भगवल्लीलारसास्वादनमेवा-भेदस्वरूपमित्युच्यते। तत् संयोगे रसानुभवः, वियोगे विरहानुभवः[1]—इति। सा भक्तिरपि द्विविधा-विहिता अविहिता चेति। तत्र विहिता तु माहात्म्यज्ञानयुतेश्वरे प्रभौ निरुपधिस्नेहात्मिका, कामाद्युपाधिना अविहिता भवति। उभे अपि भक्ती मुक्तिसाधिके इति[2]।

बलेन भगवत्-प्राप्तिः, बलं भक्तिः

श्रुत्युक्तं "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"[3] बलकार्यं हि प्रभुवशी-करणम्। उक्तञ्च—"अहं भक्तपराधीनः"[4], "वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या"[5] इति। एभिर्वाक्यैः भक्तिरेव बलशब्देनोच्यते[6]। अक्षरपर्यन्तं गणितानन्दत्वात् पुरुषोत्तम एव निरवधिकसुखानन्दात्मकः। अतः स एव भूमा इत्युच्यते। तद् भक्त्या एव प्राप्नोतीति सिद्धान्तः।

ज्ञानकर्मसमुच्चयाऽभ्युपगमः

एतेषां मते ज्ञानकर्मसमुच्चयवादः स्वीकृतः। यथा औपनिषदज्ञान-स्यापि "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवति, ब्रह्मविदामेव जनकादीनां कर्मणि सर्वदा एव सान्निध्यमासीत्।" तदेवो-क्तम्—भगवद्गीतायाम्—

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गच्छन् स्वपन्श्वसन्॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ इति॥

---

१. व्यतीहारोविशिषन्ति—३।३।३७ सू० भा०

२. कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ३।३।३९ सू० भा०

३. मुण्ड० उप० ३।४

४. भागवत ९।४।६३

५. भाग० ९।४।६६

६. विद्येव तु निर्धारणात्, ब्र० सू० ३।३।४७ पुरुषोत्तमलाभहेतुभूते तु भक्ति-मार्गे।

ब्रह्मविदामेव कृतं कर्म शुभं फलं ददातीति[1]। ननु "संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वा—" इत्यनेन कर्मन्यास उक्तः श्रुत्या इति चेन्न, पुष्टिमार्गे त्वन्यैव व्यवस्था कृता। "न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह"[2] इति वाक्येन भक्तिमार्ग एव गरीयानिति भाष्यकाराभिप्रायः। परन्तु मन्दमध्यमाधिकारिणां कर्मज्ञानमावश्यकमिति।

श्रुत्या कर्मज्ञानभक्ति रूपमार्गः श्रेयोऽर्थिभ्यः प्रदर्शितः। तत्र तेषां फलं विचार्यते। सर्वत्र कर्मणः फलं सुकृतं दुष्कृतञ्चेति द्विविधम्। तेन कर्ता जन्मान्तरं प्राप्नोति, स्वकृतकर्मफलानि तत्रोपभुङ्क्ते च। अतः फलोपभोगायासकृत् नव-नवशरीराणि प्राप्नुवन्ति च कर्तारः। इदं संसारचक्रमर्थात् चक्रवत् सदा गतिशीलमित्यर्थः[3]।

उपासनाप्रकाराः

केचन मुमुक्षवो ज्ञानेन कर्मणा उत्थाय ज्ञानमार्गमवलम्बन्ते। ते परमात्मानमात्मत्वेनोपासते। उपासनया भगवान् तेषां हृदि स्फुरति। तेन ते प्रारब्धकर्मनाशे सति अक्षरब्रह्मणि प्रविशन्ति। अन्ये ये स्वकर्मफलानि परमात्मने समर्पयन्ति, तेऽपि क्रमेण मुच्यन्ते। यदि भक्तिमार्गमङ्गीकृतवन्तस्ते तदा साक्षात् प्रकटितपुरुषोत्तमे प्रविशन्ति। तस्मात् ज्ञानभक्तिमार्गिणां सर्वथा अनावृत्तिरिति श्रुत्या चोदितम्[4]। तत्रापि पुष्टिमार्गिणां पुण्यपापयोर्मर्यादाया उत्थाय प्रारब्धकर्माण्यपि शीघ्रमेव नश्यन्ति। ततस्ते सद्यो मुक्तिभाजो भवन्तीति[5]।

भक्तिमार्गे साधकस्य दशाद्वयमित्युक्तम्, विरहदशा प्रियसङ्गमदशा चेति। तयोः साधकस्योपदेशनं न स्यात्।[6]

ये च पुष्टिमार्गीया भक्ता भगवल्लीलामध्यपातिनः तेषां भगवद्दर्शनं नित्यं वा अनित्यं वेति चिन्त्यते। "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति

---

१. सू० भा० १।१।१, पृ० १३

२. श्रीमद्भागवत ११।२०।३१ उध्वरेतस्सु च शब्दे हि सू० भा० ३।४।१७

३. आवृत्तिरसकृदुपदेशात्, लिङ्गाच्च ४।१।१,२ सू० भा०

४. आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति ४।१।३, सू० भा०

५. मर्यादाविपरीतत्वात् पुष्टिमार्गस्य ४।१।१७, सु० भा०

६. नोपमर्देनातः ४।२।१० सू० भा०

सूरयः''[1] इत्यनेन तेषां प्रभुदर्शनं नित्यमित्युच्यते। न कदापि विभागो भवति[2]। ज्ञानिनो मरणं तु ''शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानम्.........''[3] इत्यनुसारेण हृदिस्थितभगवदनुग्रहेण सुषुम्ना नाड्या प्राणाः निष्क्रामन्ति। तत्र ते अक्षरब्रह्म प्राप्य विमुच्यन्ते। तेषां कालविशेषो नास्ति। अर्थात् उत्तरायणं वा दक्षिणायनं वा शुक्लो वा कृष्णो वेति पक्षभेदादिर्नास्ति। अयनादिकं सर्वं योगिनः कर्मिणश्च भवति[4] न तु भक्तानाम्।

किञ्च—''ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातपः इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति। आदावर्चिषम्, ततोऽहस्ततः सितपक्षं तत उद्गमनं, ततः संवत्सरं, ततो वायुं, ततो देवलोकं, तत आदित्यं, ततश्चन्द्रमसं, ततो वैद्युतं, ततो वरुणं, तत इन्द्रं, ततः प्रजापतिं, ततश्चामानवेन पुरुषेण ब्रह्म सम्पद्यते—इति सिद्धान्तः।

निर्गुणोपासकानां मुक्तिः

ये प्राकृतगुणरहितं ब्रह्म उपासते ते विद्वांसो निर्गुणब्रह्म प्राप्नुवन्ति। तेषां मुक्तिः प्रकारद्वयवती अस्ति। सद्योमुक्तिः, क्रममुक्तिश्चेति। तत्र सद्योमुक्तिस्तु ''न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते।'' ''ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'' इति। क्रममुक्तिस्तु पूर्वोक्तरूपेण क्रमशः इति मन्तव्यम्[5]।

भक्तानां हृदि प्रभुः स्वयमेव प्रकटीभूय स्वस्य व्यापकवैकुण्ठं तत्रैव हृद्याकाशे प्रकटीकरोति। तेषामपि अत्रैव ब्रह्मप्राप्तिरिति। ज्ञानिनामक्षरब्रह्मप्राप्तिः, भक्तानां पुरुषोत्तमब्रह्म प्राप्तिरिति ज्ञानभक्त्योर्भेदः[6]।

मुक्तावस्थायां भक्तानां शरीरमपि भवति। तेनैव भक्तस्य कामोपभोगो निरूपितः। मुक्तानां शरीराणि नित्यानि भवन्ति। यस्य जीवस्य यथा अनुग्रहो, स तादृशं शरीरं प्रविश्य भगवदानन्दमश्नुत—इति[7]। एषां मुक्तं

---

१. तैत्तिरीय सं० १।३।६

२. अविभागो वचनात् ४।२।१६, सू० भा०

३. कठ० उप० २।६।१६

४. सू० भा० ४।२।१७, तः २१ पर्यन्तानामाशयः।

५. दर्शनाच्च ४।३।१३ अपरञ्च ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातपः—सू० भा० पृ० ४०१

६. विशेषञ्च दर्शयति ४।३।१७ सू० भा०

७. सू० भा० ४।४।७

ज्ञानिनां भक्तानाञ्च पुनरावृत्तिर्नास्ति। तेषु भक्तानामेव मोक्षः सुदुर्लभ इति सिद्धान्तः। अतो भक्ता वैकुण्ठं प्राप्य भगवता सह नित्यलीलारसानुभवं भुञ्जत इति दिक्[1]।

स्वाभाविकभिन्नाभिन्नवादे-आत्मतत्त्वम्

श्रीनिम्बार्काचार्यस्य स्वाभाविकभिन्नाभिन्नवादे आत्मतत्त्वं भिन्नमभिन्नञ्च प्रतिपादितम्। तत्त्वं तु चिदचिद् ब्रह्मेति त्रिविधम्। तत्प्रतिपादकश्रुतिवाक्यानि "य आत्मानमन्तरो यमयति", "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्", "आत्मा हि परमः स्वतन्त्रोऽधिगुणः", "जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रोऽवरः", "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" इत्यादीनि जीवपरमात्मनोः स्पष्टभेदं व्यपदिशन्ति। अपि च "तत्त्वमसि", "अहं ब्रह्मास्मि", "अयमात्मा ब्रह्म" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादीनि अभेदप्रतिपादकवाक्यानि च सन्ति। अत उभयविधवाक्यानामपि तुल्यबलत्वात् तैः सर्वत्र जीवात्मपरमात्मनोर्भेदाऽभेदौ सिद्धाविति निश्चीयते।

ब्रह्मणः स्वरूपम्

तस्मिन् दर्शने अचिन्त्यानन्तनिरतिशयस्वाभाविकबृहत्तमस्वरूपगुणाद्याश्रयभूतः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वरः सर्वकरुणारूपः समानातिशयशून्यः सर्वव्यापकः सर्ववेदैकवेद्यः श्रीकृष्णभगवानेव परब्रह्मेति उच्यते।

स च श्रीकृष्णः परब्रह्मनारायणवासुदेवादिशब्दाभिधेयः यावदात्मवृत्तिगुणशक्त्याद्याश्रयो ब्रह्मरुद्रेन्द्रप्रकृति परमाणुकालकर्मस्वभावादीनां नियन्ता, निरस्तसमस्तदोषः, चिदचित्स्वरूपो भेदाभेदाश्रयो भगवान् वासुदेवः पुरुषोत्तम इति[2]।

किञ्च स नित्याप्राकृतविग्रहश्च। तत्राप्राकृतन्नाम त्रिगुणप्रकृतिकालात्यन्तभिन्नोऽचेतनप्रकृतिमण्डलभिन्नदेशवृत्तिः नित्यविभूतिविष्णुपदपरमव्योमब्रह्मलोकादिपदाभिधेयम् इति। उक्तञ्च तस्य स्वरूपं श्रुतिषु इत्या-

---

१. अनावृत्तिः शब्दात्। ४।४।२२

२. ब्रह्म चाचिन्त्य.........१।१।१, वेदान्तकौस्तुभे, पृ० सं० ५

दिषु—"आदित्यवर्णः तमसः परस्तात्", "योऽस्याध्यक्षः परमेव्योमन्", "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः"इति। एवं अन्यान्यपि "अनादिनिधनं देवं प्रभुं नारायणं हरिम्", "देवाश्च यं न पश्यन्ति दिव्यं तेजोमयं पदम्", "यतयस्तत्र गच्छन्ति देवं नारायणं हरिम्" इत्यादीनि परमात्मनो प्राकृतरूपाणि वर्णितानि सन्ति[1]। तस्य साधने काश्चन श्रुतयोऽत्रोदाह्रियन्ते। यथा—"तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्", "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते", "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते", "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः", "कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्", "मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय", "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः", इत्यादि श्रुतिस्मृतिवाक्येभ्यः कृष्ण एव परब्रह्मेति निश्चीयते[2]।

तस्य लक्षणं तावत् "जन्माद्यस्य यतः" इत्यनेन सूत्रेण जगतो यतः सृष्टिस्थितिलयमोक्षास्तद् ब्रह्मेति कथ्यते। तत्र सृष्टिस्तावत् चेतनानां देहादिसंयोगेन विशेषविज्ञानविकासो जन्म। तेषां सङ्कोचपूर्वककारणप्रवेशः प्रलय इति उच्यते। सृष्टिप्रलयौ उभौ ब्रह्मण्येव भवतः। अतएव स्थितिरपि तस्मिन्नेव भवति। तद्दर्शने तत्प्राप्तिरेव मोक्ष इति कथ्यते। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति तस्य स्वरूपप्रतिपादकवाक्यम्[3]।

ब्रह्मज्ञानं तु शास्त्रादेव भवति, नान्यप्रमाणेभ्यः। तदुक्तं श्रुत्या—"यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह" इति वचनात् "जगत् कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत्" इत्यादिना अनुमानेनापि श्रुतिं विना तस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्, ब्रह्मज्ञानं प्रति शास्त्रमेव प्रमाणम्। उक्तञ्च ब्रह्माधिगमे—"नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्", "तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इत्यादिवाक्यैर्ब्रह्मज्ञानं भवति। तथा च श्रुतिः—"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं ब्रह्ममेतत्" इति[4]।

यथा सर्वे वेदान्तिनो वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मण्येव समन्वयं कुर्वन्ति, तथा इमेऽपि तेषां वाक्यानां परब्रह्मणि श्रीकृष्णे समन्वयं कुर्वन्ति। तद्यथा

---

१. अथाप्राकृतन्नाम त्रिगुणप्रकृतिः—वे० कौ० पृ० ९, (१।१।१) सू० भा०

२. श्रीकृष्ण एव बृहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म, वे० कौ० पृ० ५, (१।१।१) सू० भा०

३. सू०भा० १।१।२, वे० कौ० १३ पृ०

४. सू० भा० १।१।३, वे० कौ० पृ० सं० १५

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च", सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्" आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते", "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय", "नारायणाज्जायते प्राणो" "नारायणाद् ब्रह्मा जायते" "नारायणाद्रुद्रो जायते", "एको ह वै नारायण आसीत् न ब्रह्मा नेशानः", "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति[१]। "स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्। व्यूहाङ्गिनं ब्रह्मपरं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥" इति वाक्यानां श्रीकृष्णभगवति समन्वयः क्रियते।

तत्र चिदचिद्ब्रह्मस्वरूपपरत्वेन भेदवाक्यानां सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वप्रतिपादनपरत्वेन अभेदवाक्यानां निर्गुणवाक्यानां मायिकगुणनिषेधपरत्वेन सृष्ट्यादिपराणां वाक्यानां जगत्कर्तृत्वादिगुणप्रतिपादनपरत्वेन सगुणवाक्यानां स्वाभाविकगुणप्रतिपादनपरत्वेन "यद्वाचानभ्युदित" इत्यादीनामियत्तानवच्छिन्नत्वप्रतिपादनपरत्वेन चान्वयः।

नित्यनैमित्तिककर्मपराणाञ्चाधिकारिसत्त्वशुद्धिसम्पादनद्वारा ब्रह्मविषयकज्ञानादिसहकारित्वेन, काम्यपराणाञ्च "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीति" विषयानन्दस्यापि ब्रह्मानन्दलेशत्वात्तद्द्वारा ब्रह्मण्येव समन्वयः क्रियते[२]।

यथा श्रीभाष्यादिषु आनन्दमयः परमात्मेति उक्तम्, तथा अत्रापि आनन्दमयो भगवानिति कथ्यते, न तु जीवात्मा। एवमेवात्रापि जगतो निमित्तोपादानमपि ब्रह्म एव ज्ञातव्यम्। कुतः? "उत तमादेशमप्राक्षीः येनाऽश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतं भवति अविज्ञातं विज्ञातं भवति" इति प्रतिज्ञया "यथा सोम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्" इत्यनेन ब्रह्मण उपादानत्वम्, "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" इत्यनेन ब्रह्मणो निमित्तत्त्वं प्रतिपादितम्[३]।

---

१. ब्रह्मैवेदं सर्वमिति वाक्यकदम्बस्य तत्रैव श्रीकृष्णे समन्वयः ब्रह्म सू० भा० १।१।४, वे० कौ० पृ० १९

२. सूत्रभाष्य, १,१,४ पृ० २२।

३. प्रतिज्ञा तावत् "उततमादेशमप्राक्षीः—ब्र० सू० १,४,२३, अभिध्योपदेशात् साक्षाच्चोभयाम्नानात् १,४,२४,२५

किञ्च—"तदात्मानं स्वयमकुरुत" इत्यनेनात्मानं स्वयमेव परिणमयामास। तत्र परिणामस्तावत् स्वशक्तिविक्षेपेण जगदाकारं स्वात्मानं परिणम्याव्याकृतेन स्वरूपेण शक्तिमता कृतिमता जगद्रूपेण परिणमितमेव भवति। अतः "यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" "कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्" इति योनिशब्देन ब्रह्मैव गीयते। अस्मिन् दर्शने तद् ब्रह्म तु श्रीकृष्णो जगदभिन्ननिमित्तोपादानमिति सिद्धान्तः, न साङ्ख्योक्तप्रकृतिः, वेदविरुद्धत्वात्[1]।

जीवः—

जीवपदार्थस्तु त्रिषु तत्त्वेषु मध्येऽचिद्वर्गभिन्नो ज्ञानस्वरूपः ज्ञातृत्वकर्तृत्वादिधर्मकोऽहमर्थस्वरूपतोऽणुपरिमाणः प्रतिशरीरं भिन्नः बन्धमोक्षार्हश्चित्पदार्थो भवति[2]। स अणुः सन्नपि समग्रशरीरस्य वेदनां संगृह्णाति गुणेन च विभुः। स्वकर्मकरणे स्वतन्त्रः, पूर्वकर्मानुसारेणेश्वरस्तं प्रेरयति कारयति चापरजन्मसु। वस्तुतस्तु परमात्मा वा ईश्वरो वा न कर्माणि करोति न कारयति च। बुद्ध्यादिगुणेन संयुक्तः सन् आत्मा कर्ता कारयिता इव दृश्यते। तद्यथा तक्षा स्वसाधनैः कर्म करोति तदा स कर्ता भवति। स त्यक्तोपकरणः सन्नकर्ता भवति, तद्वदत्रापि ज्ञातव्यम्। ईश्वरो जीवस्य पूर्वकर्मानुसारेण तं लोके प्रेरयति कारयति[3] च। तेन जीवस्तदनुसारं करोति। अतः स कर्तृत्वादिष्वपि परतन्त्र एव।

अपि च जीवात्मपरमात्मनोरंशांशि भावौ भेदाभेदौ प्रदर्शितौ स्तः। यथा "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावित्यादि" भेदव्यपदेशकं वाक्यं, "तत्त्वमसि" इति जीवात्मपरमात्मनोरभेदप्रतिपादकं वाक्यं भवति। सूत्रेऽपि "अंशो नानाव्यपदेशात्" इति भेदव्यपदेशात्। "अन्यथा च इति" अभेदव्यपदेशाच्च। उभयविधवाक्यानां तुल्यबलत्त्वात् जीवपरमात्मनोः स्वाभाविकौ भेदाभेदौ भवतः।

---

१. स वैवेदैकवेद्योजगद्भिन्नाभिन्नः श्रीपुरुषोत्तमो भगवान् सर्वेश्वरः श्रीकृष्ण एव सू० भा० १,४,१७, वे० कौ० १४५

२. सू० भा० १,१,१, वेदान्त कौस्तुभः/ पृ० ७

३. यथा च तक्षोभयथा, ब्र० सू० २,३,३९ तः २,३,४१ यावद् द्रष्टव्यम्, वे० कौ०।

किञ्च—भेदाभेदप्रतिपादिका अन्याः श्रुतयः "ब्रह्म दाशा, ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे कितवा" इत्येवं ब्रह्मणो दाशकितवादित्वं पठन्ति। अतः सर्वत्र जीवपरमात्मनोर्भेदाभेदौ एव भवितुमर्हतः। न केवलोभेदः, नाप्यभेदः। असौपरमात्मांऽशी नित्यो निर्गुणः, तस्मात् स कर्मफलैर्न लिप्यते। परन्तु योंऽशो जीवात्मा वा कर्मात्मा वा तस्यैव बन्धमोक्षौ युज्येते।

वस्तुतस्तु जीवः परमात्मनोंऽशः, तथापि, विषमशरीरसम्पर्कात् अनुज्ञापरिहारौ उपपद्येते। यावज्जीवो देहमाश्रयति तावत्तस्य परमात्मना सह भेदो वर्तते। यदा स स्थूलसूक्ष्मशरीराद्विमुच्यते तदा एव तस्याभेद उपयुज्यते।[1]

जीवस्य बन्धनम्

जीवस्य बन्धस्तावत् अज्ञानमूलभूता त्रिगुणाऽर्था माया चेति उच्यते। तस्य ज्ञानस्वरूपं तु हरेरधीनमस्ति, शरीरं तु संयोगवियोगयोग्यम्। जीवो नामानादिमायया धर्माधर्मादिना बद्धः। परन्तु भगवत्प्रसादात् स स्वरूप-ज्ञानं प्राप्नोति। स च जीवात्मा द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, विज्ञानात्मा पुरुष इत्युच्यते। यदा भगवद्भक्त्या जीवो भगवद्भावं प्राप्नोति तदा स बन्धाद्विमुच्यते[2] न स पुनरावर्तते।

अचित्पदार्थविभागः

तत्राचित्पदार्थस्त्रिविधः—प्राकृताप्राकृतकालभेदात्। अप्राकृत-पदार्थस्तु ब्रह्मलोकाभिधेयमित्याद्यनेकैः शब्दैः पूर्वमेवोक्तः। प्राकृतन्नाम—माया, प्रधानं, त्रिगुणाश्रयभूतं द्रव्यमित्युच्यते। तन्नित्यं विकारि परिणामि च भवति। तदुक्तं श्रुत्या—"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः" इति। तदैव स्वगुणैः जीवात्मानं देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादि-रूपेण परिणतं बध्नाति। महदादिब्रह्माण्डान्तस्य जगतः कारणीभूतं च, तत्कार्यमनित्यमिति बोध्यम्[3]।

---

१. सू० भा० वे० कौ० २।३।१६ तः सू० सं० ५२ पर्यन्तसारांश।

२. सू० भा० १।१।१, वे० कौ० पृ० सं० ७

३. ब्र० सू० भा० १।१।१, पृ० ८ तः ९ पर्यन्त द्रष्टव्यम्।

तत्र कालपदार्थस्तु प्राकृताप्राकृतोभयभिन्नोऽचेतन द्रव्यविशेषः नित्यो विभुश्च भवति "अथ नित्यानि ह वै पुरुषः प्रकृतिः कालः" इत्यादिश्रुतेः[१]। स च कालः भूतभविष्यद्वर्तमानयुगपच्चिरक्षिप्रादिव्यवहारासाधारणहेतुः सृष्ट्यादिसहकारी च। सर्वमपि प्राकृतं वस्तु कालतन्त्रम्, परन्तु तस्य कालस्य सर्वनियामकत्वेऽपि परमेश्वरनियम्यत्वमेव "ज्ञः कालकालो गुणी सर्ववेद्यः" इति श्रुतेः[२]।

ज्ञानकर्मसमुच्चयवादः

अस्मिन् दर्शने न केवलज्ञानेनैव मोक्षः सिध्यति। अपितु ज्ञानकर्मसमुच्चयेनेति। तत्र ज्ञानकर्मसमुच्चयस्तावत् स्ववर्णाश्रमोचितनित्यनैमित्तिककर्मणां भवति। तदुक्तं श्रुत्या "तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति कर्मणामेव विद्यासाधनत्वदर्शनात्। अतो गृहस्थानां यावज्जीवमग्निहोत्रादिकर्माणि कर्तव्यानीति[३]। अत ऊर्ध्वरेतसामपि तपोजपादीनि कर्माणि कर्त्तव्यानीति सिद्धान्तः[४]।

मुक्तिः

एतेषां मतानुसारेण जीवन्मुक्तिर्नास्ति, किन्तु विदेहमुक्तिरेव भवतीति। यावच्छरीरं तिष्ठति तावन्न वस्तुतः कर्मक्षयो भवति। अतो भोगावसाने शरीरपाते सत्येव मुक्तो भवति।

साधनम्

मुक्तेः सिध्यर्थं तु श्रवणमनननिदिध्यासनानां भगवतो भक्त्याश्च मुहुर्मुहुरभ्यासः कर्तव्यो मुमुक्षुभिः। तेन साधकः शीघ्रमेव मोक्षभाग् भवति[५]।

---

१. सू० भा० १।१।१, वे० कौ० पृ० १०

२. सू० भा० १।१।१, वे० कौ० पृ० १०

३. अग्निहोत्रादिनित्यनैमित्तिकं स्वाश्रमकर्म विदुषा तत् कार्य्यायैव = विद्योत्पत्तिकार्य्यायैवानुष्ठेयम्, ब्र० सू० ४।१।१६, वे० कौ० पृ० ३९४

४. तस्माद्विद्योदयाय स्वाश्रमकर्मादिरूपं, सू० भा० ४।१।१८

५. सम्यगाराधने निदिध्यासनलक्षणे भक्तियोगे ब्रह्मव्यक्तं भवति। वे० कौ० ३।२।२४

श्रुत्युक्तं "नेति नेति" पदं न सकलप्रपञ्चनिषेधपरम्। यतो हि उक्तञ्च श्रुत्या "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपं मूर्तञ्चामूर्तमेव चेति"। अतो मूर्तामूर्तस्यापि रूपस्य ब्रह्मरूपत्वात् तस्य निषेधो न युक्तिसहः। एवमयं प्रपञ्चः यत्कार्यरूपः, तत्कारणरूपब्रह्मणा सह भेदाभेद सम्बन्धनिरूपितत्वात् निषेधानर्हः[1]।

भगवत्साक्षात्कारस्यान्तरङ्गोपायो निदिध्यासनमित्युच्यते। तत्र ज्ञानम्—ध्यानज्ञानपराभक्तिध्रुवास्मृतयः ज्ञानशब्दस्यापरपर्यायाः। तस्मात् भगवत् साक्षात्कारायेदं सर्वमावश्यकमस्ति। तत्र वेदान्तवाक्यानां भगवत्स्वरूप-प्रतिपादनपरत्वमिति निश्चित्यानुभूताचार्यमुखाच्छ्रुतं वाक्यं श्रवणमित्युच्यते।

श्रुतस्य चोपदिष्टार्थस्य स्वानुभवकरणाय शास्त्रानुकूलयुक्तिभिर्विचारविशेषो मननमित्युच्यते। मननविषयस्यार्थस्य साक्षात्कारासाधारणसाधनमनवरतध्यानं निदिध्यासनमित्युच्यते। श्रवणमनननिदिध्यासानानां फलं तु मुक्तिः।

मुक्तिस्वरूपम्

सा च मुक्तिः, कार्यकारणप्रकृतिरूपबन्धनिवर्तिका भवति भगवद्भावापत्तिश्च। उक्तञ्च—"परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिसंपद्यते" इति श्रुत्याः तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्", "अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति" इत्यादिसूत्राभ्याञ्च। स च मोक्षः "निरस्तातिशयाह्लादसुखभावैकलक्षणः। "मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते" "बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः", "भेषजं भगवत् प्राप्तिरेकान्तात्यन्तिकी मता" इत्यादिस्मृतिभिश्च मोक्षस्वरूपमुक्तम्।

जीवानां गतिः

मरणादूर्ध्वं जीवानां द्वौ मार्गौ श्रुत्या प्रदर्शितौ। तद्यथा उत्तरायणदक्षिणायनमिति प्रसिद्धम्। तत्र ये भगवदुपासकास्ते उत्तरायणेऽहनि शुक्लपक्षे मृत्वा सूर्यमार्गेण (अर्चिरादिना) वा कार्यब्रह्मलोकं गच्छन्ति। तत्र ते

---

१. मूर्तामूर्तादि प्रपञ्चस्य ब्रह्मकार्यतया ब्रह्मरूपत्वेन श्रुत्युक्त नेति नेति इति निषेधानर्हत्वं वे० कौ० उभय व्यपदेशात् सू० भा० ३।२।२७

यावत् समयमुषित्वा ततो ब्रह्मणा सह महाप्रलये मुच्यन्ते। अन्ये ये कर्मिणः (शुभकर्मिणः) ते दक्षिणायने कृष्णपक्षे रात्रौ मृत्वा चन्द्रद्वारेण पितृलोकं वा स्वर्गं वा स्वशुभकर्मानुसारेण तत्तल्लोकेषु कर्मफलानि उपभुज्य मेघो भूत्वा वृष्ट्या इमं लोकं प्राप्नुवन्ति। तद्यथा पञ्चाग्निविद्यायामन्य-भाष्येषु यदुक्तं प्राणिनामावागमनमस्मिन् दर्शनेऽपि तथैवेति ज्ञातव्यम्। अन्ये ये पापात्मानस्तेषामुभौ मार्गौ न स्तः। किन्तु अत्रैवाथवा रौरवादिषु नरकेषु कर्मानुसारं तत्रोषित्वा तरुगुल्मादिस्थावरं वा पश्वादिचरयोनिं वा प्राप्य संसारे भ्रमन्ति।[1]

मुक्तेर्विशेषता

किञ्च मुक्ता मुक्तावस्थायां स्वयं शरीरादिकं स्रष्टुमर्हन्ति। अर्थात् ते भगवदनुग्रहात् सत्यसङ्कल्पास्तल्लीलानुरूपं तदिच्छानुसारिण्या निजेच्छया पितॄणां ज्ञात्यादीनाञ्च शरीराणि सृजन्ति। एवं तैः सह लीलाश्च कुर्वन्ति[2]।

मुक्तपुरुषाः स्वकीयाणुपरिमाणशरीरेणापि अन्यानपि स्वसङ्कल्पादिना ज्ञानेनावेष्टुं शक्नुवन्ति प्रदीपवत्[3]। परन्तु जगत्सृष्ट्यादिकं मुक्ता अपि न कर्तुं शक्नुवन्ति। तस्यामवस्थायां शरीरेष्वपि जन्मना प्राप्त-विकारेभ्यो मुच्यन्ते। स्वाभाविकबन्धनं परित्यजन्ति। ब्रह्मानुभवानन्दा-दिकं सदा अनुभवन्ति। समस्तकल्याणगुणसागरं सविभूतिकञ्चापरं ब्रह्मेवा-नुभवन्ति[4]।

ब्रह्मणा सह भोगे मुक्तानां साम्यमस्ति। स्वरूपे तु न्यूनत्वमस्ति। अस्य ब्रह्मविलक्षणस्य मुक्तौ सत्यामपि न पुनः जन्मादिकं प्राप्यते। उक्तञ्च—

> **"एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते,**
> **ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते।**

---

१. ब्र० सू० भा० टी० अध्याय ४ पा० २-३, सारांशः।

२. ब्र० सू० भा० ४।४।१४ वेदान्त कौ०

३. प्रदीपवदावेशस्तथा—४।४।१५ वे० कौ० टीका

४. एवं जन्मादि विकारासृष्टं स्वभावतो...."विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह—ब्र० सू० ४।४।२२ वेदान्तकौस्तुभे पृ० ४३६

भगवद्गीतायामपि—

> **मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।**
> **नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥"**

अतः सर्वात्मभूतपरमानन्दपरब्रह्मानुभवरूपं मुक्तैश्वर्यमिति[1] तेषां-संक्षेपसिद्धान्तः ।

शैवविशिष्टाद्वैतवादे-आत्मतत्त्वम्

ब्रह्मसूत्रोपरि श्रीकण्ठाचार्याः शैवविशिष्टाद्वैतप्रतिपादकं भाष्यं रचयामासुः। तद्भाष्ये शिवशक्ती, स्थूलसूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं तत्त्वमिति सर्वत्र शिवविशिष्टाद्वैतवादं प्रतिपादयामासुः ।

तत्र श्रुतिवाक्यानि "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशो", "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा", "विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्य" इत्यादिषु ब्रह्मणो जडाजडप्रपञ्चप्रेरकत्वेन स्वातन्त्र्यं वर्णयामासुः। अतः सर्वविषयस्वातन्त्र्येण ब्रह्मणः सर्वकर्तृत्वसिद्धिः । तस्मिन् ब्रह्मणि स्वाभाविकशक्तिमत्त्वमलुप्तशक्तिमत्त्वञ्चेति उभे शक्ती स्तः। तथाहि श्रवणं—"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च—इत्यादि । तत्र ब्रह्मणः चिदचित्प्रपञ्च रूपशक्तिविशिष्टत्वं स्वाभाविकं वर्तते । तदनन्ताभिः शक्तिभिर्जगतो जनकं शासकं बृहत्त्वात् ब्रह्म भवति । एवं तस्यानन्तशक्तिमत्त्वात् ब्रह्मणोऽपरिच्छिन्नप्रपञ्चसमवायिकारणत्वं सिध्यतीति । अतस्तेषां सिद्धान्ते प्रपञ्चोऽपि नित्यः। सर्वत्र चिदचित् शिवशक्तिविशिष्टं तत्त्वमद्वैतमिति तेषां राद्धान्तः[2] ।

ब्रह्मणः स्वरूपं जगतः कर्तृत्वञ्च

ब्रह्म तु भवशर्वेशानपशुपतिरुद्रोग्रभीममहादेवशिवशम्भुपरमेश्वराभिधानवाच्यं परं ब्रह्मेति[3] । तत् ब्रह्म निरस्तोपप्लवकलङ्कनिरतिशयज्ञानानन्दादिशक्तिमहिमातिशयम्[4] । तत् सजातीयविजातीयभेदरहितं च

---

१. ब्र० सू० ४।४।२२ वेदान्तकौस्तुभे पृ० ४३६ ।

२. सू० भा० १।१।२, पृ० १२४

३. सू० भा० १।१।२, पृ० १२५

४. सू० भा० पृ० ८९

भवति[1]। यतः जगतो जन्मादिकं तत् सच्चिदानन्दरूपं "प्रधानक्षेत्रज्ञ-पतिर्गुणेशः" "संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः", "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "आनन्दं ब्रह्म" "आकाशशरीरं ब्रह्म", "सत्यात्मप्राणारामं, मन आनन्दम्, शान्तिसमृद्धम्, सत्यज्ञानानन्तरूपं, स्वात्मारामम् उपशान्तसकलोपद्रवकलङ्कं सकलमङ्गलात्मकं, परमशक्त्याविनाभूततया शबलरूपत्वेन कृष्णपिङ्गलम् विरूपाक्षं त्रिलोचनं ब्रह्म[2]। "ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्। ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपाय वै नमो नमः।" इत्यादिश्रुतिविषयः शिक्तत्वं, सर्वज्ञं नित्यवृत्तमनादिबोधत्वं, स्वतन्त्रम् चिदम्बरं तावत् निखिलजगदण्डषण्डबुदबुदनिकुरुम्ब-जलधिस्थानीया परप्रकृतिरूपा परम-शक्ति र्हि चिदम्बरमुच्यते। तत्स्वरूपं ब्रह्म आकाशशरीरम्, परप्रकृतित्वं चिदाकाशस्य "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते। सत्यात्मसत्तारूपं प्राणारामं प्राणस्सकलाधारभूता चिदम्बरप्रकृतिरुच्यते, सच्चिदानन्दरूपपरमाकाशरूपं ब्रह्मस्वरूपानन्दं मनसैवानुभवन्ति, बाह्य-करणनिरपेक्षमिति। अपरिच्छिन्नं, प्रपञ्चसमवायिकारणं, भवशब्दवाच्यं, सद्रूपं, सर्ववस्तुषु अनुगतवृत्त्या सद्रूपस्य ब्रह्मणः सर्वोपादानत्वं निरस्त-समस्तसंसारकलङ्कतया निखिलमङ्गलाधारतया शिवतत्त्वमित्युच्यते।

आदिकर्ता कविस्साक्षाच्छूलपाणिरिति परमेश्वरस्य सकलविद्याकर्तृत्व प्रतिपादनाच्च। सूक्ष्मचिद्विशिष्टं सर्वस्य कारणं ब्रह्म, स्थूलचिदचिद्विशिष्टं तस्य कार्यं भवति[3]।

सर्वत्र सदा भवतीति भवशब्दवाच्यं ब्रह्म, शर्वशब्देन संहर्तृ ब्रह्मेति उच्यते। निरुपाधिकपरमैश्वर्यविशिष्टत्वादीशानशब्दवाच्यं ब्रह्म, ईश्वर-स्येशितव्यापेक्षतया पशुपतिशब्दवाच्यं ब्रह्म, संसारद्रावकत्वात् रुद्रशब्द-वाच्यं ब्रह्म, नियामकत्वेन निखिलचेतनभयहेतुतया भीमशब्दाभिधेयं ब्रह्म, महत्त्वेन दीव्यमानतया महादेव इत्युच्यते शिवः। अतो निरस्तसंसार-समस्तकलङ्कनिखिलमङ्गलाधारं शिवतत्त्वमित्युच्यते।

किं जगत्कारणं ब्रह्म शास्त्रैकगम्यमुतान्यप्रमाणेनापि अवगम्यते इति शङ्कायां जातायामुच्यते—तद् ब्रह्म वेदान्तशास्त्रादेव ज्ञायते।

---

१. सू० भा० १।१।१, पृ० १६

२. सू० भा० १।१।४, पृ० १८८

३. सू० भा० १।१।२, सम्पूर्णम्

तदुक्तम्—"नावेदवित् मनुते तं बृहन्तम्" इति। वेदान्तमन्तरेण ब्रह्मज्ञाना संभवात्। ननु अनुमानादिनापि तज्ज्ञातुं शक्यमिति चेद्, अनुमानेन निमित्त-कर्तृत्वसिद्धावपि निमित्तोपादानशक्तियुक्तैककर्तृत्वं न सिध्यति। अतः शास्त्रेणैव ब्रह्म ज्ञायेत।[1]

समस्तवेदान्तवाक्यानां क्रियापरत्वे प्राप्ते सति पूर्वपक्षं निरा-कृत्योपक्रमादिषड्विधलिङ्गैर्ब्रह्मणि शिवे एव तात्पर्यमिति निर्णीयते। यथा "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्युपक्रमः, "तत्त्वमसीति" इत्युपसंहारः। "धातुप्रसादान्महिमानमीशः" इत्युपक्रमः। "यः परः स परमेश्वरः" इत्युपसंहारः अन्यत्रापि तथैव द्रष्टव्यम्। "तत्त्वमसि", "सर्वो वै रुद्रः" अम्बिकापतये, उमापतये, यो वै रुद्रः स भगवान् भूर्भुवस्सुवरित्यभ्यासः, अपूर्वता तु वेदेतरप्रमाणाप्राप्तता, ब्रह्मज्ञानं फलम्, अर्थवादो जगत्सृष्टिस्थि-तिप्रध्वंसादयः। उपपत्तिर्विरोधाभावस्सर्वज्ञतादिसम्पत्तिर्वा। एतैर्लिङ्गैर्ब्रह्मणि तात्पर्यमवगन्तव्यम् वेदान्तवाक्यानामिति।[2]

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" इत्यनेन सकलस्य प्रपञ्चस्य कारणं ब्रह्मेति। अन्यत्र "अजामेकां लोहित-शुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपामिति" श्रुत्यन्तरे जगतः प्रजाजन-कत्वे लोहितशुक्लकृष्णामिति सत्वरजस्तमो रूपा प्रकृतिरिति अवगम्यते। प्रकृतौ सत्यां क्रियाज्ञानशक्तिसम्बन्धोऽपि युज्यते। अतोऽचेतनस्य प्रधानस्य जगत्कारणत्वं युक्तमिति ज्ञायते, न चेतनस्य ब्रह्मणः इति प्राप्ते—उच्यते—अशब्दं प्रधानम् न जगत्कारणं सच्छब्दवाच्यंवस्तु, ईक्षति-श्रवणात् चेतन-मेव सत् भवितुमर्हति, नाचेतनम्, प्रपञ्चस्य कारणं तु नामरूपविभागानर्हः सूक्ष्मचिदचिच्छक्तिविशिष्टः परमेश्वरो भवति। कार्यं तावत् नामरूपविभा-गार्हस्थूलचिदचिद्विशिष्टः इति सिद्धान्तः। अतोऽयं प्रपञ्चः सत्य; न मिथ्या। तस्मात् ब्रह्म न निर्विशेषं, किन्तु सविशेषमेव। सच्छब्दस्तु-शक्तिः शिवश्च सच्छब्दप्रकृतिप्रत्ययोदितौ तौ ब्रह्मसामरस्येन समस्तजगदात्मकौ भवतः। अतः स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रपञ्चरूपशक्तिविशिष्टः परमेश्वर एव कार्यकारणरूपसत्पदविषयः इति निश्चीयते।[3]

---

१. सू० भा० १।१।३ सम्पूर्णम्

२. सू० भा० १।१।४, पृ० १८२

३. सूत्रभाष्यम्—ईक्षतेर्नाशब्दम् १।१।५

ननु सत्पदवाच्या प्रकृतिरेव भवतु जीवो वेति चेत् न, सत्पदवाच्य-तत्त्वनिष्ठस्य मोक्ष उपदिश्यते। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य" इति। तस्मात् न प्रधानं सत्पदवाच्यं न जीवोऽपि। किन्तु "शिव एव ध्येयश्शिवङ्करःसर्वमन्यत् परित्यज्येति", शिव एव सत्पद-वाच्यः।[१] तत्त्वमस्यादि-वाक्यानां तात्पर्यं प्रधाने न घटते, किन्तु परमेश्वर एव तात्पर्य भवति। उक्तञ्च—"पुरुषो वै रुद्रस्सन्महो नमो नमः"।[२] इत्यनेनापि परमेश्वरः स्यात्। एवमात्मतः सर्वोत्पत्तिरित्युच्यते। तदुक्तं श्रुत्या "आत्मतः प्राणः, आत्मत आकाशः" इत्यादि। अतः सत् शब्दवाच्यं ब्रह्मैव न प्रधानम्।[३]

यथा रामानुजादय आनन्दं तावत् ब्रह्मैवेति कथयन्ति तथा श्रीकण्ठा-चार्या अपि आनन्दस्तावत् न जीवः किन्तु परमेश्वरः परब्रह्मैवेति, "आनन्दो ब्रह्म" इति श्रवणात्।[४]

जगत्—

ननु ब्रह्म जगतो निमित्तकारणं भवति, उपादानं भवितुं नार्हति। यथा घटस्य निमित्तं कुलालः, अर्थात् उपादानान्निमित्तमन्यदेव भवेदिति चेन्न, "स्तब्धोऽस्युततमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं भवतीति"। "यथैकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन सर्वमिदं मृन्मयं विज्ञातं भवतीति" च श्रुत्युक्तं केवलब्रह्मणो निमित्तमात्रत्वे सकलप्रपञ्चविज्ञानं न स्यात्, यथा कुलालविज्ञाने सतिघटज्ञानं न भवति। परन्तु तदुपादनभूत-मृत्पिण्डज्ञाने सति घटादि कार्यं ज्ञायते। अतः कार्यज्ञानं प्रति उपादानज्ञान-निमित्तकारणं भवेत्।[५] जगत् प्रति ब्रह्म निमित्तोपादानं कारणमिति श्रुत्या उक्तम्। "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" इत्यनेन निमित्तं, "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" इति मायाया प्रकृतित्वं श्रूयते। तथा तदुक्तं श्रुत्या "तस्माद्विराड-जायत विराजोऽधिपूरुषः" इति पुरुषस्य प्रकृतित्वमाम्नायते। अतस्तयोरेव

१. ब्र० सू० १।१।७

२. गतिसामान्यात् सू० भा० १।१।११

३. ब्र० सू० श्रुतत्वाच्च १।१।१२

४. तैत्ति० सं० ३।६, आनन्दमयोऽभ्यासात् इति सूत्रभाष्ये।

५. प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् १।४।२३

प्रकृतित्वेन जगदाकारत्वमुचितमेव। तदेव परमेश्वरस्य प्रकृतित्वेन जगदाकारत्वं, निमित्तत्वेन जगत्पतित्वञ्च श्रूयते।[1] तथाहि—"विश्वाधिको रुद्रः" इत्यधिकतत्त्वं निमित्तं, "सर्वो वै रुद्रः" प्रकृतित्वाद्विश्वरूपत्वमिति। निमित्तोपादानत्वमुभयं परमेश्वरे श्रूयते।

किञ्च "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इति स्वस्यैव जगदाकारेण परिणामोऽवगम्यते।[2] नित्यशुद्धानन्दस्वरूपनिरतिशयमङ्गलस्वभावस्य चिदचिदाकारेण परिणामः।[3] स आत्मा पुरुषरूपेण स्त्रीरूपेण च सर्वत्रविराजते—इति श्रुत्या उक्तम्। यथा "पुरुषो वै रुद्रः" इति तस्य पुरुषत्वं "योनिश्च हि गीयते" इत्यनेन प्रकृतिरपि परमेश्वर एव भवति। तथा चोक्तम्—

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥ इति

समस्तसाक्षिणः सर्वज्ञस्य परशक्त्या विशिष्टस्य परमेश्वरस्यैव भूतयोनित्वं गीयते। अतो जगत उपादाननिमित्तं परब्रह्मैव कारणरूपेण कार्यरूपेण च भवतीति दिक्।

जीवस्वरूपम्—

जीवो ज्ञाता, ज्ञानस्वरूपः, अल्पज्ञः, मनुष्योऽहं, देवोऽहमिति कल्पिताहंकारेण बद्धः संसरति। यदा स ब्रह्मज्ञानोपासनाभ्यासेन मलत्रयं (धर्माधर्ममायारूपं) कर्मणा यदर्जितं तदपायाच्च ब्रह्मसदृशो भवति, तदा स नैजनिरतिशयज्ञानधर्मी मुक्तो भवति। अतो जीवस्य जीवकालेऽल्पज्ञत्वं मोक्षकाले सर्वज्ञत्वं भवतीति सिद्धान्तः।[4]

ननु "स वा एष महानज आत्मा....." इति जीवस्य विभुत्वावगमात् स विभुरिति चेन्न, "तेन प्रद्योतेनैष आत्मा उत्क्रामति" इति जीवस्योत्क्रान्तिः श्रूयते। एवमेव तस्य चन्द्रलोकादिषु गमनमपि श्रुत्या कथितम्। अतो

---

१. अभिध्योपदेशाच्च १।४।२४ ब्र० सू०
२. "आत्मकृतेः" ब्र० सू० १।४।२६
३. परिणामात्—सू० भा० १।४।२७
४. सू० भा० ज्ञोऽत एव २।३।१९

विभोरात्मन उत्क्रमणादिकासंभवात् स अणुरेवेति मन्यते।[1] तथा च श्रुति "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः, यस्मिन् प्राणाः पञ्चधा संविवेश", अपि च "आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" इत्यादिना अणुसदृशत्वमुक्तम्। यदि आत्मा अणुस्तर्हि सकलशरीरवेदनां कथं संगृह्णातीति चेदुच्यते, यथा हरिचन्दनबिन्दुः सकलशरीरमाह्लादयति तथैवाणुरात्माऽपि, सर्वशरीरं व्याप्नोतीत्यतस्तत्र वेदनामपि गृह्णातीति।[2]

शास्त्रेषु जीवस्य कर्तृत्वमकर्तृत्वमुभयमपि प्रतिपादितम्। तत्र सिद्धान्तस्तु यदा कर्तृत्वं मन्यते तदा स कर्ता, न मन्यते तदा अकर्ता भवति। दृष्टान्तस्तु तक्षवत्। यदा तक्षा रथकर्मादिकं करोति तदा स कर्ता, त्यक्तोपकरणः सन् उपरमति तदा अकर्ता भवति।[3] जीवस्य ज्ञातृत्वं कर्तृत्वं स्वायत्तं वा ईश्वरायत्तं वेति विचार्यमाणे ईश्वरायत्तमित्युच्यते। ननु ईश्वरायत्ते जीवे तस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं न स्यादिति चेदुच्यते—जीवः स्वेच्छया प्रवर्तते। तस्य साहाय्यमीश्वरः कर्मानुसारेण करोति। अतः परमेश्वरस्य जीवानामुपरि वैषम्यनैर्घृण्यं न भवति। किन्तु तस्य स्वाभाविकेच्छा कारणं भवति। तदुपरि विधिनिषेधादिकं भवति।[4]

जीव ईश्वरो वा तदंशो वेति विचार्यते। परमेश्वर एव जीवभावमापन्न इति प्राप्ते उच्यते "अनेन जीवेनात्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति" "य आत्मनि तिष्ठन्", "पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा", इत्यादिषु नाना व्यपदेशात् जीवात्मा परमेश्वरस्यांशो मूर्त्यैकदेश एवेति। "तत्त्वमसि", "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादिषु अद्वैतोपदेशात् जीवब्रह्मणो व्याप्य व्यापकभावेनानन्यत्वमपि युक्तम्। सिद्धान्तस्तु "ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा" इत्येके शाखिनोऽधीयते।[5] एवं "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" इति मन्त्रवर्णाच्च ब्रह्मणोंऽशो जीव इति।[6]

---

१. स्वात्मना चोत्तरयोः सू० भा० २।३।२१

२. अविरोधश्चन्दनवत् सू० भा० २।३।२४

३. कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्, यथा च तक्षोभयथा २।३।३३,३९

४. ब्र० सू० परायत्ताधिकरणस्य तात्पर्यम् २।३।११

५. अंशो नाना व्यपदेशात्—अन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके" ब्र० सू० २।३।४२

६. मन्त्रवर्णाच्च ब्र० सू० २।३।४३

किञ्च—

आत्मा तस्याष्टमो मूर्तिः शिवस्य परमात्मनः।
व्यापिकेतर मूर्तीनां विश्वं तस्माच्छिवात्मकम् ॥

इत्यनेन शिवस्यैकदेशमूर्तिरात्मेति। जीवस्य वेदविहितानुज्ञापरिहारौ देहकृतौ ब्राह्मणादिशरीरसंबंधात् उपपद्येते। जीवो न उपाधिभूतः किन्तु ब्रह्मणोंऽशस्तद्विषयैकस्वभावः।[1] अतो जीवो ज्ञाता, ज्ञानस्वरूपः, अणुः, कर्ता, भोक्ता, ब्रह्मणोंऽशः। अनाद्यज्ञानवासनावष्टम्भविजृम्भितविचित्रकर्मफलभोगानुगुणबहुशरीरप्रवेशनिर्गमनव्यापारपरवशनिस्सीमतापसहिष्णुत्वं तु जीवत्वम्[2] इति।

जीवानां गतिः—

जीवो भूतसूक्ष्मैर्वेष्टितः शरीराच्छरीरान्तरे भ्रमति। पापिनां तु नास्ति चन्द्रमण्डलादिगमनम्। केवलेष्टापूर्तदत्तानां दक्षिणायनोत्तरायणमार्गौ प्रतिपादितौ। पापिनो मरणादूर्ध्वं यमसदनमेव गच्छन्ति।[3] अनाद्यविद्यया जीवो बहुशरीराणि प्राप्नोति। तत्र स्वकृतकर्माणि उपभुङ्क्ते। सदा परवशीभूय गमनागमनं करोति[4]। अस्य तिरोहितमैश्वर्यं परमेश्वरस्याभिध्यानात् अभिव्यक्तं भवति। कुतः? तस्मादज्ञाताद्बन्धः, ज्ञातादीश्वरात् मोक्षः। तदुच्यते—"ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्यूपहानिः" इति। जीवस्य तिरोहितं ज्ञानशक्त्यादिकं पराभिध्यानात्तु तिरोहितं परमेश्वरसङ्कल्पात् वर्धते। ततो जीवस्य मोक्षो भवति[5]।

ज्ञानकर्मसमुच्चयाभ्युपगमः—

अस्मिन् दर्शने ज्ञानकर्मसमुच्चयवादः स्वीकृतः। तदुक्तम्—"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्" इति सम्यग्ज्ञानस्य "यज्ञेन दानेन" इति श्रुतेः कर्मणां यज्ञादीनां पारमेश्वरनियोगसिद्धत्वाच्च मोक्षं प्रति ज्ञानकर्मसमुच्चयोऽभिप्रेतः—इति।

---

१. ब्र० सू० २।३।४४ तः २।३।५२ पर्यन्तम्।

२. ब्र० सू० १।१।१

३. संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहौ तद्गतिदर्शनात्, ब्र० सू० ३।१।१३

४. अनाद्यज्ञानवासना ब्र० सू० १।१।१

५. पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ३।२।४

फलाभिसंधिरहितेन कर्मणा मोक्षे उपकारो भवति। अतो गृहस्थानां यज्ञादिकर्मसापेक्षो विद्योदयः। एवं सर्वेषामाश्रमिणां स्वाश्रमविहितं कर्मापेक्षितं भवतीति।[1] तेषां मते ज्ञानं नाम उपासना। यत् शब्दजन्यं ज्ञानं न तत् मुक्तेर्हेतुः, किन्तु उपासनारूपज्ञानं मोक्षफलं ददाति।[2]

साधनम्—

मुक्तिसाधनं श्रवणमननादिभिर्निश्चितस्य महादेवस्य निष्कामभक्तिरस्ति। अनया परमकारुणिकस्य महादेवस्य सर्वानुग्राहकस्य शिवस्य परब्रह्मणः प्रसादातिशयेन जीवस्य प्रध्वस्तदोष एवं प्रत्यक्षीभूतनिरतिशयज्ञानानन्दस्वरूपा तत्समानगुणसारा कैवल्यलक्ष्मीः प्रयोजनं च भवति। तदुपासनया अधिकारिणः पाशविच्छेदलक्षणा मुक्तिः प्रयोजनं भवति। तस्याः कारणमाह—

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
ज्ञात्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥" इति।

श्रवणमननसम्पन्नज्ञानविज्ञानभूतं निदिध्यासनं ब्रह्मसाक्षात्कारे निमित्तमिति स्मर्यते। अत इदमुपासनारूपं ज्ञानं मोक्षफलं ददाति। यद्यपि जीवादधिकं शिवाख्यं परं ब्रह्म, तथाप्युपासिता अहं ब्रह्मास्मीति तदुपासीत। यतः पूर्वेऽप्युपासितारः "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि" इत्यात्मेत्येवावगच्छन्ति। उपासितुरर्थान्तरत्वेऽपि तानुपासितॄननुगृह्णाति स्वस्वरूपतया परं ब्रह्म। ते च पुनः स्वात्मतया ग्राहयन्ति परानपि शिष्यान् "तत्त्वमसि" इत्यादिना। निरवधिकपरमानन्दमयनिष्कलङ्कशिवत्वप्राप्तिर्हि मुक्तिः। शिवत्वप्राप्तिस्तु आत्मनः पशुत्वनिवृत्तिमन्तरेण न संभवति। पशुत्वनिवृत्तिश्च न तद्भावनां विना संभवति। अतो निरन्तरं शिवोऽहमिति भावनारूपेण प्रवाहेण शिथिलितपाशतयाऽपगतपशुभाव उपासकः शिव एव भवतीति। निरस्तसमस्तदोषकलङ्कशङ्कानिरतिशयमङ्गलास्पदं हि शिवत्वम्। तन्निवृत्तब्राह्मणादिदेहाभिमानमयपशुभावस्य निरतिशयस्वरूपानन्दसाक्षिस्वप्रकाशशिवरूपपराहंभावापत्तिर्मुक्तिरिति सर्वश्रुतितात्पर्यम्[3]।

---

१. सिद्धान्तस्तु कर्मवत्सु गृहस्थेषु ब्र० सू० भा० ३।४।२६

२. ब्र० सू० भा० १।१।४

३. ब्र० सू० भा० ४।१।३

जीवन्मुक्तिनिषेधः

ननु सद्यो मुक्तिः क्रममुक्तिश्च प्रतिपादिते:—

"अथाकामयमानो योऽकामो निष्कामः"

"आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इति श्रुतेर्जीवत एव मुक्तिरिति चेन्न, विदुषो मूर्धन्यनाड्या गमनं स्मर्यते । तदुक्तम्—

ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्वा सूर्यमण्डलम् ।
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम् ।। इति ।

अर्चिरादिना गतिरुक्ता । तत्र केचिन्निरन्वयोपासकाः शरीरपाते सति मुक्तिं विन्दन्ति विदुषां मरणकाले हृदयान्तर्गतस्य परमेश्वरस्याराधनेन विद्यासामर्थ्यात् तदङ्गगत्यनुसंधानाच्च प्रीतेन तेन सर्वानुग्राहकेण स्वस्वरूपावरणमलध्वंसेनविदग्धयानुग्रहदृष्ट्या निरीक्षितस्तदनुग्रहप्रकाशितद्वारेण शतसुषुम्ना नाड्या विद्वानुत्क्रामति[1] ।

मुक्तजीवानां निशाकृष्णपक्षदक्षिणायननिषेधो नास्ति । यदा देहापगमः तदानीमेव मुक्तिः प्राप्यते । अन्ये ये कर्मिणस्तेषां तु चन्द्रलोकगमनम् । कर्मानुसारेण तत्तल्लोकं प्राप्य यावत् कालमुषित्वा पुनः मेघो भूत्वा प्रवर्षन्ति । इत्थं देवयानपितृयानगती श्रुत्या प्रत्यभिज्ञायेते । देवयानेन कार्यब्रह्मलोकं प्राप्य कल्पान्तं तत्रैव स्थितिः । अन्ते ब्रह्मणा सह सर्वे मुच्यन्ते । ननु तत् पुरुषोऽमानवो ब्रह्म गमयतीत्यत्रामानवः पुरुष उपासकान् साक्षादेव ब्रह्म गमयतीति, उत अन्यानेवेति चेदुच्यते—"प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्य" इति विशेषितत्वाच्च हिरण्यगर्भपदमेव गमयतीति भावः[2] । किन्तु साक्षाद्ब्रह्मोपासकान् पुरुषः साक्षाद् ब्रह्मैव गमयतीति, यद्विश्वाधिकं कृष्णपिङ्गलं विरूपाक्षमिति श्रूयते । साक्षात् ब्रह्मोपासकस्य परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । तदुक्तं "उमा सहायं—समस्तसाक्षिणं तमसः परस्तादिति" इत्यादिलिङ्गैः ।

---

१. ब्र० सू० भा० ४।२।१६

२. कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ४।३।६ ब्र० सू० विशेषितत्वाच्च ४।३।७

मुक्तिस्वरूपम्

परामृतं शिवं प्राप्य जीवा भवबन्धाद् मुच्यन्ते[१]। मुक्तानां जीवानां समस्तमलं नश्यति। ब्रह्मसदृशज्ञानानन्दगुणा आविर्भवन्ति[२]। स्वेन रूपेणेति शब्दात् तथा अवगम्यते। वस्तुतस्तु जीवस्य निरतिशयानन्द-स्वरूपमस्ति। ते सर्वे मलमायाकर्मदेहेन्द्रियावरणैस्तिरोहिताः सन्ति। आवरणं तु मलमायादीनां शक्तिविशेषोऽस्ति। तद्वेदान्तश्रवणमननाभ्यां परमेश्वरस्य निदिध्यासनेन च मलमायाः क्षीयन्ते। अतो मुक्तस्य स्वाभाविक-मेव स्वरूपं चिदानन्दघनं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टमाविर्भवति[३]। ये शिवसायुज्यं प्राप्नुवन्ति, ते शिवस्वरूपा एव भवन्ति। अतस्तेषां संसारमण्डले न पुनरा-वृत्तिः। ते सर्वदा प्रकाशवपुषः सर्वज्ञाः सर्वगताः शान्ताः नित्यपरमैश्वर्य-धराः परमाकाशलक्षणे धामनि स्वाभिमतानि प्राप्य स्वेच्छोपगतसकलका-स्तेन सह सदा विद्योतन्त इति दिक्[४]।

वीरशैवमते-आत्मतत्त्वम्

आचार्य श्रीपतिविरचिते श्रीकरभाष्ये तत्त्वं तावत् भेदाभेदात्मकमिति प्रतिपादितम्। तद्यथा "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्", "तत्त्वमसि", "अय-मात्मा ब्रह्म", इत्यादिषु अद्वैतं "द्वासुपर्णा सयुजा सखाया", "ज्ञाज्ञौ द्वाव-जावीशानीशौ" इत्यादिषु भेदश्चेति ब्रह्म उभयस्वरूपं प्रतिपादितम्। एवं "यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह—" इत्यत्र द्वैताद्वैतात्मकत्वं प्रपञ्च-ब्रह्मणोः कार्यकारणत्वञ्च दर्शितम्। "उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्" इत्यनेन च भेदाभेदत्वेनैव निरूपितम्।

श्रीपतिपण्डितास्तत्त्वं भेदाभेदात्मकं वा द्वैताद्वैतं वा निरूपयामासुः। यद्यपि इदं वीरशैवभाष्यमित्युच्यते तथापि इदं विशेषाद्वैतमिति कथ्यते। अतस्तस्य स्वरूपम् सिद्धान्तशिखामणावुक्तम्।

---

१. ब्र० सू० भा० ४।३।१४, १५

२. संपद्याविर्भावं स्वेन शब्दात् सू० भा० ४।४।१

३. ब्र० सू० भा० ४।४।१

४. ब्र० सू० भा० ४।४।२२

यथा—

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका ।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवाः प्रकीर्तिताः ॥ इति ।

आचार्यपादास्तु स्वीयभाष्यं विशेषाद्वैतपरमिति प्रतिपादितवन्तः ।

यथा—

विशब्देनोच्यते शम्भुर्हंसहंसेति मन्त्रतः ।
शेषशब्देन शारीरो "यथाग्ने"रिति मन्त्रतः ।
अद्वैतेन भवेद्योगो यथा नद्य इति श्रुतेः ॥ इति ।

विशेषाद्वैतपदनिर्वचनं च उत्तरत्र निरूपितम् यथा—"विश्च शेषश्च विशेषौ तयोरद्वैतं विशेषाद्वैतमिति निरूपितम् । अद्वैतपदेन भ्रमरकीटवज्जीवस्य स्वाभाविकभेदनिवृत्तिः प्रतिपाद्यते ।"[1]

अत इदं शिवाद्वैत-शक्तिविशिष्टाद्वैत-विशिष्टाद्वैत-षट्स्थलसिद्धान्तादि-पदैः व्यवह्रियते[2] ।

शिवाद्वैतम्—शिवश्च शिवश्च शिवौ तयोरद्वैतं शिवाद्वैतम् । प्रथमस्य शिवपदस्य सूक्ष्मचिदचिच्छक्तिविशिष्टं शिवाभिधं लिङ्गमित्यर्थः । अपरस्य च स्थूलचिदचिच्छवितविशिष्टः अनाद्यविद्याभूतशिवांशस्वरूपः शिवदीक्षया अपह्रियमाणमलो जीवो अङ्गमित्युच्यते । एवं भूतयोर्लिङ्गाङ्गयोर्यदद्वैतं तत् शिवाद्वैतम्—इति[3] ।

सूक्ष्मचिदचिच्छक्तिविशिष्टे शिवे शिवदीक्षया नष्टमलस्य शुद्धात्मनो जीवस्य यो योगः सामरस्यं यच्छिवयोग इत्युच्यते[4] ।

ब्रह्म

अस्मिन् भाष्ये परशिवो न निर्विशेषः किन्तु सविशेषः, तद्वैशिष्ट्यं तु शक्तिरेवास्ति । शक्तिविशिष्टत्वादेव परशिवब्रह्म चराचरात्मकस्य जगत उत्पत्तिकारणमभूत् । शक्तिविशिष्टस्य परशिवस्य ब्रह्मणः सकाशादुत्पन्नं

१. वीरशैवसिद्धान्तस्वरूपम्—पृ० १५०
२. तदेव पृ० १५१
३. तदेव पृ० १५२
४. वीरशैवसिद्धान्तस्वरूपम्—पृ० १५२

जगदपि शक्तिविशिष्टमेव भवति, कारणगुणाः कार्ये सङ्क्रामन्तीति न्यायात्। जगति विद्यमानाः सर्वेऽपि पदार्थाः एकैकविधया शक्त्या विशिष्टा एव। यथा पृथिव्यां धारणरूपा शक्तिः, जले आप्यायनशक्तिः, तेजसि ज्वलनशक्तिः, वायौ स्पन्दनशक्तिः, आकाशे व्यापनशक्तिः, आत्मनि बुद्धिशक्तिः, एवमेव वृक्षादिषु जलाकर्षणशक्तिः, इत्यादयः सर्वे सर्वत्र शक्तिविशिष्टतया समर्थिताः श्रीकरभाष्ये[1]।

किञ्च—ब्रह्म तावत् वेदान्तप्रतिपादितस्वाभाविकानन्तशक्तिविशिष्टजगदुभयकारणपशुपाशनियामकसकलनिष्कलस्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकाशक - सत्यज्ञानानन्तकल्याणगुणविभवाश्रयो भवति[2]।

तत् ब्रह्म परमेश्वरः शिवः ईश इत्यादिपर्यायशब्दवाच्यम्, व्यापकं, समस्तसाक्षिलिङ्गम्।

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥

इति परमेश्वरशरीरमेव ब्रह्मेति उक्तम्। तस्मात् "शिव एको ध्येयश्शिवङ्करः सर्वमन्यत् परित्यज्य", "एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः" "प्रपञ्चोपशमं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः"।

किञ्च—

शक्तेः सङ्कोचभावेन सृष्टेः पूर्वं महेश्वरः।
निरंशो निर्गुणश्चेति वेदान्तेषु प्रगीयते॥ १॥

शक्तेर्विकासभावेन ह्यनन्तगुणवानिति।
प्रोच्यते भगवान् रुद्रः पशुपाशविमोचकः[3]॥ २॥

"यो रुद्रोऽग्नौ योऽप्सु य ओषधीषु यो रुद्रो विश्वा भुवना विवेश तस्मै रुद्राय नमोऽस्तु।" "यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तः" इत्यारभ्य "यः परस्स महेश्वरः" इत्यन्तेनाकारोकारमकारवाच्यब्रह्मविष्णुरुद्राणां महेश्वरे विलयः

---

१. वीरशैव सि० स्व० पृ० १५६

२. सू० भा० १।१।१।१, पृ० ७

३. सू० भा० १,१,१,१, पृ० ३८

प्रतिपादितः[१]। "ईशानः सर्वविद्यानामित्यतः" "सदाशिवोंम्" इत्यन्तेन तस्यैव ब्रह्मत्वं प्रतिपादितम्। अतः "सर्वमिदं शिवं विजानीहि", "शुद्धो निरञ्जनो विभुरद्वयं शिवमेकम्, शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः शिवोऽद्वैतः", "एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः", "न सन्न-चासत् शिवः एव केवलः", "विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः", "सर्वो वै रुद्रः" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", त्रिषु धामसु यद् भोज्यं भोक्ता भोगश्च यद् भवेत्, तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः", मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्", इत्यादिषु सर्वत्र शिवस्यैव ब्रह्मत्वमुक्तं श्रुत्या[२]।

किञ्च—

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्येति॥

तदेव जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्म उपनिषत्सु प्रतिपादितम्। "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि", नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्", "नैषा तर्केण मतिरापनेया", "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः" इत्यादिवेदान्तादेव ब्रह्म ज्ञातव्यम्। अतो ब्रह्मज्ञाने शास्त्रं योनिः कारणं भवति। सर्वज्ञतादि-धर्माणां शिवस्यैव संभवान्नेतरेषां जगज्जन्मादिकारणत्वं स्मर्यते। एतत् सर्वं शास्त्रादेवावगम्यते[३]।

परब्रह्म परशिवो वेदान्तेषूपक्रमादिषड्विधलिङ्गैः प्रतिपादितम्। तस्मात् सर्ववेदान्तानां ब्रह्मण्येव समन्वयो ज्ञातव्यः। अतः पूर्वमीमांसाका-राणामाशयो निराकृतः "तत्तु समन्वयादिति"[४] सूत्रे।

नारायणीये—"अणोरणीयान् महतो महीयान्" इत्युपक्रमः, सर्वो ह्येष रुद्रः इत्युपसंहारः। "यः परस्स महेश्वरः", "अम्बिकापतये उमापतये पशुपतये नमो नमः" इत्यभ्यासः। "विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः" इति विश्वा-धिकत्वादेर्मानान्तराप्राप्तत्वादपूर्वता। परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे" इति

१. सू० भा० १,१,१,१, पृ० ४९
२. सू० भा० १,१,१,१, पृ० ५२
३. जन्माद्यस्य यतः सू० भा० १,१,१,२
४. सू० भा० १,१,१,४

फलम्। "सहर्षशीर्षा—इत्यर्थवादः। यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्" इत्युपपत्तिः—इति सर्वत्र वेदान्तेषु द्रष्टव्यम्[1]।

अस्मिन् मतेऽपि आनन्दस्तावत् शिवस्वरूपमिति प्रतिपादितम्। कस्मात्? अभ्यासात्। पुनः पुनः श्रवणमभ्यासः। शिवस्य परब्रह्मणः। एवं बहुशो वेदान्तेषु आनन्दशब्दप्रयोगदर्शनात्। तत्र ब्रह्मण आनन्दमयत्वं प्रस्तुत्य "रसो वै सः" इति तस्य रसत्वव्यपदेशात्। "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति, को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्, यदेष आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयाति, सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति, एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्क्राति, आनन्दो ब्रह्मणो विद्वान्, आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् इति। श्रुत्यन्तरे च—"ज्ञानन्दमयो ह्यानन्दभुक् आनन्दं ब्रह्मैव" इति ब्रह्मणश्शिवस्येवाऽऽनन्दशब्दो निर्णीतः[2]।

जगत्—

यथा सर्वे वेदान्तिनो ब्रह्मैव निमित्तोपादनमिति मन्यन्ते, तथा इमेऽपि परशिवो जगतो निमित्तोपादानमिति स्वीचक्रुः। यथा—"सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यान्ति" इति प्रभवादिहेतुत्वेन निमित्तोपादनकारणत्वं ब्रह्मणः प्रसिद्धम्। श्रुत्यन्तरे—"ईशानः सर्वविद्यानाम्" इत्यादौ निमित्तत्वम्। "सर्वो वै रुद्रः" इत्यादिना प्रकृतित्वात् प्रपञ्चरूपत्वेनोपादानत्वं च मन्यते। शतरुद्रीये—"नमो हिरण्यबाहवे इत्यारभ्य कुलुञ्चानां पतये" इत्यन्तेन जगदीश्वरत्वम्। तत "नमः पर्ण्याय च पर्णशद्याय च" इत्यन्तेन शिवस्य विश्वात्मकत्वं प्रतिपाद्यते। अन्ये—"ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत् ब्रह्माद्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्" इत्युभयप्रतीतिः[3]। "तदात्मानं स्वयमकुरुत इत्यनेन स्वयमेवात्मांनं जगद्रूपेण शिव एव परिणमयामास इति परिणामवादः तैः स्वीकृतः[4]। पुनः स परमेश्वरः प्रकृतिरित्यपि कथ्यते। "योनिश्च हि गीयते", "यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः", "कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्", "ध्यात्वा मुनिः

---

१. सू० भा० १,१,४,४

२. आनन्दमयश्शिव एव १,१,६-१३

३. ब्र. सू. भा. १,४,७,२५

४. इतश्च निमित्तोपादानत्वे ब्रह्मणः...."आत्मकृते परिणामात् १,४,७-२१

गच्छति भूतयोनिम्" इति प्रकृतिपर्यायियोनिशब्देन परमेश्वरोऽभिधीयते। तस्मात् उपादानत्वं निमित्तत्वञ्च परमेश्वरत्येवेति सिद्धम्[1]।

मूर्तामूर्तस्वरूपम्—

भगवतः परमशिवस्य मूर्तममूर्तमिति उभयस्वरूपं श्रुत्या प्रतिपादितम्। उभे अपि भावप्रधानमिति मन्यते। तत्र लिङ्गरूपेण शिवभक्तगात्रेषु, अष्टमूर्तिषु च काशीश्रीशैलादिदिव्यस्थलेषु पण्डितपामरतरणार्थं स्थितिः। देवमनुष्यादिसर्वशरीरान्तर्यामितया मूलाधार—हृदयभ्रूमध्यादि त्रिविधापवर्गकल्याणविभूत्यर्थं (धर्मार्थकाम) दिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्टत्वं पराकाशरूपेण निरवयवत्वंनिखिलजगद्व्यापकत्वञ्चामूर्तत्वं च प्रसिद्धम्[2]।

तदुक्तम्—

मूर्तामूर्तात्मकोऽनन्तः प्रपञ्चातीतवैभवः।
निष्कलङ्को निराधारो निर्लिप्तः शिव उच्यते॥
अनन्तानन्तकल्याणगुणैकधन ईश्वरः।
शिव इत्युच्यते सद्भिः शिवतत्त्वार्थवेदिभिः[3]॥

एवमेव परमशिवस्यैव शक्तिर्विभिन्नाकारेण प्रतिपादिता श्रुत्या।

"एकैव शक्तिस्तु महेश्वरस्य भिन्ना चतुर्धा विनियोगकाले।
भोगे भवानी पुरुषेषु विष्णुः, क्रोधे च काली समरे च दुर्गा॥"

इति। कथ्यते

जीवः

अनादिस्वाभाविकमायापाशबद्धघोरापारनिस्सारसंसारव्यापारतापत्रयानलदन्दह्यमाननानाशरीरप्रवेशनिर्गमनवर्णाश्रमाभिमानविशिष्टकामक्रोधा - द्यनुस्यूतसुखदुःखाश्रयत्वं जीवत्वमित्युच्यते[4]। स च जीवात्मा किंस्वभावकः? उत्पत्तिमरणशीलवान् वा न वेति विचार्यते "जातो देवदत्तः, मृतो देव-

---

१. सू. भा. १,४,७,२७

२. न स्थानतः परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ब्र० सू० भा० ३।२।५।११

३. ब्र० सू० भा० ३।२।५।२० पृ० २३

४. ब्र० सू० भा० १।१।१।१

दत्तः" इत्यभिधानेन जीवस्य जनन-मरणं श्रूयते। किन्तु श्रुतौ—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्........", "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "न जायते म्रियते...." इत्यादिना जीवस्योत्पत्तिमरणे निषेधिते। किञ्च—"तत्त्वमस्या"द्युपदेशबलेन ब्रह्मणोऽप्यनित्यत्वप्रसङ्गःस्यात् यदि जीवस्य मरणं कल्प्येत। अतोऽपि जीवो नित्यइति मन्यन्ते श्रुतिमवलम्ब्य इति।

जीवस्य ब्रह्मणः सकाशात् परिणामस्तावत् न स्वरूपान्यथाभावलक्षणः, किन्तु केवलज्ञानसङ्कोचविकास एवान्यथाभाव इति। कार्यत्वेन भेदः, कारणत्वेनाभेद इति कार्यावस्थाकारणावस्थयोरपि जगदीश्वरयोर्भेदमिति कथ्यते। कार्यावस्थायान्तु स्वशक्तिपरिणामत्वे भिन्नत्वं स्वनियामकत्वेन त्वभिन्नत्वमिति। मोक्षे तु भ्रमरकीटन्यायेन स्वाभाविकजीवत्वनिवृत्तिपूर्विका शिवत्वप्राप्तिरिति सिद्धान्तः[1]।

एवं स जीवः ज्ञातृस्वरूपः, तस्मादपि तस्य जन्यत्वं न संभवति जडानामेवोत्पत्तिः श्रुता। जीवो न सर्वगतः, कुतः ? "कर्मचितो लोकः क्षीयते", "पुण्यचितो लोकः क्षीयते", "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" इत्यादिषु जीवानामुत्क्रान्तिर्देहान्निर्गमनं, स्वर्गनरकलोकगमनादिकमिति श्रुतत्वात्। आत्मा अणुरेव भवति, न विभुः। तदुक्तम्—"एषोऽणुरात्मा—यस्मिन् प्राणाः पञ्चधा संविवेश", "बालाग्रशतभागस्य......." इत्यादिश्रुतिलिङ्गात् तस्याणुत्वं सिध्यति। एवं स जीव ईश्वराद्भिन्नश्च, कुतः ? पृथगुपदेशात्" विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः", "द्वा सुपर्णा......." इत्यादिमन्त्रवर्णेभ्यः[2]।

किञ्च—जीवः कर्ता वा अकर्ता वेति विचार्यमाणे—आत्मैव कर्ता भवति न गुणाः, मनो वा। यतो हि सर्वाणि शास्त्राणि "यजेत स्वर्गकामः", मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत" इत्येवमादीनि भोक्तारमेव कर्तृत्वे नियुञ्जते। एवं तस्य कर्तृत्वमपि—यथा तक्षा यदा वास्यादिना संबद्धस्तदा कर्ता भवति तद्विविक्तस्सन् अकर्ता भवति, तथैव जीवात्मा उभयरूपेण तिष्ठति[3]। ननु जीवो यदि कर्ता स्यात् तदा स परमेश्वर इव

---

१. नात्मोत्पद्यते कुतः—नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च २।३।१०।१६, सू० भा०

२. सू० भा० २।३।१२।१८ तः ३० पर्यन्तम्।

३. सू० भा० अधिकरण सारांशः २।३।१३

स्वतन्त्रो भवेदिति चेन्न, "परात्तु तच्छ्रुतेः" इत्यनेन यथा तस्य रुचिर्भवति तथा परमेश्वरस्तं कारयति, यथा कुरुते तथा भुङ्क्ते—इति नियमात् जीवः सङ्कल्पादिषु स्वतन्त्रः। कार्यंकर्तुमस्वतन्त्रः, तेन यथा चिन्त्यते तथा भवति—इति न्यायः। फलदानादिकं सर्वं परमेश्वरेऽस्ति। किन्तूत्तमाधमहेयोत्कृष्टकर्मकरणसङ्कल्पस्तु जीवस्यैव भवति न ईश्वरस्य। तस्माद्वैषम्यनैर्घृण्यं तु परमेश्वरे नायातीति सिद्धान्तः[1]।

जीवस्य नित्यत्वमणुत्त्वं ज्ञातृत्वं परमेश्वरायत्तकर्तृत्वादिकं प्रसाध्य तस्यैकत्वमलीकत्वं ब्रह्मणो प्रतिबिम्बत्वादिकं च निरस्यति। "अंशो नाना व्यपदेशात्" इति[2] जीवः परमात्मनोंऽशः, कुतः ? नाना व्यपदेशात् इत्यनेन जीवैकत्ववादो न युक्तः। एके शाखिनो दास्यदासकभावेन भेदमधीयते वदन्ति च। ब्रह्म दाशा, ब्रह्मदासा, ब्रह्मैवेमे कितवा" इति नियस्यनियामकभेदस्तु अस्त्येव। अस्मिन् मते भेदाभेदसत्त्वात् जीव उपाधिरिति न मन्यन्ते। किन्तु ब्रह्मणोंऽशः अर्थात् भिन्न एव। तदुक्तम्—

शिवस्सत्यं जगत्सत्यं जीवस्सत्यं स्वभावतः।
तेषामभेदोऽसत्यो वा क्रिमिभ्रमरयोरिव॥

यदि जीवस्यैकत्वं साधयेत् तर्हि सर्वेषां सुखदुःखानां युगपत् ज्ञानं भवेत्, लोके तन्न दृश्यते। तस्मात् जीवस्यानेकत्वं सिध्यति। अत्रांशवाची तु पादशब्दः पादस्तु भेदघटितः। अतोऽद्वैतवादो निरस्तः। अद्वैतबाधे सति अनुज्ञापरिहारौ देहमुद्दिश्य घटेते। अतो जीवा नाना ब्रह्मणोंऽशाः, परमेश्वरस्याधीनभूताः सन्तीति। "सोऽन्तरादन्तरं प्राविशत्", "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्", "ईशानः सर्वविद्यानाम्" इत्यादिना जीवब्रह्मणोर्भेदः सिध्यति। "यथा नद्य, स्यन्दमाना....." इत्यनेन जीवब्रह्मणोः स्वरूपैक्योपदेशात् भेदाभेदवाद एव सिध्यति।[3]

भक्तादिशरणान्तपञ्चस्थलेषु द्वैतसिद्धिः। ऐक्यस्थलेऽद्वैतसिद्धिः ये यज्ञादिना देवान् यजन्ति, ते तत्तल्लोकं गत्वा तासां देवतानां पशुरेव भवन्ति अनात्मवित्त्वात्। यावत् ते परशिवाराधनं न कुर्वन्ति तावज्जीवाः पशुपा-

---

१. सू० भा० २।३।१४ अधिकरणसारांशः

२. ब्र० सू० २।३।१५-३०

३. अंशाधिकरणसारांशः २।३।१५-४०

शान्त विमुच्यन्ते । ये सत्कर्मिणः शिवार्पणबुद्ध्या कर्म कुर्वन्ति ते भगवत्-प्रसादात् पापक्षयेण चित्तशुद्धि प्राप्य भक्तिवैराग्यादिसहकृतश्रवणमननिदिध्यासनेन छिन्नपाशाः शिवत्वं प्राप्नुवन्तीति सिद्धान्तः । अत्रोपासनायां भक्तादिशरणान्तस्थलेषु जीवभावसत्त्वेन शिवजीवयोः उपास्योपासकत्वेन स्वामिभृत्यात्मकस्वाभाविकद्वैतसिद्धिः । ऐक्यस्थले "यथा नद्यः" इत्यादि-दृष्टान्तेन नदीसमुद्रवत् जीवब्रह्मैकत्वेनाद्वैतसिद्धिरिति ।[1]

जीवस्य बन्धनम्—

बद्धजीवः स्वकृतकर्मानुसारेण भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तस्सन् स्वर्गादिकं संचरतीति । यदा पराभिध्यानात् शिवाभिन्नचिच्छक्तिव्यतिरिक्तत्रिगुणात्मकपाशरूपजडपराप्रकृतिचिन्तनात् जीवस्य स्वज्ञानं तिरोहितं भवति । तदाशरीरेन्द्रियमनः प्राणादिषु अहं ममेत्यभिमान एव बन्ध उच्यते । स च बन्धो पराभिध्यानान्निवर्तते । तथा च बहुजन्मकृतपुण्यपरिपाकेन स्वज्ञान (शिवज्ञान) पूर्वकपाशरूपमायाशक्तिनिवृत्तिभूताशिवत्वप्राप्तिरेव मोक्षः । तदुक्तं शैवे—

> **शिवे सनातने साम्बे नित्यकल्याणवैभवे ।**
> **परापरेति भेदेन तस्य शक्तिः प्रकाशिता ॥**
> **अपरा सच्चिदानन्दलक्षणा सर्वमङ्गला ।**
> **गुणत्रयविभेदेन भासते सर्वजन्तुषु ॥**

तत्—

> **शिवार्पणकृतात् पुण्यात् शिवानुग्राहको भवेत् ।**
> **तस्मात् गुणात्मिका माया पाशरूपा पराभिधा ॥**
> **विनश्यते तथा जीवः शिवो भवति नान्यथा[2] ॥ इति—**

तच्छिवज्ञानं तावत् शिवाचार्यगुरोः शक्तिपातेन भवति । "आचार्य-वान् पुरुषो वेद" इति । शिवज्ञानिनां समीपं जिज्ञासुः भक्त्या समित्पाणि-र्भूत्वा गच्छेत् । तत्र स गुरुः शिष्ये शक्तिपातं करोति । शक्तिपातस्तु परि-पक्वमलोत्पाटनहेतुरित्युच्यते । तेन जीवस्य परशिवब्रह्मरूपतया निरतिशयापरिच्छिन्नसुखमाविर्भवतीति ।

---

१. भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात् तथा वा दर्शयति सू० भा० ३।१।१।७

२. पराभिध्यानात्तु तिरोहितम् ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ३।२।१।४, सू० भा०

शक्तिपातस्तु तीव्रमन्दादिभेदेन विभिन्नस्थलेषु षड्विधो भवति। यथा—

(१) पतिपशुपाशादिपरमरहस्यप्रकाशकनिगमोभयवेदान्तश्रवणमनननिदि - ध्यासनानुक्रमेणाखण्डाकारवाक्यजन्यबुद्धिवृत्तनिरतिशयानन्दात्मकमहेश्वरत्वाविर्भावः प्रथमो भक्तस्थले भवति।

(२) उपर्युक्तगुणेन विद्यासंपुटोद्धूलनलक्षणोन्मेषणप्रकटामलसत्त्वचिद्घन-सदाशिवतत्त्वसाक्षात्कारो द्वितीयो माहेश्वरस्थले भवति।

(३) कुण्डलिन्या सुषुम्नामार्गेण षट्चक्रं भित्वा ब्रह्मरन्ध्रदेशे शिवयोगाभ्यासवशात् शिवशक्तिसंयोगलक्षणस्तृतीयः प्रासादिस्थले प्रदर्शितः।

(४) शिष्यानुग्रहातिशयेन देशिकः स्वदेहमुत्सृज्य छात्रशरीरे प्रविश्य तदीयनाडीशोधनद्वारा तत्कुण्डलिन्याः सप्तचक्रेषु सञ्चारेण शिववत् सर्वभुवनगमनपरोक्षप्रदर्शनरूपश्चतुर्थः प्राणलिङ्गस्थले निरूपितः।

(५) प्राणापानपवनसंयोगेन सुषुम्नानाडीमध्य-प्रकाशकचित्कलामयकल्याण-विभूतिं लब्ध्वा सदा अणिमाद्यष्टैश्वर्यसम्पन्नः पञ्चमः शरणस्थले कथितः।

(६) विद्याविद्याविलक्षण-निरतिशय-निरञ्जन-निर्विकार-निरवयवपरप्रकाश-रूपपरिपूर्ण-शिवतत्त्वसाक्षात्कारानुभवेन प्रचण्डातपमध्यनिक्षिप्तनिर्वात-निश्चलकर्पूरदीपवत् स्थितं व्यपोह्य शरीरेन्द्रियमनःप्राणादिबाह्याभ्यन्तरवस्तुपरिज्ञानशून्यमनोविलयात्मक-उन्मन्यवस्थाप्राप्तिः षष्ठोत्यैक्य-स्थलेऽभिधीयते। एवं विधशक्तिपातेषु पिपीलिका-मर्कट-पक्षि-गो-मत्स्य-कच्छप-न्यायेन स्वाभाविकजीवत्वनिवृत्तिपूर्वकशिवत्वप्राप्तिरेव मोक्ष इत्युपदिश्यते[1]।

साधनम्—

श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि—इति कैवल्ये श्रद्धाभक्त्यवच्छिन्न ध्यान-योगस्यैव मोक्षसाधनत्वोपदेशः। अतो भक्त्या शिवं-परमात्मानं श्रवणमनन-

---

१. ब्र० सू० २ भाग ३।२।१।५

कीर्तनस्मरणाद्युपासनेन ग्राहयन्ति, जानन्ति, साक्षात्कुर्वन्ति, उपगच्छन्ति, प्राप्नुवन्तीति वदन्ति। अन्यदेवताराधनं निषिध्यते[1]। एवं शैवाः पञ्च विवर्जयेयुः—

प्रायश्चित्तं चोपवासं संन्यासं यतिवन्दनम्।
तीर्थयात्राभिगमनं शैवः पञ्च विवर्जयेत्[2] ॥ इति।

ननु ब्रह्मविद्यायामधिकारी तु अत्याश्रमी, सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य उपदेशादिना तस्यैव भवतीति चेन्न, अत्याश्रमः, संन्यासस्तु "काम्यानां कर्मणां न्यासम्, सर्वकर्मफलत्यागः संन्यासो, यत्नशीलो यतिरिति सर्वेषामाश्रमस्थानां स्व-स्वकर्मकुर्वतां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीति भावः[3]।

ज्ञानकर्मसमुच्चयाऽभ्युपगमः—

अस्मिन् मते सर्वेषां मोक्षार्थिनां ज्ञानकर्मसमुच्चयमनुष्ठेयम्। आश्रममात्रातुष्ठेयं कर्म ब्रह्मविद्याङ्गत्वेन परमेश्वरबुद्धया विहितम्; जनकादिब्रह्मविदामपि श्रुतिस्मृतिनिष्ठानां कर्माचरणात्। ब्रह्मचर्यादिचतुर्विधाश्रमिणां स्वकर्म कर्तव्यमिति[4]। "तमेव वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन" इति "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्" इत्यादि सदाचारः सहकारितया मोक्षार्थिभिः कर्तव्यः[5]।

तेन पापरहितेषु शरीरेषु शिवप्रकाशकत्वं भवति। किञ्च सर्वेलिङ्गधारणं कुर्युरिति। तेनामृतत्वम् मायापाशनिवृत्तिश्च भवतीति। अतो मुमुक्षुणां स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानं बाह्याभ्यन्तरयोः परशिव-ध्यान-धारण-पूजा-नमस्कार श्रवणकीर्तनादि भक्तिश्च यावज्जीवं कर्तव्यमिति।

ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थो यतिस्तु वा।
यस्तु लिङ्गांङ्गसंयुक्तः स एवात्माश्रमी भवेत् ॥

---

१. ब्र० सू० २ भाग ४।२।२।३

२. २ भाग, ब्र० सू० पृ० ३८५

३. कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः, ब्र० सू० ३।४।१३-४८

४. विहितत्वाच्चाश्रमकर्माणि—ब्र० सू० भा० ३।४।९-३२

५. सहकारित्वेन च—ब्र० सू० भा० ३।४।९।३३

तथापि स्वाश्रमं धर्मं कृत्वा शास्त्रविधानतः ।
शिवपूजादिकं सर्वं यावज्जीवं समाचरेत्[1] ॥

अत्याश्रमिलक्षणम्—

यस्तु लिङ्गाङ्गसंयुक्तः स एवात्याश्रमो भवेत् ।
लिङ्गं शिवो भवेत् क्षेत्रमङ्गं संयोग आश्रमः ।
तस्माल्लिङ्गाङ्गसंयुक्तो योऽपि सोऽत्याश्रमो भवेत् ॥

उपासनानि त्रिविधानि—

अहंग्रहोपासनम्, प्रतीकोपासनम्, अङ्गावबद्धोपासनञ्चेति त्रिविधमुपासनम । प्रथमं तु दहर-शाण्डिल्य-वैश्वानरोपकोसलविद्यादीनि । तासु कासुचित् विद्यासु "वाचं ब्रह्मेत्युपासीत" इतिवत् चेतनजीवात्मकत्वेन परमोपासनमुपदिष्टम् । कासुचित्विद्यासु "अधिकं तु भेदनिर्देशात्" विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः" इति शास्त्रानुसारेण ब्रह्मणो जीवादधिकत्वेऽपि जीवस्य स्वभिन्नतया ब्रह्मोपासनं प्रदर्शितम् । तदेवाहंग्रहोपासनम्, द्वितीयं तु ताम्रमृन्मयशिलादिविग्रहेषु शिवकेशवादिवत् "नाम ब्रह्मेत्युपासीत" इत्यादिना नामादिजडपदार्थेषु ब्रह्मदृष्ट्या ब्रह्मोपासनं प्रतीकोपासनमित्युच्यते । तृतीयमुद्गीथादिपदार्थेषु कर्माङ्गउद्गीथादिषु अङ्गावबद्धोपासनमित्युच्यते— इति उपासनानि ।

मुक्तिस्वरूपम्—

मुक्तिर्द्विविधा—क्रममुक्तिः, जीवनमुक्तिश्चेति । कैलासवासिनां मनुष्यादि-शरीराभिमानरहितेच्छाशक्ति-क्रियाशक्ति-ज्ञानशक्तिव्यापाराणां नित्य वैभवपरमानन्दस्वप्रकाशविभूतिमयशिवसामरस्यरसैकप्रपञ्चावगाहिनां परिपूर्णसर्वशिवात्मकभावप्रकटनमिति । तद्यथा—"अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्" "अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः" इति मुक्तानामनुभवः ।

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद् भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥
मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ॥

---

१. अनभिभवञ्च दर्शयति—ब्र० सू० भा० ३।४।९।३५

अणोरणीयानहमेव तद्वत् महानहं विश्वमिदं विचित्रम् ।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि ॥

इति स्वानुभवज्ञानं भवति । परन्तु तेषां शिववत्—जगज्जन्मादि न हेतुत्वम्[1] ।

मूर्तामूर्तोपासकानां सालोक्यं लभ्यते, किन्तु तेषां न पुनरागमनं "न च पुनरावर्तते" इति श्रुतेः, "अनावृत्तिश्शब्दादनावृत्तिःशब्दात्" इति सूत्रादपि । सकृदपि शिवलोकभाजां परं पदमभिधीयते—इति दिक्[2] ।

अविभागाद्वैतवादे—आत्मतत्त्वम्

आचार्यविज्ञानभिक्षवः स्वविज्ञानामृतभाष्ये जीवब्रह्मणोः, जगद्ब्रह्मणोश्च सर्वत्राविभागाद्वैतमिति प्रतिपादितवन्तः । तद्यथा "अग्निस्फुलिङ्गवदंशांश्यभेदोऽप्यविभागो वक्ष्यते "प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् अविभागेन दृष्टत्वात्" इति[3] । "सर्वगतत्वादनन्तस्य स एवायमहंस्थितः" इति विष्णुपुराणादौ; "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इति श्रुतौ च जडवर्गाभेदस्याविभागरूपस्यैव प्रतिपादनात् किरणसूर्यादिवदंशांशिनोर्जीवब्रह्मणोरेकपिण्डीभावेन तस्य जीवरूपैरंशैरवच्छेदवादस्यापि प्रतिबिम्बवादवदेवोपपत्तेः । "आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेदिति" च दृष्टान्तः ।

किञ्च—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥[4]

"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टः"[5] वायुतदवयवाग्निस्फुलिङ्गादिष्वप्यवयवावयविनोरन्योन्याभावलक्षणो भेदः, अविभागलक्षणोऽभेद इति जीवब्रह्मणोः साम्यमिति । "अंशांशिनोश्च भेदाभेदौ विभागाविभागरूपौ जीवब्रह्मणोरात्यन्तिकावेव, शक्तिशक्तिमतोरविभागविभागवत् । जलस्य स्निग्धतायाः,

---

१. शिवसामरस्यसमर्थनम् ४।४।५।१९

२. ब्र० सू० ४।४।६।२२

३. ब्र० सू० भा० १।१।२

४. कठोपनिषत् २।२।१०

५. तदेव २।५।९

लवणस्य समुद्रेऽविभागव्यवहारस्यापलपितुमशक्यत्वात्। "न तु द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तमिति" श्रुत्या "सति संपद्य ते न विदुः, सति सम्पद्यामहे" इत्यादि श्रुत्या च जीवस्यापि ब्रह्मण्यविभागश्रवणात्। "प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ लीयेते परमात्मनीत्यादिस्मृतेश्च। "अविभागो वा वचनात्" इति सूत्राच्चेति।

ननु निरवयवस्य ब्रह्मणः कथं मुख्योंऽशः स्यादिति चेन्न, यथा च सर्वे जीवाः पितरि पुत्रचेतना इव चिन्मात्रे ब्रह्मणि नित्यसर्वावभासके विषयभासनरूपं स्वलक्षणं विहाय प्रलये लक्षणानन्यत्वं गच्छन्ति। सर्गकाले च तदिच्छया तत एव लब्धचैतन्यफलोपधाना आविर्भवन्ति पितुरिव पुत्राः। तस्मात् जीवा ब्रह्मांशा भवन्ति। "आत्मा वै जायते पुत्रः" इति श्रुत्या पुत्रे पितुरविभागलक्षणाभेदवज्जीवेऽपि ब्रह्मणोऽविभागलक्षणाभेदोऽस्ति "बहुस्यां प्रजायेय" इत्यादि श्रुतेः।[1] अत्र जीवेश्वरयोरविभागस्तु चिदंश एव न तु सर्वांशे। यदि सर्वं कर्तुं समर्थस्येश्वरस्य साम्यं जीवे भवति तदा जीवोऽपि सृष्ट्यादिकं कर्तुं प्रवर्तेत, परन्तु तन्नास्ति। "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति स्मृतेः जीवा ब्रह्मणोंऽशाः।[2]

किञ्च—जीवा अपि ब्रह्मवदेव विभुचिन्मात्ररूपास्तथाप्युपाध्यवच्छेदेनैवाभिव्यक्ताः परिच्छिन्ना चैतन्यतया विस्फुलिङ्गतुल्या भवन्ति। "बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः, "बालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते" इत्यादि श्रुतेः। एवमादीनि सर्वाणि वाक्यानि श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धानि जीवब्रह्मणोः, जडब्रह्मणोश्चाविभागं प्रदर्शयन्तीति सिद्धान्तः।[3]

ब्रह्मणः स्वरूपम्—

ब्रह्म तु क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टम्, चेतनविशेषः, अखिलशक्तिमत्, यस्मिन् प्रकृतिपुरुषादयोऽन्तर्लीनाः स्वतश्चिन्मात्रम्, विशुद्धसत्त्वाख्यमायोपाधिकम्, यत इदं नामरूपाभ्यां व्याकृतं जगत् जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते विनश्यतीति जन्मादिषट्कं स्थावरजङ्गमानां तद्ब्रह्मेति।[4] एवं यन्महदाद्यखिलजगदधिष्ठानकारणम्, सर्वेषामाधार-

१. ब्र० सू० भा० १।१।२

२. ब्र० सू० भा० च किञ्च एवमपि जीवश्चिन्मत्र स्यैवांश :१।१।२

३. तत्रैव

४. जन्माद्यस्य यतः १।१।२

भूतम्, आनन्दमखण्डभूतम्, यस्मिंश्च पुरत्रयं प्रलयं याति, तद्ब्रह्म समस्तकार्यरूपं जगत् ब्रह्मण्येवाविभागरूपेण तिष्ठति। यथा सर्गादौ जलाविभक्ताः पार्थिवसूक्ष्मांशास्तन्मात्राख्याः, जलेनैवोपष्टम्भात् पृथिव्याकारेण परिणमन्ते—इत्यतो जलं महापृथिव्या अधिष्ठानकारणमिति। तथा च स्मर्यते—

यस्य यत्कारणं प्रोक्तं तस्य साक्षान्महेश्वरः।
अधिष्ठानतया स्थित्वा सदैवोपकरोति हि॥

किञ्च—

नित्यं निरञ्जनं शान्तं निर्गुणं नित्यनिर्मलम्।
आनन्दसागरं स्वच्छं यत् काङ्क्षन्ति मुमुक्षवः॥
सर्वज्ञं ज्ञानरूपत्वादच्युतं व्यापकं महत्।
सर्गकाले च संप्राप्ते ज्ञात्वा तं कालरूपकम्॥
अन्तर्लीनविकारं च तत् स्रष्टुमुपचक्रमे।
तस्मात् प्रधानमुद्भूतं ततश्चापि महानभूत्॥

इति रहस्यैः संगुप्तशक्तिवर्गैः सहेति शेषः।[1]

शान्तम्, रागादिरहितम्, औपाधिकव्यापारशून्यं, न तु सुषुप्तवद् विषयसंवेदनरहितम्, सर्वज्ञं, निर्गुणं, नित्यमेव गुणानभिमानेन गुणासङ्गेन च गुणातीतं, गुणानां विलयाद् वा अस्य निर्गुणत्वम्। नित्यनिर्मलमिति जीवव्यावृत्तिर्जीवानामौपाधिककादाचित्कमालिन्यात्। मलानि च क्लेशकर्मविपाकाशयाः। सर्वज्ञं ज्ञानरूपत्वात् इत्यनेन साधननैरपेक्ष्यमीश्वरस्य सर्वाकारवृत्तेरुक्तम्। ज्ञानरूपत्वमत्र निरावरणसत्त्वमूर्तिकत्वं विवक्षितम्। प्रधानस्योत्पत्तिश्च प्रकृतिपुरुषसंयोगेनापि अभिव्यक्तिर्गौणीति बोध्यम्। "संयोगलक्षणोत्पत्तिः कथ्यते कर्मज्ञानयोः" इति मात्स्यात्। अनयोर्लयोऽपि वियोगरूप एव इति कौर्मे। एवं ब्रह्मशब्दस्तु परब्रह्मण्येव रूढः। तथा च परमेश्वरे एव ब्रह्मशब्दशक्तिरुक्ता न तु ब्राह्मणजातिप्रजापत्यादिषु इति।[2]

---

१. ब्र० सू० भा० पृ० १।१।२
२. ब्र० सू० भा० १।१।२

तदुक्तम्—

न सन्ति यत्र सर्वेशे नामजात्यादिकल्पना।
सत्तामात्रात्मके ज्ञेये ज्ञानात्मन्यात्मनः परे॥

तद् ब्रह्म परमं धाम स चात्मा परमेश्वरः।
स विष्णुः सर्वमेवेदं यतो नावर्तते यतिः[1]।
बृहत्वाद् बृंह्मणत्वाच्च आत्मा ब्रह्मेति गीयते॥ इति

स चात्मा तु

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चास्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततोभावस्तस्मादात्मेति कथ्यते॥

इत्यात्मलक्षणस्मृतेः यथोक्तरूपः।[2]

एवमत्र परमेश्वर एव मुख्यो ब्रह्मशब्दार्थः। परं जैमिनिर्मुख्यत्वादिति सूत्रात्। हिरण्यगर्भे त्वपरे ब्रह्मणि ब्रह्मात्मन्यूनशक्तितया तदव्यवहितकार्यत्वादिना ब्रह्मशब्दो गौणः "सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः" इति सूत्रात्। अत एव मनौ—

यत्तत् कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति गीयते[3]॥ इति।"

"एतद्वै तद्ब्रह्म परमपरं च" इत्यादौ गौणमुख्यभेदेन ब्रह्मद्वयवचनं बोध्यम्। जीवेषु तु ब्रह्मशब्दप्रयोगोंऽशांश्यभेदाद् विभुत्वसर्वाधारत्वादिगुणयोगाद्वेति ज्ञातव्यम्।

किञ्च—"वदन्ति तत्तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते" इत्यादिस्मृतिभ्यः ब्रह्मणो मुख्यनामानि उक्तानि। "अनामरूपचिन्मात्र" इत्यादिवाक्यैस्तु जन्मनिमित्तकनामैव निषिद्धमिति[4] बोध्यम्। तद् ब्रह्म अधिकृत्यनारदीये उक्तम्—

---

१. ब्र० सू० भा० पृ० २०

२. तत्रैव पृ० सं० २९

३. तत्रैव पृ० सं० २०

४. १।१।२ ब्र० सू० भा० पृ० ३२

आत्मानं द्विविधं प्राहुः परापरविभेदतः।
परस्तु निर्गुणः प्रोक्तो ह्यहङ्कारयुतोऽपरः[1] ॥ इति।

ब्रह्मणो ज्ञानं तु श्रुत्या भवति, "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इति श्रुतेः। तद् ब्रह्म जगज्जन्मादिकारणं शास्त्रेणैव ज्ञायते। शास्त्रं वेदान्तः तच्छेषभूताः स्मृतयश्च। तानि "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" इत्यादि श्रुतयः;

"तद् ब्रह्म परमं नित्यमजमव्ययमक्षयम्।
एकस्वरूपं च सदा हेयाभावाच्च निर्मलम्॥"

इत्यादि स्मृतयश्च। "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति", "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इति श्रुतिस्मृतिश्च। परन्तु जीवानाञ्चावान्तरतात्पर्यविषयत्वात् न तत्र श्रुतिप्रमाणमपेक्ष्यते। किन्तु ते प्रत्यक्षानुमानविषयाः। शास्त्रानन्तरञ्च ब्रह्मणि तन्मूलकमनुमानमपि प्रमाणम् एवं योगिप्रत्यक्षादिकमपि ब्रह्मणि प्रमाणं भवतीति। एभिस्त्रिभिः प्रमाणैः ब्रह्म परीक्षणीयमित्याशयः। "शास्त्रयोनित्वात्" "इति शब्दप्रमाणम्, "उपपत्तेश्च" इति अनुमानम्, "आचारदर्शनात्" इति योगिप्रत्यक्षज्ञानं चेति सूत्रैश्चोदाह्रियते[2]।

अस्मिन् मतेऽपि आनन्दमयस्तु ब्रह्मैव। प्राचुर्यार्थे मयटः प्रयोगः। तदब्रह्मण्येव घटते न तु जीवे। उक्तञ्च—आनन्दमय आत्मा ब्रह्मैव, कुतः? अभ्यासात् = ब्रह्मण्यानन्दमयतायाः पुनः पुनर्वचनात्। "ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मणः आनन्दः", "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह", "आनन्दो ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" इति वाक्येभ्यः "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म", "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इत्यादि श्रुत्यन्तरेभ्यश्च आनन्दमयो ब्रह्म एव भवेत्, न तु विज्ञानमयो जीव[3] इति।

जगत्

विज्ञानामृतभाष्यानुसारेण शुद्धसत्त्वंप्रधानं तावत् ईश्वरस्योपाधिरिति। स चोपाधिर्नित्यः, सा प्रकृतिर्नित्यशुद्धकेवलसत्त्वांशेन नित्यज्ञानेच्छादिमती-

---

१. ब्र॰ सू॰ भा॰ १।२।२
२. ब्र॰ सू॰ भा॰ १।१।३
३. आनन्दमयोऽभ्यासात् ब्र॰ सू॰ भा॰ १।१।७२

श्वरोपाधिः, सैव च प्रकृतिर्मलिनसत्त्वविशेषरूपैरंशान्तरैरजस्तमःसंभिन्नैः पुरुषसंयोगेन महत्तत्त्वरूपतः परिणता सती जीवस्योपाधिर्भवति"। उक्तञ्च "कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः" इति श्रुतेः। ततोऽपि निकृष्टैरंशान्तरैः सर्वमन्यत् उत्पद्यते विकारवस्त्विति।[1] एवं ब्रह्मशक्तितया अन्यानि कालादीनि समुत्पन्नानीति। यथा—श्वेताश्वेतरे "कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्"। इत्थं ब्रह्मशक्तितया सर्वमुत्पन्नम्। प्रलये भूतादीनां सूक्ष्मावस्थारूपेण सत्त्वमित्युच्यते[2]।

जीवस्वरूपम्

अस्मिन् मते जीवो न परमात्मा, अंशत्वात्। एवं जीवस्यापि श्रुतिषु नित्यत्वश्रवणात् जीवस्य मरणमपि नास्ति। किन्तु जीवापेतएवोपाधिमान् म्रियते। अत उपाधेरुत्पत्तिर्जन्मोपाधिनाशस्तु मरणमिति कथ्यते। जीवः चेतनः। अतः पूर्वानुभूतं परेऽपिकाले चिन्तयति। ननु "अस्थूलमनणुरित्यादि" श्रुतेः परमात्मपरत्वात्" आत्मान विभुः किन्तु अणुः। अणुत्व एव शरीरादुत्क्रान्तिगत्यागतयः संभवेयुः। एवं "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः", "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च" इत्यादि श्रुतिस्मृतिबलात् जीवः परिमाणतोऽणुरेवेति[3]।

ननु जीवस्याणुत्वे जीवः सर्वशरीरं कथं व्याप्नुयातदिति चेन्न, यथा दीपः प्रकोष्ठे एकदेशस्थितोऽपि सर्वत्र प्रकाशयति तथैवात्मा अणुत्वेऽपि सर्वशरीरं "व्याप्नोतीति[4]। अत आत्मा अणुरित्येव सिध्यतीति पूर्वपक्षः[5]। अत्रायं सिद्धान्तः—स वा एव महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषुः, इत्यादि श्रुतिभिनित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' इत्यादिस्मृतिभिश्च जीवसहितस्याऽत्मसामान्यस्यैव विभुत्वप्रतिपादनात् जीवो नाणुः किन्तु विभुरिति। जीवस्य कर्तृत्वादिकं सर्वं मनोबुद्ध्युपाधिना भवति। परमार्थतोऽकर्ता भवति इत्युभयमपि मन्तव्यम्।

---

१. योनिश्च हि गीयते—ब्र० सू० भा० १।४।२७

२ ब्र० सू० भा० १।४।२८

३. नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ब्र० सू० भा० २।१३।१९

४. उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्, ब्र० सू० २।३।१९

५. व्यतिरेको गन्धवत्, तथा च दर्शयति ब्र० सू० भा० २।३।२६,२७

तद्यथा "अकर्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सत् कामादिकं मन एवे"त्यादि श्रुतेः। स्मृतिरपि वदति—

"प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः"।
"यः पश्यति तथात्मानकर्तारं स पश्यति॥"[1] इति

जीवोंऽशः परमात्मा अंशी, यथा "पितापुत्रयोरग्निविस्फुलिङ्गयोः सम्बन्धः तथैव जीवेश्वरयोरपि सम्बन्धः[2]। तद्विभागेनाभिव्यक्तलक्षणः कार्यकारणवदुपपद्यते। तदुक्तम्—

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम्॥

इति पातञ्जलव्यासभाष्ये। कार्यमत्राभिव्यक्तिरित्युच्यते। एवं "ब्रह्मदाशा-ब्रह्मदासा" इत्यादयः श्रुतयः नाखण्डत्वं प्रतिपादयन्ति। कार्यकारणाद्यविभागलक्षणाभेदरूप एवाभेदो भवति। यथा "आत्मा वै जायते पुत्रः" इति। "स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्", "स एव विष्णुः स प्राणः" स कालोऽग्निः स चन्द्रमा" इत्यादीनि वाक्यानि विभूतिभिः सह कार्यकारणाद्यभेदेन बोधयन्ति नाखण्डत्वम्।

किञ्च—अनेकेषां पुत्रादिचेतनानामंशानामेकः पितृचेतनः, अंशी योनिरेक एव भवति अविभागात्, तथैव तदेकमेव कारणं ब्रह्म पुरुष इत्युच्यते[3]। तदेवोक्तं भाष्ये "ईश्वरेण प्रेरितं योनिस्थानीयं सत्त्वं लक्षीकृत्य शुक्रस्थानीयो रसो जीवः क्षरितः, तत्तस्मात् स रस ईश्वरांश इत्युच्यते[4]।"

स च जीवो ब्रह्मवदवभासमानः प्रकाशमात्रश्चिन्मात्रश्चेति उच्यते "सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्" इति। अतो जीवो निर्विकारत्वादसङ्गत्वाच्चिन्मात्रत्वाच्च निर्विकारासङ्गचिन्मात्रब्रह्मणोंऽशः सूर्यादीनामिव किरणादिरिति। तत्र चिन्मात्रत्वे श्रुतयः—"स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघनः एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः

---

१. समाव्यभवाच्च २।३।३९

२. अंशो नानाव्यपदेशात् अन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ब्र०सू०भा० २।३।४३

३. ब्र० सू० भा० २।३।४३

४. मन्त्रवर्णात्—ब्र० सू० भा० २।३।४४

प्रज्ञानघनः, एवं चेतामात्रं प्रतिपुरुषः क्षेत्रज्ञः सङ्कल्पाध्वयसायलिङ्गः प्रत्यगस्थूलोऽचक्षुरप्राणोऽमनाऽकर्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सदित्यादयः कथयन्ति[1]। यथा दीपो ह्रस्वो वा महान् वा प्रकाश एव भवति, तथा ज्ञानमेव सर्वप्राणिषु प्रकाशयति। अतो ज्ञानात् परं किंचिन्नास्ति।

ब्रह्मणः स्वरूपविषये तत् केवलं सच्चिद्रूपमित्युच्यते न तत्र ज्ञानानन्दादयः सन्ति। आनन्दादयः सर्वे प्रकृतेर्गुणा इति मन्यन्ते। "चैतन्यं चिन्मात्रं सदिति" श्रुत्या प्रदर्शितत्वात्। ननु तत्त्वमसीति वाक्यमखण्डार्थावबोधकमिति चेदुच्यते—"तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्", इति ऐतरेयके—"त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि इति" एवमन्योन्याभावस्याभावेऽत्यन्ताभेदेनात्यन्ततत्त्वविभागासम्भवात् व्यतिहारस्य च भेदघटितत्वात् नाऽखण्डार्थबोधकत्वमुक्त श्रुतेः। एवं श्रुतिप्रतिपादितो व्यतिहारो नोपपद्येत इति।

अखण्डात्मैक्यं न व्यतीहाराद्यभेदवाक्यार्थः। कुतः? सत्यकामसत्यसङ्कल्पापहतपाप्माजरामरत्वादयो धर्माः ब्रह्मणि सन्ति, जीवे तु कामसङ्कल्पविचिकित्सादयो वैधर्म्यमस्ति। तस्मात् जीवब्रह्मणोरखण्डार्थत्वं नैव संभवतीति[2]।

ज्ञानकर्मसमुच्चयवादः

अविभागाद्वैतवादे ज्ञानकर्मसमुच्चयवादः स्वीकृतः। तद्यथा—"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा", गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः। यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥" इत्यादीनि वाक्यानि जैमिनेः पुरुषार्थपराणीति। अन्यान्यपि एवं जातीयकानि "जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेनेजे" "यदेव हि विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति", "कुर्वन्नेवेह कर्माणि"[3] इत्यादीनि। बादरायणस्तु—योगारूढरूपाधिकारिभेदात् त्रिविधा विद्या भवति। कर्माङ्गभूता, कर्मसमुच्चिता, ज्ञानप्रधाना चेति। अत्र सनन्दनादीनां योगारूढानां केवला ब्रह्मभावना प्रोक्ता, देवादीनां चारुरुक्षूणां कर्मभावना विद्यासु शेषभूता, हिरण्यगर्भादीनां च ज्ञान-

१. आभास एव च, ब्र० सू० भा० २।३।५०

२. व्यतीहारो विंशिषन्ति हीतरवत् सू० भा० ३।३।३७

३. ब्र० सू० वि० भा० ३।४।८

कर्मणोः समुच्चयः इति। कर्मसु प्रवृत्तं निवृत्तञ्चेति द्विविधं कर्म। तत्र यत् काम्यं तत् प्रवृत्तिपरम्, यन्निष्काम्यं तन्निवृत्तिपरमिति उच्यते।

किञ्च—"एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः" इत्यादिवाक्येभ्यो निर्गुणाऽऽत्मज्ञानस्यापि कर्मशेषत्वमवगम्यते, ज्ञानिनामपि जनकादीनां कर्म श्रूयते। जडभरतादीनां भिक्षाटनादिकं श्रूयते च। अथ वासनाशेषाद् भिक्षादिकं स्यादिति चेत्, वैदिककर्मवासनावशात् वैदिककर्मोपपत्तिरिति नास्ति विरोधः। तस्मात् ज्ञानकर्मविरोधोऽप्रामाणिक इति[1]।

संन्यासस्वरूपम्

कर्मत्यागरूपसंन्यासो न विधिः, किन्तु कर्मफलत्याग एव संन्यासः इत्युच्यते याज्ञवल्क्येन। विष्णुपुराणेऽपि—

पुंसां जटाधारणमौढ्यवतां वृथैव,
मोघाशिनामखिलशौचबहिष्कृतानाम्॥
तोयप्रदानपितृपिण्डविवर्जितानाम् ।
संभाषणादपि नरा नरकं प्रयान्ति॥

अतः कर्मफलसंन्यासेन नैष्कर्म्यसिद्धिं समाध्यवस्थायोग्यतां परमहंस-रूपतामधिगच्छति। भगवद्गीतायाम्-नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधि-गच्छतीति। ध्यानभिक्षुरेव परमहंसः—

तदुक्तम्-विष्णुधर्मे—

चतुर्विधा भिक्षवः स्युः कुटीचकबहूदकौ।
हंसः परमहंसश्च श्रेयांश्चैषां यथोत्तरम्॥ तत्रापि—
आत्मनिष्ठः स्वसंसक्तः त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
चतुर्थोऽयं महानेषां ध्यानभिक्षुरुदाहृतः॥

अतः कर्मत्यागो न संन्यास इति विज्ञानभिक्षो राद्धान्तः[2]।

मुक्तिः

मोक्षप्राप्तौ कारणम्—कर्मक्षयेण देहपाते सति विदेहकैवल्यमिति मन्यन्ते, न तु अविद्यानिवृत्तिः कैवल्यम्। यदि किञ्चदपि कर्मशेषं स्यात्तर्हि

---

१. अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैव तद्दर्शनात् ३।४।८ ब्र० सू० भा०

२. विधिरवधारणवत् ब्र० सू० भा० ३।४।२०

देहोपलब्धिर्भवेत्। अतः कर्मणां समुन्मूलनमेव मोक्षं प्रति साक्षात् हेतुरिति[1]।

मुक्तिस्तु द्विविधा—सद्योमुक्तिः, क्रममुक्तिश्चेति। क्रममुक्तौ जीवो देवयानेन (सूर्यद्वारेण) गच्छति। इष्टादिकारिणामेव चन्द्रलोकगमनम्। तदपि पूर्ववर्त्यनुसारमेव। अनिष्टादिकारिणां तु संयमने (यमपुरे) एव भोगः, न तु चन्द्रमसि। तेषां हि आरोहावरोहौ संयमने भोगान् भुक्त्वैव भवतः[2]।

मुक्तिस्वरूपम्

मुक्तिस्तु—"संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्" इत्यत्राविर्भावशब्देनौपाधिकधर्मनिवृत्तिरेव मोक्षः। एवमपि आविर्भावस्तु ज्ञानमेव कथ्यते। तद् ब्रह्मलोके गते सति आत्मानात्मनां तत्त्वज्ञानं भवति। अत आत्मानात्मज्ञानेन जीवो मुच्यते। सकृदपि मुक्तः सन् तस्य न पुनरावर्तनम्।

सा च मुक्तिः समुद्रेण नदनदीनामिवाविभागेन लक्षणानन्यत्वरूपेणात्यन्तिकलय इत्युच्यते। तदुक्तं श्रुतिषु "ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः तत् परिमुच्यन्ति सर्वे", यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपेति दिव्यम्" इति एतद्वाक्यानुसारेण ब्रह्मणि अविभागेन विलयः श्रुत्या उक्तः[3]।

जीवानां गतिः

परब्रह्मणि जीवानां द्विविधा गतिः। एका विलयरूपा, सा च प्राकृतप्रलयात्यन्तिकप्रलययोरेव भवति। द्वितीया तु पक्षिणां गमनमिव भवति। तत् सर्वावरणाद् बहिष्ठे मायाशबलब्रह्मणि लिङ्गदेहस्य संघमात्रम्। ते ईश्वराज्ञया लीलावतारार्थं स्वजीवरूपेश्वरांशाधिष्ठिता अण्डमध्ये आगच्छन्ति गच्छन्ति च यावद्भोगसमाप्तेः। स्वसङ्कल्पादेव सर्वे प्राप्नुवन्ति। किन्तु जगद् व्यापारादिकं कर्तुं न शक्नुवन्ति[4]। ये कार्यब्रह्मणि गताः परब्रह्मणि

---

१. ब्र० सू० भा० ४।१।१५ इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु

२. ब्र० सू० भा० ३।१।१२, १३, १४

३. अविभागेन दृष्टत्वात् ४।४।४ ब्र० सू० भाष्ये

४. सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ४।४।८ ब्र० सू० भाष्ये

वा तेषां पुनरावृत्ति-र्जन्म नास्ति। कुतः? शब्दात् "ब्रह्मलोकमभिसंपद्य न च पुनरावर्तते" इति श्रुतेः। "अनावृत्तिश्शब्दादनावृत्तिश्शब्दात्" इति सूत्राच्च भगवद्गीतायामपि उक्तम्—

आब्रह्मभुवनाल्लोकात् पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते[1] ॥ इति दिक्।

अचिन्त्यभेदाभेदवादे-आत्मतत्त्वम्

अचिन्त्यभेदाभेदवादिमते "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" इति श्रुतेः त्रिशक्ति ब्रह्म। "विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा। अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते इति स्मृतेश्च। तस्य निमित्तत्वमुपादानत्वञ्चाभिधीयते। तत्रायं पराख्यशक्तिमद्रूपेण द्वितीयन्तु तदन्यशक्तिद्वयद्वारैवेति[2]।

"यत्र कस्मिन् चित्राम्बरे नीलपीतादयो गुणाः स्वस्वप्रदेशेष्वेव दृष्टा न तु ते व्यवकीर्यन्ते, यथा चैकस्मिन् देहिनि बाल्यादयो देहधर्मा देहे काणत्वादयः करणधर्माश्च करणगणे विज्ञायन्ते न त्वात्मनि एवं पुमर्थविकारा ब्रह्मशक्तिधर्माः शक्तिगताः स्युर्न तु शुद्धे ब्रह्मणि प्रसज्येरन्निति[3]।

"लोके यथा दण्डिनः पुरुषाभेदोऽप्यस्ति, दण्डपुरुषयोः स्वरूपतो भेदश्चास्ति तथा शक्तिमतो ब्रह्मणोऽभेदेऽपि शक्तिब्रह्मणोः भेदोऽप्यस्तीति न क्षतिः"[4]।

"तस्मादेकमेव जीवप्रकृतिशक्तिमद् ब्रह्म जगदुपादानं तदात्मकमुपादेयञ्चेति सिद्धम्। एवं कार्यावस्थत्वेऽप्यविचिन्त्यत्वधर्मयोगादप्रच्युतपूर्वावस्थञ्चावतिष्ठते। "ॐ नमो वासुदेवाय तस्मै भगवते सदा। व्यतिरिक्तं न यस्यास्ति व्यतिरिक्तोऽखिलस्य यः" इत्यादिस्मृतेः[5]।"

---

१. ब्र० सू० भा० ४।४।२२
२. ,, सू० भा० १।४।२६
३. ,, सू० भा० २।१।९
४. ,, सू० भा० २।१।१३
५. ,, सू० भा० २।१।२०

अविचिन्त्यवस्तुस्वभावस्य तदेकगम्यत्वात् तत्र कृत्स्नेन स्वरूपेण सृज्यन्ते स्वरूपांशेन वा व्यवस्थया वेति युक्तेर्नावश्यकता तस्मात् यथा श्रुतमेव स्वीकार्यम्[१]।

"सर्वशक्तिविशिष्ट एव परमात्मा। कुतः ? तद्दर्शनात् "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगात्", "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इत्यादिषु श्रुतिषु तथा दर्शनात्। विष्णुशक्तिः परा प्रोक्तेत्यादिका स्मृतिस्तूक्ता। अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिरात्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिरित्यादिस्मृतिभ्यः। तथा चाचिन्त्यशक्तियोगाद् ब्रह्मणः कर्तृत्वं युज्यत एवेति। सत्यमित्यादिषु स्वरूपं परामृष्टम्। देवात्मेत्यादिषु तु तस्य शक्तयो निर्दिष्टा इति। तस्मात् शक्तिमदेव ब्रह्मस्वरूपम्।"[२]

"चतुर्णामेषां ब्रह्मशक्तित्वादेकं शक्तिमद् ब्रह्मेत्यद्वैतवाक्येऽपि सङ्गतिः।

भाष्यपीठिकायां न खलु पराभ्युपगतनिर्विशेषचैतन्यमात्रवदत्र ब्रह्मस्वरूपं स्वीकुर्महे, किन्तु स्वरूपशक्तिमदेव। शक्तिश्च स्वरूपानतिरेकिण्यपि तद्विशेषतयावभासते, अन्यथा तस्य शक्तिरिति व्यपदेशासिद्धेः" इति भाष्यकारा आहुः।

सुबालोपनिषदि—"अचिन्त्यरूपं दिव्यं सर्वेश्वरमचिन्त्यमशरीरं निहितं गुहायाममृतं विभ्राजमानमानन्दं तं पश्यन्ति विद्वांसः"। (८ ख०) गीतायाम्—"सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्"[३] इति प्रमाणावल्याम्।

अचिन्त्यभेदाभेदवादिमतानुसारं पञ्चतत्त्वानि श्रूयन्ते यथा—ईश्वरो जीवः प्रकृतिः कालः कर्माणीति।

ब्रह्मणः स्वरूपम्—

तेषु ब्रह्म वा ईश्वरो वा तत्त्वं तावत् विभुचैतन्यम् नित्यज्ञानादिगुणकम्, अस्मदर्थञ्चेति। ज्ञानस्यापि ज्ञातृत्वं प्रकाशस्य स्वप्रकाशत्ववदविरुद्धं भवति। स चेश्वरस्तु स्वतन्त्रः स्वरूपशक्तिमान् प्रवेशनियमनाभ्यां जगद्विदधत्

---

१. सू० भा० २।१।३०

२. अस्य भाष्यस्य प्रारम्भे—पृ० २-३

३. भग० गीता ८।९

क्षेत्रज्ञभोगापवर्गौ वितनोति इति। अपि च स एकोऽपि बहुभावेनाभिन्नोऽपि गुणगुणिभावेन च विद्वत्प्रतीतेर्विषयोऽव्यक्तोऽपि भक्तिव्यङ्ग्य एकरसः इति मन्यन्ते।[१]

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्य इति। "प्रधानक्षेत्रपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः" इति श्वेताश्वेतरवचनात् ईश्वरः क्षेत्रज्ञपतिः सर्वेषां जीवानामीशः जीवानां बन्धमोक्षयोः कारणम्, संसारस्य रचयिता, स्थितिकर्तालयकर्ता चेति।[२]

एवं स निरवद्यो विशुद्धानन्तगुणगणाचिन्त्यानन्तशक्तिः सच्चिदानन्दः पुरुषोत्तमश्चेति।[३]

तस्य स्वरूपं तु ज्ञानलभ्यमक्षयानन्दचित्सुखं नित्यज्ञानादिगुणकं नित्यसुखहेतुरित्युच्यते।[४]

तस्य ज्ञानं तु अनुमानेन वा उपनिषदा वा भवतीति संशये—तत्रोक्तम्—

"सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे॥" इति

गोपालतापिन्याम्। स्वभावतो भगवतः श्रीकृष्णस्यानन्ताः शक्तयः सन्ति। तत्र प्रधानास्तिस्रः शक्तयः। यथा चिच्छक्तिः, जीवशक्तिः, मायाशक्तिश्चेति। ताः क्रमशः अन्तरङ्गा, तटस्था, बहिरङ्गा इति मन्यन्ते।[५] तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इति बृहदारण्यके[६], सूत्रञ्च शास्त्रयोनित्वात् शास्त्रमुपनिषद्योनिर्बोधहेतुर्यस्य तत्त्वात् उपनिषद्बोध्यत्वश्रवणादित्यर्थः। अनुमानादीनि श्रुत्यनुग्राहकाणीति मन्तव्यम्।

एवमस्य चतुर्दशभुवनात्मकस्य विरिञ्च्यादिस्थावरानन्तकर्तृभोक्तृयुक्तस्य नानाविधकर्मफलायतनस्य जीवातर्क्यातिविचित्ररचनस्य विश्वस्य यतो

---

१. पृ० २—नित्यज्ञानादिगुणकत्वम्....।
२. पृ० २—सविश्वकृद्विश्वविदा....।
३. विषयो निरवद्यो विशुद्धा....। पृ० २
४. ब्रह्मस्वरूपं तु इत्यादि पृ० ४
५. अवतरणिका हिन्दी, पृ० १५
६. सच्चिदानन्द पृ० ९

यस्मात् परात् वा अचिन्त्यशक्तिकात् स्वयं कर्त्रादिरूपादुपादानरूपाच्च जन्मादि भवति तद् ब्रह्मात्र विजिज्ञास्यमित्यर्थः। भूमात्मशब्दौ व्याप्तिगुण-योगेन भगवति मुख्यवृत्तौ, भूमाधिकरणे वाक्यान्वयाधिकरणे च तथैव निर्णेष्यमाणत्वात्। ब्रह्मशब्दस्तु निःसीमातिशयगुणयोगात् तत्रैव भवतीति। बृहन्तो ह्यस्मिन् गुणा इति ब्रह्म, अतो ब्रह्मण्येव मुख्यः। अन्यत्र भाक्त एव राजादिवत्। स एव स्वाश्रितवात्सल्यनीरधिस्तापत्रयविप्लुष्यमाणै-र्जीवैर्निःश्रेयसाय जिज्ञास्यः। अतः परब्रह्माभिधानः पुरुषोत्तम एव जिज्ञा-साकर्मभूत इति।

तद् ब्रह्म सगुणं वा निर्गुणं वेति विचार्यते। तत्र वाजसनेयके—"पूर्णमदः पूर्णमिदं....." इति उभयत्र पूर्णत्वमिष्यते। रासादिषु कर्म्मसु मूलरूपात् पूर्णादुदच्यते प्रादुर्भवति। तत्पूर्त्तौ पूर्णस्य प्रकाशरूपमादायैक्यं नीत्वा पूर्णमूलरूपमन्यत्राविलोनवशिष्यत इति। निर्गुणस्य हरेरेवम्विध्यं स्मृतिराह—

"स देवो बहुधा भूत्वा निर्गुणः पुरुषोत्तमः।
एकीभूय पुनश्शेते निर्दोषो हरिरादिकृदिति॥"

सगुणं निर्गुणम् इति द्वयोरूपयोः आद्यं तावत् सत्त्वोपाधिकं सर्वज्ञं सर्वशक्ति-मत् जगत् कारणम्। द्वितीयं तावत् सत्तानुभूतिमात्रं पूर्णविशुद्धमिति। पूर्वत्र वेदानां शक्तिः। परत्र तु तात्पर्यमिति प्राप्ते[1]—तन्निरस्यति "गतिः सामा-न्यात्"[2] गतिः अवगतिः, विज्ञानघनः, सर्वज्ञः, सर्वशक्तिः, पूर्णो विशुद्धः, परमात्मा जगद्धेतु रुपासितः सन् विमुक्तिकृदिति। सगुणं निर्गुणञ्चेति द्विरूपताब्रह्मणो नास्तीति। स्मृतिश्च "मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय"। किञ्च "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्त-रात्मा। धर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्चेति अभिधया तस्मिन्नेव वाक्यानि प्रयुज्यन्ते।[3]

ननु निर्गुणोऽपि गुणवानिति विरुद्धमिति चेन्न, निर्गुणादयः शब्दाः नैर्गुण्यादिना निमित्तेन तत्र प्रवर्तेरन्, सर्वज्ञादयस्तु सार्वज्ञ्यत्वादिना।

---

१. स्वाप्ययात् १।१।९, सूत्रभाष्यम्

२. १।१।१० ,, ,,

३. १।१।१० भाष्यानुसारी

तदुक्तम्—

"सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः।
समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ" इत्यादिभिः॥

तैत्तिरीयके—"तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्माऽथाऽऽनन्दमयस्तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव तस्य पुरुषविधतामनु अयं पुरुषविधः तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति"। तत्र संशयः किमयमानन्दमयो जीव उत परं ब्रह्मेति। एष शारीर, आत्मा देहसंबद्ध इति प्राप्ते—"आनन्दमयोऽभ्यासात्"[1] परं ब्रह्मैव सः। कुतः अभ्यासात्। प्रतिष्ठान्तेनानन्दमयं निरूप्य, "असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेद्। अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुरिति" तत्रैव ब्रह्म शब्दस्यैवाभ्यस्तत्वात्। अतः आनन्दमयः परब्रह्मैव भवितुमर्हति न जीवे घटते इति सिद्धान्तः। "स एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति इति "एकं सन्तं बहुधा दृश्यमानं" इति "स शिरः स दक्षिणः पक्षः स उत्तरः पक्षः स आत्मा स पुच्छ" इति च श्रुत्यन्तरात्। "शिरो नारायणः पक्षो दक्षिणः सव्य एव च। प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च सन्देहो वासुदेवकः। नारायणो सन्देहो वासुदेवः शिरोऽपि वा। पुच्छं सङ्कर्षणः प्रोक्त एक एव तु पञ्चधा। अङ्गाङ्गित्वेन भगवान् क्रीडते पुरुषोत्तमः। ऐश्वर्यान्न विरोधश्च चिन्त्यस्तस्मिन् जनार्दने। अतर्क्ये हि कुतस्तर्कस्त्वप्रमेये कुतः प्रमा" इति स्मरणाच्च। ब्रह्मैव प्रियशिरस्त्वाद्युक्तम्। पुच्छादिरूपं सन् अङ्गाङ्गिभावेन तिष्ठति।[2]

जगतः कारणम्—

यथा प्रायः सर्वे वेदान्तिनो ब्रह्मैव निमित्तोपादानमिति मन्यन्ते तथैव इमेऽपि उभयकारणत्वं ब्रह्मण्येव साधयन्ति। तत्र "श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशप्राक्षीर्येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमित्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानविषया प्रतिज्ञा श्रूयते।[3] सा ब्रह्मणः उपादानत्वे सति संभवेत् कार्यस्य तदव्यतिरेकात्। अपि च

---

१. १।१।१२ सूत्रभाष्योम् पृ० १७-१८

२. ३।३।१५ ब्र० सू० भा० आध्यानाय प्रयोजनाभावात्

३. १।४।२३ प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्

"सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय, स तपोऽतप्यत तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत् यदिदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्" इति तैत्तिरीयके परमात्मन एव चिज्जडात्मना बहुभवनसङ्कल्पोपदेशात् तदात्मकबहुस्रष्टृत्वोपदेशाच्च स एवोभयरूपः इति सिद्धम्।[1]

एवमेव "आत्मकृतेः परिणामात्" इत्यत्र "सोऽकामयतेति सृष्टिकामत्वेन प्रकृतः परमात्मैव स्वयमकुरुतेति सृष्टेः कर्तृभूतः कर्मभूतश्च श्रूयते अतस्तस्यैव तदुभयरूपत्वमिति। ननु कर्तैव कर्म कथं भवति? आत्माश्रयापत्तेरिति चेन्न, "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते," "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः", इति त्रिशक्ति ब्रह्म। तत्र च "विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा। अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यत" इति स्मृतेश्च।

तस्यैव निमित्तत्वमुपादानत्वञ्चाभिधीयते। तत्राद्यं पराख्यशक्तिमद्रूपेण, द्वितीयं तु तदन्यशक्तिद्वयद्वारैव, सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामत इति न्यायात्। "य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगात्" इत्यादिश्रवणाच्च। एवञ्च निमित्तं कूटस्थमुपादानं तु परिणामीति। सूक्ष्मप्रकृतिकं कर्तृ स्थूलप्रकृतिकं कर्म इत्येकस्यैव तदुभयं सिद्धमिति। ब्रह्मणो जगद्रूपेण परिणामवादः स्वीकृतस्तैः।[2]

अपि च "यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" इति योनिशब्देन उपादानं "कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्" इत्यनेन कर्तारमीशमिति निमित्तकारणमपि तदेव ब्रह्मेति स्फुटम्। अतो भाष्यकाराणामयमाशयो यत् जगतो निमित्तोपादानत्वं हरेरेवेति सुस्थितम्।[3]

तदुक्तम्—

सर्वे वेदाः पर्यवस्यन्ति यस्मिन् सत्यानन्ताचिन्त्यशक्तौ परेशे।
विश्वोत्पत्तिस्थेमभङ्गादिलीले नित्यं तस्मिन्नस्तु कृष्णे मतिर्नः[4] ॥

जीवस्य स्वरूपम्—

जीवात्मा अणुश्चैतन्यनित्यज्ञानादिगुणकोऽस्मदर्थश्च। एवं जीवात्मा-

---

१. १।४।२४,८ अभिध्योपदेशाच्च

२. ब्र० सू० भा० १।४।२६ आत्मकृतेः परिणामात्।

३. ब्र० सू० भा० १।४।२७ योनिश्च हि गीयते।

४. ब्र० सू० भा० १,४,२८।

नस्त्वनेकावस्था बहवः, परेशवैमुख्यात्तेषां बन्धस्तत्साम्मुख्यात् तत् स्वरूपतद्गुणरूपद्विविधबन्धनिवृत्तितत्स्वरूपादिसाक्षात्कृतिरिति[१]। अत्र आत्मसंबन्धी कश्चन संशयो जायते–स च जीवात्म नित्यो वा अनित्यो वेति। "न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चित् न बभूव कश्चित्" इति, "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे" इति च काठके "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशाविति" श्वेताश्वतरे च जीवात्मनो नित्यत्वश्रवणात् स नित्य एवेति। जातो देवदत्तः मृतो देवदत्त इत्यादिलौकिकव्यवहारादयस्तु देहसंबन्धेन भवन्ति। तदुक्तं छांदोग्ये—"जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते" इति[२]।

अपि च ज्ञानमात्रस्वरूपो जीव उत ज्ञानज्ञातृस्वरूप इति संशये "यो विज्ञाने तिष्ठन्" इत्यत्र तथैव प्रत्ययात् ज्ञानं तु बुद्धेरेव धर्म्मस्तया सम्बन्धे तत्राध्यस्यते सुखमहमस्वाप्समिति प्राप्ते, ज्ञ एवात्मा ज्ञानरूपत्वे सति ज्ञातृस्वरूप एव। तदुक्तं "एष हि द्रष्टा स्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष" इति श्रुतेः। स्मृतिश्च "ज्ञाता ज्ञानस्वरूपोऽयमिति"। तस्मात् ज्ञानस्वरूपो ज्ञाता च इति सिद्धम्[३]।

स चात्मा अणुर्वा विभुर्वेति चिन्तनीयम्—तत्र "महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति" इति काठके तस्य विभुत्वश्रवणात्" एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः" इति अणुत्वश्रवणात् चोभयविधे प्राप्ते सति" उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्" इति सूत्रे अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसोऽबुधा जनाः॥" इति। **ईशावास्ये।**

प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चिेह करोत्ययम्।
तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे[४]॥

इति च बृहदारण्यकश्रुत्या जीवस्योत्क्रान्तिः निगदिता। गमनागमनं तु अणोरात्मन एव भवितुमर्हति न विभोः। तस्मादात्मा परमाणुपरिमाण एवेति निश्चीयते। सर्वशरीरवेदनाया ज्ञानं तु चन्दनदृष्टान्तेन ज्ञातव्यम्। स्वज्ञानप्रकाशेन सर्वशरीरवेदनां सङ्गृह्णातीति। एवं तस्य कर्तृत्वादिकं

---

१. ब्र० सू० भाष्यावतरणिका पृ० सं० २

२. नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः २,३,१६ ब्र० सू० भा०

३. ज्ञोऽत एव २,३,१७ ब्र० सू० भा०

४. उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् २,३,१८ ब्र० सू० भा०

देहसम्बन्धादेव संभवति। देहाभावे तदभाव इति प्राप्ते "यथा च तक्षो-भयथा"[1] इति गुणभेदेन कर्ता, अकर्ता च भवतीति। तदुक्तम्—"सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः। तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदुपाश्रयः" इति। अतो गुणसङ्गेनैव तस्य कर्तृत्वादिकमिति मन्तव्यम्।

एवञ्चात्र परेशात् भिन्नो वा अभिन्नो वेति विचार्यते। तत्र "अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत[2] एके" इति सूत्रानुसारं जीवः परेशस्यांश इति। "उद्भवो सम्भवो दिव्यो देव एको नारायणो माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृत्गतिः नारायणः" इति सुबालश्रुतौ "गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्" इत्यादिस्मृतौ च स्रष्टृसृज्यत्वनियन्तृनियम्यत्वाधाराधेयत्व स्वामिदासत्व सखासखित्व-प्राप्तृप्राप्यत्वादिरूपनानासम्बन्धव्यपदेशात्। अन्यथा अन्यत्रा च विधया तद्व्याप्यतयैनं जीवं तदात्मकमेके आथर्वणिका अप्यधीयते। "ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे कितवा इति"। नह्येते व्यपदेशाः स्वरूपाभेदे संभवेयुः। न हि स्वयं स्वस्य सृज्यत्वादिभावो वा। न वा चैतन्यघनस्य दासादि-भावः। तथा सति वैराग्योपदेशव्याकोपात्। एवं तत् सृज्यत्वादिसम्बन्ध-वान् तद्भिन्नो जीवस्तदुपसर्जनत्वात् तदंश उच्यते। अत ईशात् जीव-स्यास्ति भेदः। एवमुपाधिरिति मतमपि निरस्तम्। अपि च स्मृतिः—"ज्ञानाश्रयो ज्ञानगुणश्चेतनः प्रकृतेः परः। न जातो निर्विकारश्च एकरूपः स्वरूपभाक्। अणुर्नित्यो व्याप्तिशीलश्चिदानन्दात्मकस्तथा। अहमर्थोऽव्ययः साक्षी भिन्नरूपः सनातनः। अदाह्योऽच्छेद्यो अक्लेद्यः अशोष्योऽक्षरः एव च। एवमादिगुणैर्युक्तः शेषभूतः परस्य वै। मकारेणोच्यते जीवः क्षेत्रज्ञः परवान् सदा। दासभूतो हरेरेव नान्यस्येव कदाचन"[3] इति। अत आत्मा नित्यः ज्ञाता ज्ञानस्वरूपगुणवान् अणुः स्वप्रकाशश्च ईशस्य वशीति स्वीक्रियते[4]।

जीवानां गतिः —

जीवस्तु भूतसूक्ष्मैः परिवृतः लोकाल्लोकान्तरं गच्छति। "असौ वाव

---

१. ब्र० सू० भा० २,३,३७
२. ,, सू० भा० २,३,४
३. ,, सू० भा० ३,३,४१,४२,४३,४४
४. ,, सू० भा० २,३,४५ तः आपादसमाप्तेः।

लोके गौतमाग्निः" इत्यादिश्रुतेः। तत्र हि द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषाः पञ्चाग्नितया निरूपिताः। तेषु पञ्चस्वग्निषु श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरेतोरूपाः क्रमात् पञ्चाहुतयः पठिताः। होतारः सर्वत्र देवाः। होमस्तु भूतसूक्ष्मपठितस्य जीवस्य स्वर्भोगादिलाभाय देवैः कृतो द्युलोकादिषु प्रक्षेपः। मृतस्य जीवस्य इन्द्रियाणि खलु देवाः कथ्यन्ते। ते हि द्युलोकाग्नौ श्रद्धां जुह्वति। सा श्रद्धा स्वर्गभोगार्हसोमराजाख्यदिव्यदेहरूपेण परिणमते। स च देहो भोगान्ते तैः पर्ज्जन्याग्नौ हुतो वर्षं भवति। तच्च वर्षं पृथिव्यग्नौ तैर्हुतमन्नं भवति। तच्चान्नं पुरुषाग्नौ तैर्हुतं रेतो भवति। तच्च रेतो योषाग्नौ तैरेव हुतं गर्भो भवतीति। तदाह—"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" इति। अत उत्क्रमेण रेतोरूपा आपः पुरुषरूपा देहरूपा भवन्तीति सर्वेषां वेदान्तिनां सम्मतम्। तदेवात्र निरूपितम्। अतो देहाद्देहान्तरगमनमेवास्य जीवस्य वृत्तिरिति विज्ञाय कृपया श्रुतिः तद्बन्धननिवारणाय वैराग्यादीन् मुमुक्षणामुपदिशति।

ब्रह्मणः सगुणरूपम्—

"अरूपवदेव हि तत् प्रधानत्वात्" इति सूत्रे तत्त्वं तु अरूपवदेव इति प्राप्तावुच्यते—"तं विग्रहमेव यस्मात् परमात्मानमाह श्रुतिरतः प्रमेयं तत्त्वमित्यर्थः। तदुक्तम्—

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।
द्विभुजं मौनमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्'॥

पुण्डरीकाक्षत्वादिधर्म्माः सविग्रह एव ईश्वर इति स्पष्टम्। अत्र देहाद्भिन्नो देहीत्येवंभिदेश्वरवस्तुनि नास्ति। किन्तु देह एव स देहीति लब्धम्[2]। एवमपि स प्रकृतिधर्म्मैरसंपृक्तः स्वतन्त्रश्चेति।

साधनम्—

मुक्तिप्राप्तये "अचिन्त्यभेदाभेदवादानुसारं भक्तिरेवोत्कृष्टसाधनमिति सिद्धान्तः। अतो भाष्यकाराः भक्तेः सर्वत्र साधनत्वं प्रदर्शयन्ति। यथा—"विग्रह एवात्मा, आत्मैव विग्रहः। तथा च श्रुत्यादिगम्येऽविचिन्त्येऽर्थे

---

१. तदनन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ३,१,१ ब्र०सू०भा०
२. अरूपदेव हि तत् प्रधानत्वात्, आह च तन्मात्रम् ३,२,४,१६ ब्र० सू० भा०

तर्कानवतारादात्मविग्रहत्वम्। तेन परैव भक्तिः स्यादिति[१]।" कैवल्योपनिषदि—"श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैति"। अत्र श्रद्धालुर्भक्तिमान् हरिं ध्यायन् प्राप्नोतीति प्रतीयते[२]। "भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप" इत्यादिस्मरणाच्च[३]। भक्तिप्रसन्नेन स्वभक्तेषु स्वस्वरूपमभिव्यज्यते निजाचिन्त्यकृपाशक्तियोगादिति स्वीकार्य्यम्। विज्ञानघनानन्दघनसच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति, इत्यथर्वश्रुतिलिङ्गादिति। स्मृतिरपि—"नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्षते निजशक्तितः। तामृते परमात्मानं कः पश्येतामितं प्रभुमिति" प्रेम्णा गोचरेऽपि प्रत्यक्त्वं न हीयते, तस्य स्वरूपशक्तिवृत्तित्वात्। प्रेमविहीनेषु त्वाभासरूपेणैव व्यक्तिः, परमानन्दादिरूपस्य तस्य दारुणत्वादिनावभासः[४]। "यद्यप्येकमेव ब्रह्मस्वरूपं तथापि तस्य प्राकट्यस्थानानां तेषां धाम्नां भक्तानां च विशेषादैश्वर्यमाधुर्यकृताच्छान्तदास्यसख्यादिकृताच्च तारतम्यात्तत्प्राकट्यमपि तारतम्यभाक् स्यात् इति[५]।" "भक्त्या तोषितस्तु स्वपर्यन्तं सर्वमिति वक्ष्यति पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति। तदित्थं जन्ममरणादिदुःखालयत्वरूपप्रपञ्चादौ भक्त्या निखिलनिर्दोषकीर्तनेन च निखिलनियामकत्वविशुद्धचिद्विग्रहत्वादिपरमात्मगुणनिरूपणेन च ब्रह्मतृष्णैव तदितरवितृष्णपूर्विका तत्प्राप्तिरिति[६]।" अन्यत्रापि बहुषु स्थलेषु भक्तेर्महिमा तैः प्रदर्श्यते।

भक्तेः द्वैविध्यम्

अस्मिन् दर्शनेऽयं विशेषो यत् भक्तेः प्रकाराः प्रदर्शिताः। तत्र द्विधा भक्तेः उल्लेखनं भाष्ये प्राप्यते। यथारुचिभक्तिः विधिभक्तिश्चेति[७]। तत्र रुचिस्तु माधुर्यज्ञानप्रवृत्ता तत्प्राप्तिहेतुः। क्वचित्त्वैश्वर्यज्ञानप्रवृत्ता विधिभक्तिस्तु तत्प्राप्तिहेतुरिति उभयविधा प्रसिद्धा। तयोर्भक्त्योरपि रुचि-

---

१. दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ३,२,१७ ब्र० सू० भा०

२ तदव्यक्तमाह हि—३।२।२३ ब्र० सू० भाष्ये

३. भाष्ये ३।२।२४

४. सू० भा० ३।२।२७

५. स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ३।२।३५

६. पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ३।२।४२

७. ब्र० सू० भा० ३।३।२९

भक्तिरेव गरीयसीति भाष्यकाराणामभिप्रायः। तत्र शुकवचनमपि प्रमाणम्—यथा "नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः। ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह" इत्यादि। यद्यपि सर्वभक्तसाधारणी तस्य वश्यता तथापि एषु तस्याः पराकाष्ठेति सर्वश्रैष्ठ्यसिद्धिः। तस्माद्रुचिवर्त्मनाऽनुवृत्तः श्रेयानिति भाष्यकाराः[1]। ते भक्ताः उत्तमाः। अन्ये ये—"ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च। प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः" इति मध्यमभक्ता इति निरूपितम्। अन्ये सर्वेऽधर्माश्चेति निश्चयः[2]। अतो मुमुक्षुः "चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः।

पञ्चपदं पञ्चाङ्गं जपन् द्यावाभूमी सूर्याचन्द्रमसौ साग्निः" इति। "तद्रूपतया ब्रह्म सम्पद्यते" इत्यादिश्रुत्या "कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तो बन्धात् परं व्रजेत्"।

एकोऽपि कृष्णाय कृतप्रणामो दशाश्वमेधावभृथैर्न तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

इति भगवतः कृष्णस्य पराभक्तिरेव अमृतत्वाय वा मुक्तये वा श्रेष्ठा इति।

व्यतीहारसूत्रार्थः

"आत्मानमेव लोकमुपासीत" इत्याद्याः श्रुतयः परमात्मत्वेन लोकमुपास्यमिति उपदिशन्ति। तत्र केचनाभेदेन परमात्मानमुपासीत इति अर्थं कुर्वन्ति। परन्तु अस्मिन् सिद्धान्ते "साक्षात् प्रकृतिपरोऽयमात्मा गोपालः" इत्याद्या श्रुतयो विग्रहवत्त्वेन परमात्मानं भजेरन्[3]। तथा चानन्दचिद्विग्रहो हरिरचिन्त्यशक्त्या स्वयं विचित्रस्तादृशालोकरूपश्च स्वभक्तस्य स्फुरति नान्यस्येति। अतः पूर्वस्य भक्तिरेवाविकल्पो यः सोऽहमिति भावः। भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यम्" इति। तस्याः पूर्वं प्रकृतत्वात् "सच्चिदानन्दैकरसे शक्तियोगे तिष्ठति" तथैवोपसंहाराच्च प्रकारविशेष एव नार्थान्तरमित्यत्र दृष्टान्तः क्रियते। क्रिया परिचर्याऽर्चनादिरूपा मानसं च ध्यानमिति। ते यथा भक्तेरेव प्रकाराः, तथा सोऽहमिति भावोऽपि पूर्वोप-

---

१. ब्र० सू० भा० ३।३।३१

२. ,, सू० भा० ३।३।२९-३०

३. ,, सू० भा० ३।३।३८

दिष्टायाभक्तेः प्रकारविशेषो भवतीति। रागाद् भयाच्च गाढावेशे सति सोऽहमिति भावोऽभ्युदेति कृष्णोऽहमिति, सिंहोऽहमितिवत्। अतः "अहमस्मि" "ब्रह्माहमस्मि" इति तैत्तिरीयकादिदृष्टः अभेदव्यपदेशस्तु भेदे एव सङ्गच्छत इति नाभेदे पर्यवसानमिति[1]।

ज्ञानान्मोक्षः

अस्मिन् दर्शनेऽयं विशेषो यत् अद्वैतवेदान्तातिरिक्तसकलवेदान्तिभिर्ज्ञानकर्मसम्मुच्चय एव मोक्षहेतुरिति कथ्यते। परन्तु अचिन्त्यभेदाभेदवादे "विद्यैव तु तन्निर्धारणात्[2]" इति सूत्रे विद्यैव मोक्षहेतुर्न तु कर्म इति ज्ञानकर्मसमुच्चयवादो निराकृतः। किन्तु विद्याशब्देन ज्ञानपूर्विका भक्तिरुच्यते। "तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते" इति भगवद्वचनात् भगवद्भक्तिरेव तज्ज्ञानमिति उच्यते।

मुक्तानां मार्गविशेषः

काश्चन श्रुतयोऽर्चिरादिना जीवो ब्रह्मलोकं प्राप्नोतीति इति। अन्या "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकम्" इति वायुरेवार्चिरादिपथे नयतीति। "अपरा चन्द्रमस विद्युतम्" इत्युक्तायास्तडितोऽप्युपरिष्टादसौ वरुणं निवेश्य इति प्राप्ते—सिद्धान्तस्तु—ये खलु निरपेक्षाः परमार्तास्तेषां तु स्वयं भगवतैव तत् प्राप्तिविलम्बमसहिष्णुना सेति विशेषोऽस्ति। तदुक्तम्—"नयामि परमं स्थानमर्चिरादिगतिं विना। गरुडस्कन्धमारोप्य यथेच्छमनिवारितः" इति वाराहवचनात् भगवानेव नयतीति[3]।

मुक्तेः स्वरूपम्

मुक्तिस्तु स्वरूपाविर्भाव इति कथ्यते। स च ज्ञानवैराग्यनिषेवितया भक्त्या परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्य जीवस्येह कर्मबन्धविनिर्मुक्तगुणाष्टकविशिष्टस्वरूपोदयलक्षणोऽवस्थानविशेषः स्वरूपाविर्भाव इत्युच्यते। सैव मुक्तिरिति। मुक्तपुरुषस्य संकल्पादेव सर्वं सिध्यतीति विशेषः। विग्रहाविग्रहविषये तु उभयमपि सिध्यतीति सिद्धान्तः। तदुक्तम्—"द्वादशाह-

---

१. ब्र० सू० भा० ३।३।४६

२. सू० ३।३।४८

३. ब्र० सू० भा० ४।३।१६

वदुभयविधं बादरायणोऽतः[१]'' इति साधकः स्वसाधनकाले यथा इच्छति तथैव सविग्रहो वा भवतीति। एवमपि सर्वज्ञत्वमपि तस्य भवति। परन्तु जगत्सृष्ट्यादिकार्यं तेन कर्तुं न शक्यते। ज्ञानानन्दादयस्तु भोगा ब्रह्मसमाना भवन्ति। अपि च अत्यन्तभगवत्सान्निध्यं मुक्तजीवः प्राप्नोति। अतस्तल्लोकादीनां प्राप्तिरिति। परन्तु ब्रह्मलोकं प्रविष्टस्य जीवस्य स्वर्गलोकादिवत् पतनं नास्ति। श्रुतौ अनावृत्तिशब्दश्रवणात् ''न च पुनरावर्तते'' इति। स्मृतिरपि—

मामुपेत्य पुनर्जन्मदुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः[२]॥ इति

तत्समर्थिकाऽस्ति।

---

१. ब्र० सू० भा० ४।४।१२

२. ब्र० सू० भा० ४।४।२२।

पञ्चमोऽध्यायः

स्वमतम् उपसंहारश्च

चार्वाकमतसमीक्षा

पूर्वोक्तेष्वात्मसंबन्धिषु विभिन्नवादेषु मध्ये चार्वाकमतं साधारणजनेषु रुचिकरमपि न मनीषिजनपरितोषाय क्षममिति स्थूलञ्चेति। अतश्चार्वाकमते कतिपयास्वारस्यबीजमुच्यते।

देहात्मवाद समीक्षा

ते हि चैतन्यस्मृत्यादीन् देहधर्ममाचक्षते[1]। 'देहसत्त्वे तेषां सत्त्वात् देहाभावेऽभावात्' तत्तु न युक्तम्—देहसत्त्वेऽपि मृतशरीरे चैतन्यादर्शनात्। देहधर्मा हि रूपादयो यावद्देहमवतिष्ठन्ते चैतन्य-चेष्टादयस्तु मृतशरीरे नोपलभ्यन्ते। तस्मात् न ते देहधर्माः। इतोऽपि च चैतन्यं न देहधर्मः पुरुषान्तरेणानुपलभ्यमानत्वात्। एवं मरणानन्तरं चैतन्यादीनामनुपलम्भः किं तेषां नाशात् उत शरीरान्तरगमनात् इति निश्चेतुमशक्यत्वात्।

किञ्च चार्वाका अनुमानप्रमाणं निराकुर्वन्ति[2]। यथोक्तम्—"विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता" इति। किन्तु तन्न युक्तम्। अनुमानस्याप्रामाण्ये सर्वलोकव्यवहारविलोपप्रसङ्गः स्यात्। अन्नादौ दिनान्तरीयतृप्तिसाधनत्वं स्मृत्वा वर्तमानान्नादौ तृप्तिसाधनत्वमनुमाय तद्भोजनादौ प्रवृत्तिर्लोकानां भवति। एवमन्यत्रापि। तस्मादनुमानं प्रमाणं मन्तव्यम्।

---

१. स्थूलोऽहं तरुणो वृद्धो युवेत्यादिविशेषणैः।
विशिष्टो देह एवात्मा न ततोऽन्यो विलक्षणः॥
—सर्वसिद्धान्तसंग्रहलोकायतिकपक्षप्रकरणम्।

२. प्रत्यक्षगम्यमेवास्ति नास्त्यदृष्टमदृष्टतः।
अदृष्टवादिभिश्चानादृष्टं दृष्टमुच्यते॥
—स० सि० सं० लोका० पक्षप्रकरणम्॥

यच्चोक्तं "विशेषेऽनुगमाभाव" इत्यादि तन्नोपपद्यते। महानसादौ नियमतः धूमवह्निसाहचर्यदर्शनेन धूमत्वावच्छिन्नवह्नित्वावच्छिन्नयोर्व्याप्तिग्रहणात्। ततश्च पर्वतादौ धूमदर्शनानन्तरं व्याप्तिं स्मृत्वा तत्र वह्न्यनुमानसंभवात्।

अपि च देहस्य दर्शनादिक्रियाकर्तृत्वे दृष्टस्यैव स्वप्ने दर्शनमिति न स्यात्। अन्धः स्वप्नं पश्यन् दृष्टपूर्वमेव पश्यति। तस्मादपि देहव्यतिरिक्त एवात्मा सिध्यति। एवं जातस्य शिशोः क्षीरपानादौ प्रवृत्तिः इतरप्रवृत्तिवत् इष्टसाधनत्वज्ञानपूर्विका सती जन्मान्तरीयेष्टसाधनत्वानुभवजन्यां तात्कालिकीं स्मृतिं सूचयति। तच्च जातस्य जन्मान्तरसद्भावं शरीरव्यतिरिक्तात्मसद्भावं चानुमापयति।

इन्द्रियात्मवादसमीक्षा

इन्द्रियाणामात्मत्वमिति चार्वाकैकदेशिनां विचारोऽपि न चारुः[1]। दैनन्दिनानुभवे योऽहमद्राक्षं सोऽहं स्पृशामीति प्रतिसन्धानं दृश्यते। तच्चेन्द्रियव्यतिरिक्तात्मानं सूचयति, अन्यानुभूतेऽर्थेऽन्यस्य स्मरणायोगात्, चैत्रस्यानुभूतेऽर्थे मैत्रस्य स्मृत्यदर्शनात्। अपि च एकैकस्यात्मत्वं वा अभिमतमिन्द्रियसमुदायस्य वा। आद्ये शरीरस्य बहुनायकत्वात् परस्परविरोधस्य प्रसक्तत्वात् शरीरमुन्मथ्येत। एकाभिप्रायानुसारित्वे स एवात्मा। समुदायस्यात्मत्वे यद्यपि वरगोष्ठीन्यायेन इतरेतराप्राधान्ये तस्यतस्य प्राधान्यमिति नियमाङ्गीकारेऽपि बहुनायकत्वप्रयुक्तदोषस्तदवस्थ एव।

मनआत्मवादसमीक्षा

यतो मनःसद्भाव एवेदं प्रमाणम्,[2] यदनेकेषामिन्द्रियाणां तत्तद्विषयसान्निध्येऽपि एकेनेन्द्रियेण ज्ञानं भवति, तस्मिन्नेव क्षणे इन्द्रियान्तरेण ज्ञानं न भवति तेन मन एष्टव्यम्। अत एव नैयायिकाः "अयौगपद्यात्

---

१. "ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन्को नः श्रेष्ठः" (छान्दो० उ० ५.१.६) इत्यादिश्रुतेरिन्द्रियाणामभावे........" वेदान्तसारेऽपि। पृ० सं० ३८

२. "अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय" इत्यादि श्रुतेर्मनसि" ॥ ४० ॥ वेदान्तसारे पृ० ४६

ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते"[1] इति मनसः सद्भावं साधयन्ति। एवं सति यदि ज्ञानाश्रयो मन एष्टव्यं स्यात्, तदा ज्ञानायौगपद्यसिद्ध्यर्थं करणान्तरमन्वेष्टव्यं स्यात्। तथा च तदेव मनो भवेत् ज्ञानाश्रयश्चात्मान्यः।

प्राणस्यात्मत्वसमीक्षा

प्राणो गतिमान् चञ्चलः शरीरं व्याप्य प्राणापानादिभेदेनात्मानं प्रविभज्य श्वासनिःश्वासोर्ध्वगमनादिकार्यं करोति[2]। तथा च यथा अन्नमयं मनः, अन्नादिना वृद्धिह्रासवत्त्वात् आत्मा न भवितुमर्हति आत्मनो वृद्ध्याद्यभावात्। तथा आपोमयः प्राणोऽपि नात्मा भवितुमर्हति। मनसोऽन्नमयत्वं प्राणस्यापोमयत्वञ्च छान्दोग्ये (षष्ठे) उपनिषद्येव विस्तरेण प्रतिपादितम्[3]।

इत्थञ्च शरीरेन्द्रियमनः प्राणातिरिक्तात्मेति निश्चितम्। ततश्चार्वाकमतं न समञ्जसमिति स्फुटम्।

जैनमत-प्रतिपादितात्मतत्त्वसमीक्षा

दिगम्बरास्तु इन्द्रियमनआदीनां प्रेरयिता-व्यापारयिता आत्मेति मन्यन्ते। स च ज्ञानेच्छाप्रयत्नादीनामाश्रयः। शरीरं प्रयत्नवदधिष्ठितम्, तथा शरीरमिच्छादिना निमेषोन्मेषवत् इत्याद्यनुमानात् ज्ञानेच्छाप्रयत्नादिमानात्मा इति[4]। स च शरीरप्रमाणः। एवं यदा स दुष्कर्मवशात् गजादिशरीरं प्राप्नोति तदा गजादिशरीरं व्याप्यावतिष्ठते। तत्र आत्मनोऽवयवानां विकासो भवति कृमिशरीरे प्राप्ते सति आत्मावयवाः सङ्कुचन्ति इत्याहुः।

एतच्च मतं ब्रह्मसूत्रकारेणैव "एवञ्चात्माकात्स्न्र्यम्"[5] इत्यनेन सूत्रेण तथा "न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः"[6] इति सूत्रेण च निरस्तम्।

---

१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली दिनकरी टीका पृ० १५९

२. "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः" इत्यादि श्रुतेः प्राणाः पृ० सं० ४६

३. अन्नमयं हि सोम्यमन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वगिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति। छान्दोग्ये—६।५।४

४. स्याद्वादमञ्जरी—पृ० सं० १७२ तः १७७ पर्यन्तम्।

५. ब्रह्मसूत्रम्—२।२।३४ भाष्ये—"शरीरपरिमाणतायां च सत्यामकृत्स्नोऽसर्वगतः परिच्छिन्नः।

६. ब्रह्मसूत्रभाष्यम्—न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः २।२।३५

आत्मनः सावयवत्वे गजशरीरं प्राप्तस्यात्मनः सर्वशरीरे व्यापित्वं न स्यात्। कृमिशरीरं प्राप्तस्तस्मिन् शरीरे आत्मा न सम्मीयेतेति यदि पर्यायेणात्मनो नूतना अवयवा आगच्छन्ति अल्पशरीराच्च निर्गच्छन्ति इत्यभ्युपगम्यते, तदा आत्मनोऽव्यवस्थितपरिमाणप्रसङ्गः, विकारित्व-प्रसङ्गः, अनित्यत्वप्रसङ्गश्च सावयवत्वात्—इति कृतनाशाकृताभ्यागमदोष आपतति।

स्याद्वादस्तु असंभवदुक्तिकत्वेन, स्वचेष्टाविरुद्धत्वेन च निरस्तोऽन्यत्रेति। अतो जैनाभिमतात्मस्वरूपनिरूपणमपि स्थूलमेवेति मन्तव्यम्।

वैभाषिकमतसमीक्षा—

बौद्धानां मते पञ्चस्कन्धा अभ्युपगताः। तैः सकललोकव्यवहारनिर्वाह इति स्वीकृतम्। तत्र बाह्यपदार्थाभ्युपगन्तृवैभाषिकमते परमाणुसमूह एवाकारविशिष्टो[1] घटाकारेण प्रत्ययगोचरः परमाणुश्च क्षणिक इति। तत्रेदमुच्यते—परमाणुहेतुके स्कन्धहेतुके च संघाते संघात एवानुपपन्न इति। तत् कर्तुः ईश्वरस्याभावात्, जीवस्य संघातोत्तरकालीनत्वात्। यदि अविद्यादिना पूर्व-पूर्वस्योत्तरोत्तरोत्पत्तिहेतुत्वात्, क्षणिकोऽनादिसिद्धोऽयं संसार इत्युच्येत, तदपि संहन्तुश्चेतनस्याभावात् प्रवाहानुपपत्तिः। अपि चोत्तरपदार्थोत्पत्तिसमये पूर्वपूर्वस्य नाशात् कार्याणामुपादानस्वभावानुगम-नानुपपत्तिः। न चेष्टापत्तिः, घटादीनां मृदाद्यन्वितत्वदर्शनात्। सर्वं क्षणिकमिति सिद्धान्तश्चानुपपन्नः, कार्योत्पत्तिक्षणे कारणनाशात् असति कारणे कार्योत्पत्तिस्वीकारे प्रतीत्यसमुत्पादस्यैवानुपपत्तिः।[2]

अपि चात्मनः क्षणिकत्वे स्मृत्यनुपपत्तिः, अनुभवितुः पूर्वमेव नष्टत्वात्। एतत् सर्वं दूषणजातं वैभाषिकसौत्रान्तिकोभयसाधारणम्।

सौत्रान्तिकमतसमीक्षा—

सौत्रान्तिकाभिमतस्तु बाह्यार्थानुमेयत्ववादः सर्वथा दुरुपपादः। प्रति-बिम्बस्य बिम्बपूर्वकत्वनियमदृष्टान्तेन खलु तद्वादः प्रवृत्तः। अत्र च दृष्टान्त एव दुर्ग्रहः। सर्वथा अनुमेयत्वे बिम्बस्यापि अनुमेयत्वात्।[3]

---

१. पूर्वापरानुभावेन पुञ्जीभूताः सहस्रशः।
परमाणव एवात्र बाह्यार्थघनवत्स्थिताः॥ २॥ स० सि० वैभाषिकमते

२. भारतीयदर्शन, बल० उपा०, बौद्धदर्शन पृ० १३९ तः १४३ पर्यन्तम्

३. तदेव १४५ तः १४७

तस्मात् नैरात्म्यसाधनाय वैभाषिकसौत्रान्तिकाभ्यामपि कृताः सर्वे दुष्प्रयासा बालुकाभित्तय इवविशीर्यन्ते। बुद्धाभिप्रायविरोधिनश्चेति प्रतीमः। नहि सर्वज्ञो बुद्ध एवंविधासमञ्जसाभिप्रायेणोपदेष्टुमर्हतीति। तस्माद् जगदसारताप्रतिपादनेन वैराग्योत्पादनाभिप्रायेण वेति पूर्वं न्यवेदि वैराग्यभावनोत्पादनमपि न निष्क्रियत्वाय किन्तु जगति स्वार्थपरायणतोन्मूलनद्वारा समाजे अहिंसासमतादिव्यवहारप्रवर्तनायैवेति मन्ये।

शून्यवादिमतसमीक्षा—

बौद्धेषु माध्यमिकाः प्रमुखा इति आख्यायन्ते। तन्मते आत्मनाशो मोक्ष इति।[1] तत्र प्रष्टव्यं भवति, आत्मनाशः कस्य फलमिति यत्र फलभोक्ता एव नास्ति तत्र मोक्षोपदेशो व्यर्थः। ज्ञातं सत् यत् स्ववृत्तितया इष्यते तदेव फलमिति फलवादिनां सर्वेषां बौद्धभिक्षूणां सम्मतम्। तथा च फलभोक्त्रभावादेवात्मनाशरूपो मोक्षो माध्यमिकैः प्रतिपादितोऽयुक्तः। आत्मा नश्यति मोक्षश्च प्राप्यत इति व्याहतं वचः।

विज्ञानवादिमतसमीक्षा—

विज्ञानवादिनस्तु वसुबन्धुप्रमुखा बाह्यार्थवादं तिरस्कृत्य स्वप्नदृष्टान्तेन क्षणिकविज्ञानसन्ततिरेवात्मेति मन्यन्ते। तादृशविज्ञानानि च विषयवासनाभिः संपृक्तानि संसारे सुखदुःखानि जनयन्ति। यदा भावनात्रयात् वासनाशून्यं विज्ञानं भवति तदा एव मोक्षः। अत एवोक्तं "विशुद्धविज्ञानोदयो महोदयः"।[2] भावनात्रयञ्च क्षणिकभावना, स्वलक्षणभावना, शून्यभावना च। अस्मिन् मते विज्ञानातिरिक्तविषयशून्यभावना। किन्तु क्षणिकविज्ञानमेवात्मा इति विज्ञानवादिपक्षोऽपि प्रत्यभिज्ञाविरोधात् उपेक्षणीयः। बाह्यार्थवादिमतं तु पूर्वमेव निराकृतम्।

अपि च शिष्यबुद्ध्यनुसारेण बाह्यार्थवादं, विषयानुमेयत्ववादं विज्ञानवादं शून्यवादञ्चेति परस्परविरुद्धान् वादान् बोधयन् बुद्धो लोकान् वञ्चयितुमेव प्रवृत्त इति न वस्तुस्थितिः किन्तु वैराग्योत्पादनाशयेनेति मन्ये। अपि चाहिंसावादः, प्रपञ्चानित्यत्ववादः ज्ञानैकपदार्थत्ववादः, वेदादेव बौद्धेन संगृहीत इति अष्टमशताब्द्यां काञ्चीनगरमधिवसन् राजा महेन्द्रवर्मा स्वीयमत्तविलासप्रहसने ब्रवीति। यथा—

---

१. भार० दर्श० बल० उपा० पृ० १६०—निर्वाणस्वरूप

२. तदेव पृ० १५१—निर्वाण

वेदान्तेभ्यो गृहीत्वार्थान् यो महाभारतादपि ।
विप्राणां मिषतामेव कृतवान् कोषसञ्चयम् ॥ इति ।

वस्तुतस्तु भगवान् बुद्धो निवृत्तिधर्मभिक्षाटनादिकमुपदिदेश न तु ब्रह्मचारि-गृहस्थादिधर्मान् । एतावता इदमपि ज्ञायते यत् तस्य वैदिके ब्रह्मचारि-गृहस्थादिधर्मे न हार्दः प्रद्वेष इति ।

नैयायिकमतसमीक्षा—

नैयायिकानां मतमपि न श्रुत्यभिप्रायमनुसरति । ते हि ज्ञानानां परतः प्रामाण्यमिति अङ्गीकृत्य वेदनामीश्वरोच्चरितत्वेन प्रामाण्यमिति उपपादयन्ति । एवं सति बुद्धस्यापि ईश्वरावतारत्वाङ्गीकारात् तद्ग्रन्थानामपि प्रामाण्यापत्तिरिति एको दोषः । अपि च ईश्वरोऽनुमानेन सिध्यतीति वदन्ति । श्रुतिबलात् ईश्वराङ्गीकारे तु ईश्वरोच्चरितत्वात् श्रुतेः प्रामाण्यम्, श्रुतिप्रामाण्यात् ईश्वरसिद्धिरिति अन्योन्याश्रयदोषः । एतत् परिहर्तुमीश्वरस्यानुमानेन सिद्धिमङ्गीकुर्वन्ति । तदर्थं न्यायप्रयोगः क्रियते तैः ।

यथा "क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं जन्यत्वात् घटवत्"[1] इति । कर्ता चोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमान् वाच्यः । तथा चेश्वरः क्षित्याद्युपादानपरमाण्वादिगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षादिमानिति वक्तव्यः । तथा च तस्य सर्वज्ञत्वं सिध्यतीत्याहुः ।

एवं नैयायिकाः—"ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्"[2] इति गौतमसूत्रानुसारेण सर्वकर्मफलदायित्वेनेश्वरं साधयन्ति । तथा च सर्वमचेतनं चेतनाधिष्ठितं प्रवर्तते इति न्यायः । धर्माधर्माख्यं कर्म चाचेतनम् । तद्येन चैतन्येनाधिष्ठितं फलदानाय प्रवर्तते स चेश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमानश्चेति वदन्ति ।

तत्रेदमुच्यते—न्यायवैशेषिकानुमानमिदं न समीचीनं साध्यासिद्धेः । न हि जन्यत्वेन जन्यत्वमनुमातुं शक्यते, व्याप्त्यसिद्धेः ।

अपि च क्षित्यङ्कुरादेः एकः कर्ता न सिध्यति उक्तानुमानेन । विचित्रप्रासादादिदृष्टान्तेषु बहुकर्तृकत्वदर्शनात् । प्रपञ्चस्यापि बहुविधवैचित्र्यात् । अपि चेश्वरस्य परमाण्वादिज्ञाने मानाभावात् सर्वज्ञत्वासिद्धिः । एवमीश्वर-

---

१. ईश्वरानुमानम् (न्या० सि० मु०)

२. ४।१।१९ न्यायसूत्रम्

ज्ञानस्य नित्यत्वं न सिध्यति। अनित्यस्य योगिज्ञानस्य सर्वविषयत्वदृष्टेः। अपि च ज्ञानं शरीरावच्छेदेनोत्पद्यते, न चेश्वरस्य शरीरमस्ति।

यदि ईश्वरस्य परमाणव एव शरीरमिति उदयनाचार्यमतमङ्गीक्रियते[1] तदा शरीरावच्छिन्नत्वात् तस्य ज्ञानस्यानित्यत्वापत्तिः। तथा च नैयायिकोक्तेश्वरानुमानं न युक्तिसहम्।

अपि च सृष्ट्यादौ परमाणुद्वयसंयोगात् द्वयणुकोत्पत्तिक्रमेण पृथिव्याद्युत्पत्तिमङ्गीकुर्वन्ति ते। तदपि न युक्तम्। निरवयवयोः संयोगासंभवात्। संयोगाभावे सृष्टेरसंभवः।

किञ्च—अवयवावयविनोः समवायः सम्बन्धोऽङ्गीक्रियते। तत्रेयमनुपपत्तिः—स्वयमसंबद्धस्य सम्बन्धत्वासंभवात् समवायस्य समवायिभिः सह संबन्धार्थं समवायान्तरमङ्गीकर्तव्यम्। यदि संबन्धान्तरं विना समवायः सम्बध्येत, तर्हि संयोगोऽपि तथैव सम्बध्यताम्, वृथा समवायाभ्युपगमः।

अपि च परमाणूनां रूपादिमत्त्वात् घटादिदृष्टान्तेन विनाशापत्तिः। तथा "परमाणव उत्पत्तिमन्तो विभक्तत्वात् घटवत्" इत्यनुमानेन तेषामुत्पत्तिः साधयितुं शक्यते। एवं रूपादीनां गुणत्वात् द्रव्याधीनत्वमिति अभ्युपगच्छन्ति। द्रव्याधीनत्वं तेभ्यो द्रव्येभ्यो भिन्नत्वञ्चाङ्गीकुर्वन्ति, तदपि न सम्यक्, नीलो घट इत्यादिप्रत्ययात् द्रव्यगुणयोरभेदसिद्धेः।

वैशेषिकमतसमीक्षा

वैशेषिकमतेऽयं न्यायप्रयोगः—सर्वं कार्यं सोपादानकरणसंप्रदानप्रयोजनसामर्थ्यविषयविज्ञानवत्कर्तृकं विविधविन्यासकार्यत्वात् घटादिवदिति। तत्र जगतो बहुकर्तृकत्वं परिच्छिन्नज्ञानैश्वर्यादिमत्कर्तृत्वमेव सिध्येत्। तादृशानां घटादीनामेवोदाहरणत्वात्[2]।

नैयायिकास्तु सर्वं कर्मफलं कर्मतत्फलतद्भोक्तृदेशकालादिविशेषविज्ञानवता प्रदीयते कर्मफलत्वात् इत्यनुमानमाहुः।। कर्मफलस्य शरीरेन्द्रियादिविशिष्टबहुजनदातृकत्वदर्शनात् ईश्वरासिद्धिरिति[3]।

---

१. उदयनाचार्यैः टीकाप्रथमश्लोकव्याख्याने—ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाशः पृ० ५

२. ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाशः पृ० ५

३. तदेव पृ० ४

यदि सर्वविषयकज्ञानमेवानुमीयते तर्हि गुरुत्वरागद्वेषदुःखभ्रान्त्यादिष्वपि सर्वोत्कर्षः प्राप्येत। तस्मान्नानुमानादीश्वरसिद्धिरिति विवरणकाराः।

किञ्च—ईश्वरस्य जगन्निमित्तकारणत्वमानुमानिकन्नोपपद्यते। यतो हीनमध्यमोत्तमभावेन प्राणिभेदान् सृजत ईश्वरस्य रागद्वेषादिदोषप्रसक्तेः अस्मदादिवत् अनीश्वरत्वं प्रसज्येत। न च कर्मापेक्ष ईश्वरः कर्म प्रवर्तयतीति वाच्यम्। ईश्वरः कर्मणां प्रवर्तकः कर्माणि ईश्वरं प्रवर्तयेरन्निति अन्योन्याश्रयापत्तिः। न चानादित्वात् न दोषः, पूर्वकर्मणा प्रवर्तित ईश्वरोऽस्मिन् कर्मणि प्रवर्तते इति प्रवर्त्यप्रवर्तकभावस्यैवासिद्धौ अन्धपरम्परान्यायापत्तेः।

अपि च "प्रवर्तनालक्षणा दोषाः"[1] इति न्यायसूत्रात् दोषप्रयुक्ता एव सर्वे लोका अन्यं प्रवर्तयन्ति। तथा च ईश्वरस्य प्रवर्तकत्वे स्वार्थपरत्वादीश्वरस्यानीश्वरत्वप्रसङ्गः।

अपि च परमाणूनां प्रवर्तक ईश्वर इति न्यायमते प्रधानस्य प्रवर्तक ईश्वर इति योगमतम्। इदमपि न युक्तं संबन्धाभावात्। न चेश्वरस्य परमाणुभिर्वा प्रधानेन वा संबन्धः संभवति संयोगसमवाययोरभावात्। अन्यस्य निरूपयितुमशक्यत्वात्।

पातञ्जलयोगवृत्तिकारास्तु

आत्मा चेतनायोगाच्चेतन इत्युच्यते, चेतनापि तस्य मनःसंयोगजा, तथा हि इच्छा-ज्ञान-प्रयत्नादयो ये गुणास्तस्य ते व्यवहारदशायाम् आत्ममनःसंयोगादुत्पद्यन्ते, तैरेव च गुणैः स्वयं ज्ञाता कर्ता भोक्तेति व्यपदिश्यते, मोक्षदशायां तु मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ तन्मूलानां दोषाणामपि निवृत्तिरिति, तेषां बुध्यादीनां विशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिः, स्वरूपमात्रप्रतिष्ठत्वमात्मनोऽङ्गीकृतम्। तेषामयुक्तः पक्षः, यतः तस्यां दशायां नित्यत्वव्यापकत्वादयो गुणा आकाशादीनामपि सन्ति, अतस्तद्वैलक्षण्येनात्मनश्चिद्रूपत्वमवश्यमङ्गीकार्य्यम्। आत्मत्वरूपविलक्षणजातियोग इति चेत् न, सर्वस्यैव तज्जातियोगः संभवति, अतो जातिभिन्नं चिद्रूपं वैलक्षण्यमात्मनोऽवश्यमङ्गीकर्तव्यम्। एवं तस्याधिष्ठातृत्वं चिद्रूपतयैव घटते नान्यथेति[2]।

१. न्यायदर्शने १।१।१८ सू०
२. पा० यो० सू० भो० वृत्तिः ४।७९ पृ० ७८

श्रुतिविरोधस्तु स्पष्टः "असङ्गो ह्ययं पुरुषः"[1] "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्"[2] "नेह नानास्ति किञ्चन",[3] "अस्थूलमनणुअह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन"[4] इत्यादिभिरात्मनो निर्गुणत्वावगमात्। अपि च जीवाः परस्परं भिन्नाः विभवो गुणवन्तश्चेति तैरिष्यते तदपि न युक्तम्, यतो हि जीवभेदसाधकानुमानमपि चैत्रशरीरावच्छिन्नो भोगाश्रय आत्मा मैत्रशरीरावच्छिन्न भोगश्रयाद्भिन्नः, तद्गतभोगानधिकरणत्वात् इति व्याहरन्ति। तच्च न युक्तम्, हेतुज्ञानस्य जीवभेदसिध्यधीनत्वात् अन्योन्याश्रयापत्तेः।

तथा च जीवभेदोऽनुमानेन साधयितुं न शक्यते, "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः[5]" इति श्रुतिविरोधश्च।

इत्थञ्च न्यायवैशेषिकशास्त्रमात्मत्वेन जीवात्मपरमात्मनौ स्वीकुर्वत् तत्र जीवात्मानं कर्मफलभोक्तृत्वेन परमात्मानञ्च तत्प्रदातृत्वेन जगत्स्रष्टृत्वेन च स्वीकुर्वदस्ति। यद्यपि एतावतापि जगद्व्यवहारानिर्वर्तन्ते एव। तथा मन्दाधिकारिणोऽभिप्रेत्य प्रवृत्तत्वादस्य शास्त्रस्यापि जगद्व्यवहारे परममहत्त्वमस्ति, तथापि प्रमाणसर्वस्वभूतानां श्रुतीनां परमप्रामाण्यात् न्यायमतेऽपि तास्वेव निर्भर इति निश्चप्रचम्। अतएवाहोदयनाचार्य आत्मतत्त्वविवेके—

"न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिः।
तद्बाधके बलिनि वेदनये जयश्रीः[6]॥ इत्यादिः।

साङ्ख्यमतसमीक्षा

साङ्ख्यमते प्रकृतेरेव कर्तारं विना प्रपञ्चाकारेण परिणामित्वमिष्यते। अधिष्ठाता ईश्वरो नेष्यते। तदिदं दृष्टान्तविरुद्धम्। घटादौ हि

---

१. बृह० आ० उ० ४।३।१५-१६

२. कठ० उप० ३।१५

३. कठ० उप० ४।११

४. बृह० आ० उप० ३।८।८

५. श्वेता० उप० ६।११

६. आत्मतत्त्वविवेके—पृ० २३०

मृदादीनां परिणाम्युपादानत्वं कुलालादेः कर्तृत्वञ्च प्रत्यक्षं दृश्यते। कर्तृत्वञ्चोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वम्। तादृशश्चिकीर्षादिमतोऽधिष्ठातुरनङ्गीकारात् तन्मते प्रकृतेः विकारात्मना परिणामानुपपत्तेः[1]। जीवादृष्टस्य हेतुत्वे सर्वदा सृष्टिप्रसङ्गः, सर्वदा प्रलयप्रसङ्गो वा। जीवास्तन्मते चैतन्यस्वरूपाः, न कर्तारः अपितु भोक्तार इत्यभ्युपगम्यते[2]। तत्र न तावत् जीवबहुत्वं तन्मते सिध्येत्। सर्वेषां शुद्धचैतन्यरूपत्वेन परस्परं भेदकाभावात्। भोक्तृत्वञ्च तेषामनुपपन्नमेव। भोगरूपेण जीवस्य परिणामेऽनित्यत्वप्रसङ्गात्।

यदि उच्येत बुद्धिगतं भोक्तृत्वं भेदाग्रहात् जीवे उपचर्यते इति, तदा वास्तविकभोगाभावात् संसारानुपलम्भप्रसङ्गः। यदि च भोक्तृत्वं मिथ्याभूतम् आरोपितं जीवस्येष्यते, तर्हि कर्तृत्वमपि तादृशं जीवेऽभ्युपगन्तुं शक्यत इति जीवानां शुद्धत्वहानिः।

अपि च मोक्षे एतैः आत्मा सच्चिद्रूपेणैवावतिष्ठत इति अङ्गीक्रियते। न तु ते तत्राऽऽगन्तुकानन्दं वा स्वरूपभूतानन्दं वा स्वीकुर्वन्ति। एवं मोक्षेच्छया न कश्चिदपि साङ्ख्यशास्त्रे प्रवर्तेत। यतः सुखे सुखसाधन एव च लोके प्रवृत्तिर्दृश्यते। न च मोक्षे जन्यसुखमभ्युपगन्तुं शक्यते। मोक्षस्यानित्यत्वापत्तेः।

साङ्ख्यास्तु प्रधानस्य जगत्कारणत्वं व्यवस्थापयन्तः प्रधानस्य सर्वज्ञत्वमपि प्रकारान्तरेण समर्थयन्ते। तथाहि—"सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्" इत्युक्तेः सत्त्वपरिणामः प्रकाशकं ज्ञानमिति[3]। तथा च तादृशज्ञानवत्त्वं सृष्टेः पूर्वमपि त्रिगुणात्मके प्रधाने संभवति। सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेन सृष्टेः प्राक् सर्वज्ञत्वस्यापि उपपत्तेः इति तन्न युक्तम्। यदि प्रलयावस्थायां गुणसाम्ये सति सत्त्वव्यपाश्रयानाश्रित्य सर्वज्ञत्वं प्रधानस्येष्येत, तर्हि तत्काले रजस्तमसोर्भावात् तत्र ज्ञानप्रतिबन्धकशक्तिसद्भावात् किञ्चिज्ज्ञत्वमुच्येत। तस्मात् प्रधानस्य न सर्वज्ञत्वोपपत्तिः। तत्तु "सदेव सोम्येदमग्र

---

१. सांख्यभूमिका—पृ० ७ प्रधानमेव जगतः कर्तृ।

२. तदेव पृ० ६—पुरुषस्याकर्तृत्वबुद्धेर्जडत्वञ्च।

३. साङ्ख्यभूमिका—सां० का० २३ सां० तत्त्वकौ० पृ० ३३८, सात्त्विकतामसानाह—धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यं सात्त्विकमेतद्रूपमिति। विपरीतं तु अन्यद्।

आसीत् एकमेवाद्वितीयम्"[१] इति श्रुतेः प्रधानवादस्य मूलमिच्छन्ति, तदयुक्तम् "सच्छब्दस्य सत्ता सामान्यपरत्वेन प्रधानपरत्वाभावात्।

अपि च "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय"[२] इति तदनन्तरपठितश्रुतौ ईक्षणमुक्तम्। ईक्षणञ्च चेतनधर्मो न प्रधाने युज्यते। यदि उच्येत प्रधानेऽपि गौणमीक्षणं भवितुमर्हति, गुणश्च नियतक्रमिककार्यकारित्वम्। यथा चेतनः कश्चित् देवदत्तः स्नात्वा भुक्त्वा रथेन गमिष्यामीति ईक्षित्वा अनन्तरं तथैव प्रवर्तते तथा प्रधानमपि तथैव महदाद्याकारेण नियमेन प्रवर्तते। तस्मात् चेतनवदुपचर्यते। एवं तत्तेजऐक्षत", "ता आप ऐक्षन्त[३]" इति अचेतनप्रत्यपाठवचनात् इति तत्तु न युक्तम्। यतः सत्पदार्थेऽनेन जीवेनात्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणाणीति जीवस्याऽत्मशब्देन ग्रहणं श्रूयते।

नहि अचेतनं प्रधानं चेतनं जीवमात्मशब्देन ब्रूयात्। आत्मा हि स्वरूपम्, तथा तत् सत्यं स आत्मा श्वेतकेतो" इत्युपरितन वाक्येन सत्-पदार्थ आत्मा इति तस्याऽऽत्मत्वमुक्त्वा "तत्त्वमसि" इति जीवं सदभेदेन श्रुतिर्बोधयति। तच्च न युक्तम्, चेतनस्याचेतनाभेदासंभवात्।

अपि च तत्रैवोपरि ग्रन्थे "तस्य तावदेव चिरं यावन्न-विमोक्ष्ये, अथ संपत्स्ये—इति[४]" सत्पदार्थनिष्ठस्य मोक्षस्याभिधानं कस्मिन्नपि मते न सङ्गच्छते। साङ्ख्यैरपि प्रधाननिष्ठस्य मोक्षस्यानभ्युपगमात् यत्तु प्रधानस्य श्रुतिप्रतिपाद्यत्वाग्रहेण साङ्ख्याः "आत्मानं रथिनं विद्धि" इति आरभ्य पठिते कठोपनिषत्प्रकरणे—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः, बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः[५]॥

इति काठकवाक्ये अव्यक्तशब्देन प्रधानमुच्यते। तस्मिन् प्रकरणे महदव्यक्तपुरुषाः पठ्यमानाः साङ्ख्यस्मृतिप्रसिद्धा एव प्रत्यभिज्ञायन्ते।

---

१. छां० उप० ६।२।१
२. छां० उप० ६।२।३
३. छां० उप० ६।२।४
४. छां० उप० ६।१४।२
५. कठ० उप० १।३।१०, ११

नाव्यक्तम् प्रधानमित्युच्यते—इति तदपि न साम्प्रतम्। न ह्यत्र साङ्ख्य-स्मृतिप्रसिद्धं त्रिगुणं स्वतन्त्रं कारणं प्रधानं प्रत्यभिज्ञायते।

अव्यक्तशब्दस्य सूक्ष्मे सुदुर्लक्ष्ये प्रयोगात् प्रकरणनिरूपणाच्चात्र "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु" इति पूर्ववाक्ये निर्दिष्टं शरीरमेव सूक्ष्मरूपेणाव्यक्तपदेन निर्दिश्यते प्रकरणात् परिशेषाच्च।

"आत्मानं रथिनं विद्धि" इत्यत्र प्रसिद्धा एवेन्द्रियादय उत्तरत्र परम-पददिदर्शयिषया प्रदर्श्यन्ते। तत्र चेन्द्रियादयः स्वशब्देनैव निर्दिष्टाः शरीरं तु निर्दिष्टम्। तस्मात् प्रकरणात् परिशेषाच्च महतः परमव्यक्तमित्यत्र पूर्वनिर्दिष्टशरीरमेव सूक्ष्मरूपेणाव्यक्तपदेन निर्दिश्यते—इति मन्तव्यम्। तस्मादनया "महतः परमव्यक्तमिति श्रुत्या सूक्ष्मशरीरस्य श्रुतिमत्त्वं न प्रधानस्य। अपि चात्र काठकप्रकरणे—अग्निजीवपरमात्मनामेव प्रश्नः कृतः तेषामेव च समाधानमुच्यते। अव्यक्तत्वं तेषामेव न तु अदृष्टस्य प्रधानस्य। अतो नेयं श्रुतिः प्रधानपरा। नापि "अजामेकां लोहितशुक्ल-कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः[1]॥" अत्र हि अजापदेन प्रधानमेवाभि-धीयते इति साङ्ख्याः। "लोहितशुक्लकृष्णामिति सत्त्वरजस्तमोगुणात्म-कानि बहूनि कार्यवस्तूनि सृजतीत्यर्थः। "अजो ह्येको जुषमाणः" इति संसारी जीवः प्रकृतिविकारभूतान् पदार्थान् भुञ्जान इत्यर्थः। "जहात्येना-मिति" च भुक्तभोगामजोऽन्यः प्रकृतिपुरुषविज्ञानवान् त्यजति मुञ्च-तीत्यर्थः।

अयं मन्त्रः श्वेताश्वेतरे पठ्यते। अत्रेदं मन्तव्यम्, अजाशब्दस्य मूल-प्रकृतिवाचकत्वं न निघण्ट्वादिषु दृश्यते। अतो न जायते इति व्युत्पत्ति-मङ्गीकृत्य कयाचित् कल्पनया अजात्वादिकं सम्पादनीयम्।

इत्थञ्च वैदिके सांख्यवाद एवात्राभिप्रेत इत्यत्र विशेषकारणं वक्तुं न शक्यते। उपनिषदुक्तभूतत्रयलक्षणा तेजोऽबन्नात्मिका अजा इति वक्तुं शक्यत्वात्। तत्र पृथिव्यप्तेजसां यदग्नेः रोहितं रूपं तत्तेजसः, यत् शुक्लं तदपाम्, यत् कृष्णं तत् पृथिव्याः इति उक्तेः त्रिरूपत्वं वक्तुं शक्यते, इतरत् समानम्। अपि च—श्वेताश्वरोपनिषदि "किं कारणं ब्रह्म" इत्युप-क्रम्य ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढामिति, यः

---

१. श्वेताश्वतर उप० ४-५ मन्त्रः

कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः[1]" इति ईश्वर-शक्तिरूपाया त्रिगुणात्मिकाया मायायाः प्रकृतत्वात् सैवाजाशब्देन ग्राह्या इति निश्चिनुमः।

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्[2]॥"

इतिवाक्यशेषोऽपि मायाग्रहणाऽनुकूलः।

न च प्रधानमाययोरभेदः प्रधानं हि स्वतन्त्रं महदादिरूपेण परिणमते इति साङ्ख्या आहुः।

माया तु ईश्वरशक्तिरूपा, ईश्वरपरतन्त्रा जगदध्यासरूपा इति अत्र महद्वैलक्षण्यदर्शनात्।

नापि "यस्मिन् पञ्च पञ्च जना आकाशश्च प्रतिष्ठितः[3]" इति बृहदारण्यके चतुर्थाध्यायगतवाक्यादपि प्रधानस्य श्रुतिप्रतिपाद्यत्वप्रत्याशा युक्ता। "यस्मिन् पञ्च पञ्च जनाः इत्यत्र पञ्च-पञ्चका निर्दिष्टाः। ते च पञ्चविंशतिः सम्पद्यन्ते। सांख्यमतेऽपि मूलप्रकृतिः, महदादय सप्त षोडशविकाराः पुरुषश्चेति पञ्चविंशतिपदार्थाः स्वीक्रियन्ते। श्रुतिरपि पञ्चविंशतितत्त्वान्याह। जनशब्दश्च जननसम्बन्धात्, तत्त्वानां तेषूपपद्यते इत्याहुः साङ्ख्याः।

तदपि निःसारं साङ्ख्याभिमतपञ्चविंशतितत्त्वानां मिलित्वा पञ्च-विंशतिसंख्याकत्वेऽपि एकैकस्मिन् पञ्चकेऽवान्तरधर्माभावात् न साङ्ख्य-तत्त्वानि अवबोद्धुं शक्यन्ते। नहि एकनिबन्धनमन्तरेण नानाभूतेषु तत्त्वेषु पञ्चत्वसङ्ख्या निविशते। एवं यद्यपि महाभूतानि पञ्च, तन्मात्राणि पञ्च, ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च, कर्मेन्द्रियाणि पञ्च, तथापि महदहङ्कारादिषु पञ्चसङ्ख्या दुरुपपादैव।

अपि च अतिरेकाच्च यस्मिन्निति निर्दिष्ट-ब्रह्मणा आकाशेन च सप्तविंशतिसङ्ख्यैवोक्तोपनिषद्वाक्ये प्रतीयते, न तु साङ्ख्योक्त-

---

१. श्वेताश्वेतरे १।३
२. श्वेताश्वतरे० ४।१०
३. बृह० आरण्य० उप० ४।४।१७

पञ्चविंशतिरेव। तस्मान्नेदं श्रुतिवाक्यम् साङ्ख्यानामनुकूलम्। अपि च वाक्यशेषगतप्राणादय एव पञ्च ग्राह्या इति।

योगमत-समीक्षा

योगमते तु यद्यपीश्वरः अभ्युपगम्यते, परन्तु ईश्वरप्रणिधानात् योगिनो योगाभ्यासे विघ्ननिवृत्तिमेव तस्य प्रयोजनम् वदन्ति, न तु ईश्वरस्य निमित्तकारणत्वमिति। एतन्मतेऽपि सृष्ट्यादेरनुपपत्तिः समाना[1]।

किञ्च—योगिनस्तु ज्ञानैश्वर्यशक्तयः क्रमेणोत्कृष्यमाणाः क्वचित् सर्वविषयज्ञानैश्वर्यशक्तिमति पर्यवस्यन्ति, तरतमभावेनोत्कृष्यमाणत्वात्। यथा बदरामलकबिल्वनारिकेलकूष्माण्डादिपरिणामिनि परममहत्-परिमाणे-आकाशादिगते पर्यवस्यन्ति इत्याहुः[2]। तत्रापि अनुपपत्तिः। ज्ञानैश्वर्यशक्तीनां काष्ठाप्राप्तिमात्रे सिद्धेऽपि लक्ष्यपदार्थज्ञानादिषु पर्यवसानासिद्धेः। कुतः सर्वज्ञत्वादिसिद्धिः।

अत्र योगिनस्तु संसारदशायामात्मा कर्तृत्वभोक्तृत्वानुसन्धातृत्वविशिष्टतया प्रतीयते। स एव कर्त्ता भोक्ता च न तु क्षणिकः, मोक्षदशायां तु सकलग्राह्यग्राहकभावलक्षणव्यवहाराभावात् चैतन्यमात्रमवशिष्यते। तच्चैतन्यं चितिमात्रत्वेनैव, नत्वात्मविषयकत्वेन, विषयग्रहणमेव चितेरूपम्। न स्वग्राहकत्वम्, अहमिति, इदमिति विषय-आत्मरूपवस्तुद्वयग्रहणं युगपत् कर्तुं न शक्यम्। अत आत्मा चिद्रूप एव। अतो मोक्षदशायां गुणेषु निवृत्तेषु चिन्मात्रमेवावतिष्टते। संसारदशायां तु प्रकृत्या सह तस्य यो भोग्यभोक्तृसम्बन्धोऽविवेकख्यातिमूलकः। तस्मिन् सति पुरुषार्थकर्तव्यताशक्तिसद्भावेन महदादि-परिणामानां तेन सह संयोगे सति आत्मा बुद्धौ प्रतिबिम्बते। चैतन्यावष्टब्ध-बुद्धिः कर्तृत्वभोक्तृत्वात्मना परिणमते। अयमेव संसार इति वृत्तिकारमतम्[3]।

इदं योगिनां मतमपि न समञ्जसम्। आत्मबहुत्वाभ्युपगमात्। न हि बहव आत्मान एकत्र संभवेयुः। बहूनामेकदेशवृत्तित्वविरोधाच्च। चैतन्य-

---

१. ईश्वरप्रणिधानाद्वा यो० सू० १।२३ वृत्तिः।

२. कलेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः पात० यो० सू० १।२४ वृत्तिः।

३. पात० सू० ४।३३ पृ० ७७, वृत्तिः

स्य चाऽऽत्मस्वरूपभूतस्यैकत्वात् आत्मभेदोऽनुपपन्नः। अपि च सांख्यवत् अन्तःकरणेनाऽत्मनोऽभेदग्रहात् आत्मनः कर्तृत्वमिति उपपादयन्ति। एवं स्वतः आत्मा शुद्ध इति अभ्युपगच्छन्ति। एवं सति आत्मनि कर्तृत्वमाध्यासिकमित्येवाभ्युपगन्तव्यम्। एवं भोक्तृत्वमपि अस्वाभाविकम्। आत्मनः सुखादिरूपेण परिणामाभ्युपगमे परिणामित्वेनाऽऽत्मनोऽनित्यत्वापातात्। केवलचैतन्यरूपेण स्थितिः मोक्ष इत्यभ्युपगमे सुखाभावेन मोक्षस्य काम्यत्वाभावात्। अपि च साङ्ख्यवत् एतेषां प्रधानस्य स्वयमेव परिणामे ईश्वरस्य कर्तृत्वानुपपत्तिः। अतः परिणामवादस्य च विचारो न युक्ति सहते। यतो हि यथा मृदादीनां घटादिरूपेण सम्पूर्णपरिणामे मृदभावस्तथा प्रधानस्य परिणामे प्रधानाभावप्रसङ्गः। एकदेशपरिणामे सावयवत्वात् अनित्यत्वापत्तिः। अतो विवर्तवाद एव निर्दोषः। तदुक्तं श्रुत्या "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"[1] इति। सूत्रञ्च "कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोषो वा"[2] इति विवर्तवादमुपोद्बलयति। श्रुतिविरोधस्तु मतद्वयेऽपि समानः। तप्यतापकभावाद्यनुपपत्तिश्च शारीरकभाष्ये विस्तरेणोच्यते। एकमद्वितीयं ब्रह्मैव जगदाकारेण विवर्तते इति श्रुतिसिद्धान्तस्याद्वैतवादे प्रदर्शितत्वात्।

मीमांसकमतसमीक्षा—

भट्टगुर्वोर्द्वयोर्मीमांसकयोर्मध्ये भाट्टमते आत्मा विभुः प्रतिदेहं भिन्न इति अङ्गीकृतम्। तथा ज्ञानेच्छाकृत्यादिगुणवान् सः। यागादिकर्तृत्वेन तस्य कृतिमत्त्वम्। कृतिश्चात्मधर्मः इत्यङ्गीचक्रुः भाट्टाः। अहंप्रत्ययग्राह्य आत्मेति वदन्ति। अहंप्रत्यये च कर्तृत्वकर्मत्वमात्मन एव। कर्तृत्वं प्रमातृत्वं गुणत्वं कर्मत्वं प्रमेयत्वं प्राधान्यमिति। तदुक्तं वार्तिके—

> अहं प्रत्यय-विज्ञेयः स्वयमात्मोपपद्यते।
> गन्तृत्वात् तस्य न ह्यात्मा गमनं प्रतिपद्यते॥[3]

स चात्मा स्वप्रकाशः। स्वप्रकाशत्वं च तस्य स्वेनेव गृह्यमाणत्वरूपम्। अतएव मामहं जानामीति सार्वजनीनः कर्तृकर्मभावेन आत्मनोऽनुभवः। न

---

१. छां० उप० ६।१।४

२. ब्रह्मसूत्रे २।१।२६

३. श्लोकवार्तिके पृ० सं० ५०७

तु वेदान्तिनामिव मिश्राणां स्वप्रकाशत्वं विवक्षितम्। तथात्वे सुषुप्तावपि आत्मनः प्रकाशत्वप्रसङ्गः। जडोबोधात्मकश्च आत्मा इति च प्रसिद्धिः। तत्र चेतनांशेन द्रष्टा, अचिदंशेन ज्ञानसुखादिरूपेण परिणामी, मां जानामीति प्रतीतिविषयश्च। किन्तु एवंविध ज्ञानस्वरूपाभ्युपगमो न सङ्गच्छते। आत्मनः प्रतिदेहं भेदासिद्धेः।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी[1] सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च॥

इति श्वेताश्वतरश्रुत्याऽभेदावगमात्। प्रतिशरीरं सुखदुःखादिभेदश्च तदुपाध्यन्तःकरणभेदादुपपद्यते।[2] अत आत्मा शुद्धः निर्गुणः, तस्य कर्तृत्वमौपाधिकमेव। अपि च भेदसिद्धौ सुखदुःखादिवैचित्र्यसिद्धिः ततसिद्धौ च भेदसिद्धिरिति अन्योऽन्याश्रयः। तस्मात् जडो बोधात्मकश्चेति न सिद्धम्।

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्[3]॥"

इति श्रुतिविरोधात्। अंशतो जडत्वे सर्वदा चेतनत्वप्रतीतिः, अहमस्मीति प्रतीतिविरोधः। ज्ञानसुखादिरूपेण परिणामित्वे चात्मनोऽनित्यत्वप्रसङ्गः। तथा च "न जायते म्रियते वा कदाचित् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः[4]।" इति श्रुतिस्मृतिविरोधश्च। कृतप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्चेति। तस्मादात्मा शुद्धः कर्तृत्वादिकं तु औपाधिकमिति श्रुतिमतमेव साधुः। तथा च श्रुतिः "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" इति।[5] तत्र मोक्षस्तु तेषां न्याससुधाकरमते—"अपहतात्मत्वादिगुणाष्टक[6] (विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः) विशिष्टतया ब्रह्मलोके वर्तनं सगुणात्मज्ञानस्य फलम्। निर्गुणात्मज्ञानस्य तु ब्रह्मभाव एव फलम्, "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवतीति" श्रुतेः।

---

१. श्वेताश्वतरे ६।११
२. बुद्ध्युपहितश्च तत्तत्तादात्म्यापन्न-स्वचिदाभास—सिद्धान्तबि० पृ० १२
३. श्वेताश्वतरे ६।१९
४. भग० गीता० २।२०
५. कठ० उप० १।३।४
६. छान्दोग्य ८।७।१

आत्मनि स्वाभाविकानन्दसत्त्वेऽपि संसारदशायां वायुक्षिप्तदीपवत् स न प्रकाशते, मोक्षदशायां तु प्रकाशत इति। पार्थसारथिमिश्रैस्तु मोक्षेऽपि मनसोऽनुवृत्त्यङ्गीकारेण मोक्षे आनन्द उपपाद्यते।[1] तत्तु मोक्षेऽमनस्कश्रुतिविरुद्धम्।

वार्तिककारस्तु "न ह्यभावात्मकं मुक्त्वा मोक्षनित्यत्वकारणम्"[2] इति वदन्तः, न्यायमतवत् दुःखनिवृत्तिरेव मोक्ष इत्याह।

तत्र दुःखनिवृत्तिमात्रत्वे पाषाणवत् जडत्वप्रसङ्गात् मोक्षार्थिना तत्कामनाविरहप्रसङ्गात्।

केचित्तु काम्यनिषिद्धयोरनाचरणात् नित्यकर्मणां विहितानामनुष्ठानात् संचितकर्मक्षयेन प्रारब्धस्योपभोगेन क्षयाच्च स्वभावसिद्धो मोक्षः। तत्र ज्ञानाद्यनपेक्षा इति। तदयुक्तम्—निषिद्धवर्जनस्य सर्वदा असंभवात्। "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन"[3] इति ज्ञानेनैव कर्मक्षयो भवति, न तु संचितकर्मक्षयो नित्यकर्मानुष्ठानाद् भवितुमर्हति। ज्ञानकर्मसमुच्चयस्य मोक्षसाधनत्वं भट्टाचार्यसम्मतम्। परन्तु स न सम्भवत्येव। अकर्त्रभोक्त्रात्मज्ञानस्य न कर्तृत्वभोक्तृत्वज्ञानपूर्वकत्वमधिकारविरोधात्।

मनसो मोक्षेऽनुवृत्तिश्च श्रुतिविरुद्धा। "अप्राणो ह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः[4]।" इति श्रुत्या आत्मनः स्वभावस्यामनस्कत्वस्य श्रुतिसिद्धेः।

प्राभाकरमतसमीक्षा—

प्राभाकरास्तु आत्मा जडः[5], तद्धर्मो ज्ञानं तच्च स्वप्रकाशम्। स्वप्रकाशत्वञ्च परप्रकाशाभावः, सुखदुःखादिश्चात्मधर्मः इत्याहुः। किन्तु ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वे आत्मज्ञानयोर्भेदस्य दुर्निरूपत्वात् आत्मैव स्वप्रकाश इति फलति। सुखदुःखादीनामात्मधर्मत्वे परिणामितया आत्मनोऽनित्य-

१. शास्त्रदीपिकायां मुक्तिस्वरूपकथने, पृ० सं० १३०
२. श्लोकवार्तिक सं० १०७, पृ० ४७५
३. भग० गीता ४।३७
४. मुण्ड० उप० २।१।२
५. आत्मा कर्ता भोक्ता जडोविभुरिति वैशेषिकस्तार्किकप्राभाकराः-सिद्धान्तबिन्दौ पृ० १२

त्वप्रसङ्गः[1]। एतेषां मते दुःखनिवृत्तिरेव मोक्षः[2]। तदपि दुर्लभम्, जडात्मकमोक्षस्यापुरुषार्थत्वात्। आनन्दस्य मोक्षदशायां श्रुतिसम्मतत्वात्।

आत्मन आनन्दरूपत्वात् मोक्षेऽपि आनन्दप्रकाश इति। एतेषां मतेऽपि प्रतिशरीरमात्मभेदः पूर्ववदेव निराकरणीयः। तथा च वेदान्तिमत एव स्वारसिकत्वं श्रुतियुक्त्युभयसिद्धम्। एवं शाबरभाष्यस्य व्याख्यायां बृहत्यां प्रभाकरमिश्रेणोक्तं यत् "अहङ्कारममकारौ अनात्मनि आत्माभिमानौ" इति, मृदितकषायाणामेव एतत् कथनीयम्। न कर्मसङ्गिनामिति उपरम्यते। आह च भगवान् द्वैपायनः "न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्" इति रहस्याधिकारे। तस्मान्न विवृतमत्र भगवता भाष्यकारेण वचनानुरोधात् नाज्ञानादिति"[3]। अत्रेदमाकूतम्—कर्मिणां तु अहंकारममकाराभ्याम् सह प्रतिपादितवैदिककर्मकाण्ड एवाधिकारः, न तूपनिषत्प्रतिपादितात्मज्ञाने। यद्यपि शाबरभाष्यकाराः वेदान्तप्रतिपादितात्मज्ञानिनः सन्ति तथापि सामान्यजनाभ्युदयाय नात्र नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्वरूपब्रह्मणः स्वरूपं विवृतवन्त इत्येव स्फुटम्।

शब्दाद्वैतवादमतमीमांसा—

वैयाकरणमतेऽपीदं विवेचनीयम्। अस्मिन् मते वाक्यपदीये ब्रह्मकाण्डे भर्तृहरिर्वदति—

> **अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्।**
> **विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः[4]॥ इति**

अनेन शब्दत्त्वमोङ्काररूपमेव ब्रह्मेति। तच्च जगद्रूपेण विवर्तत इति वदन् जगतो ब्रह्मविवर्तत्वमाह। विवर्तत्वञ्च समानसत्ताकत्त्वं वा भिन्नसत्ताकत्वं वेति किमपि सूचकं न दृश्यते उभयत्रापि परिणामे विवर्ते च विवर्तशब्दप्रयोगात्। तस्मादत्र ब्रह्मवादिसम्मतविवर्तवाद एवानेन विवक्षित इति निर्णेतुं न शक्यते। स च शब्दः ब्रह्मभावेन विवृत्तः सन्नर्थभावेनापि विवर्तते इति अभिप्रैति। तथा च सर्वजगदुपादानत्वं शब्दस्यैवेति वदति।

---

१. प्रकरणपञ्चिका पृ० ३३३

२. तत्रैव पृ० ३३४, पात० योग० सू० वृत्ति ४।३३ पृ० ७९

३. बृहती पृ० सं० २५६

४. वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्डे—श्लो० १

स्फोटात्मकः शब्द इति स्फोटवादिनां घण्टाघोषः। स च वर्णैश्चोच्चार्यमाणैरभिव्यङ्ग्यः। अभिव्यक्तश्च स्फोटोऽर्थं प्रतिपादयति इति च। तत्र सर्वैरेव दर्शनकारैः स्फोटनिराकरणं कृतमेव। पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यवर्णोः ज्ञातः सन् पदमभिव्यनक्ति, पदज्ञानात् पदार्थस्मृतिः इत्येवोपपत्तौ मध्येऽन्तर्गडुना स्फोटेन किं प्रयोजनम्? अन्त्यवर्णेन स्फोटोऽभिव्यज्यते स्फोटाच्चार्थप्रत्यय इति वदतां स्फोटस्य वैय्यर्थम्।

अपि च एतेषां जीवात्मभेदोऽभिमतः। स च लक्षणभेदाभावात् साधयितुं न शक्यते।

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते[1] ॥ इति।

श्लोकेनायं स्फोटशब्दप्रयोक्तुरात्मा तत्त्वज्ञः शब्दब्रह्मणा सायुज्यमश्नुते इति वदति। तथा च—

तस्माद् यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते[2] ॥ इति

श्लोकेन शब्दसंस्कारः परमात्मनः एव स्वरूपज्ञानम्, शब्द एव ब्रह्मेति तत्त्वज्ञः ब्रह्मभावमश्नुते इति वदति। तदपि न विचारसहम्। शब्दः श्रोत्रग्राह्यः, ब्रह्म तु इन्द्रियागोचरम्। अतः शब्दस्य ब्रह्मत्वमभ्युपगन्तुं न शक्यम्। अपि च प्रपञ्चमिथ्यात्वं विना जीवब्रह्मणोरैक्यमुपपादयितुं न शक्यते। विवर्तवादश्च यद्यपि शब्दमात्रेणोच्यते, तथापि वेदान्तवदुपपादनं तैर्न कृतम्। स्फोटस्य चाप्रामाणिकत्वमुक्तमेव। न्यायरक्षामणिकारास्तु स्फोटस्य चैतन्यमिति ब्रह्मवाद एवशब्दान्तरेणाङ्गीकृतः स्यादिति वदन्ति। अन्यभावव्यावृत्तश्चेति ब्रह्मसूत्रस्य प्रथमाध्यायगतस्याक्षराधिकरणस्यायमेवार्थ इति च निरूपयन्ति। सूत्रार्थस्तु यदि स्फोटस्य चैतन्यमित्यभ्युपगम्येत तर्हि तस्य ब्रह्मान्यत्वव्यावृत्तिरिति। तस्मात् वाक्यपदीयरीत्या शब्दाद्वैतं पृथगेवेति मन्तव्यम्। शब्दाद्वैतनिरासप्रकार इष्टसिद्धिकाराणां मतमिदानीमनूद्यते—

---

१. वा. ब्र. कां. श्लो० १३०

२. इष्टसिद्धिः—७६ श्लोक संख्या

शब्द-शब्देन लक्ष्यत्वे ब्रह्मणो नात्मतोदिता ।
भवेच्छब्द इयं बुद्धेर्नहि ब्रह्मेति धीस्तदा ॥

शब्दशब्देन ब्रह्मणो लक्ष्यत्वे शब्दस्य पराक्त्वेनैव प्रतीतेः प्रत्यक्त्वं ब्रह्मणो नोक्तं स्यात् । अज्ञं बोधयता शब्दस्याप्रत्यक्त्वात् अप्रत्यक्तैवोक्ता स्यात् शाखाचन्द्र इतिवत् । न ह्यज्ञः शब्दशब्दात् परागर्थत्वात् ब्रह्मणः प्रत्यक्त्वं प्रतिपत्तुं क्षमते । अन्यतोऽप्रतिपन्नत्वात् । नहि शाखाशब्दाददृष्ट-पूर्वस्यापि चन्द्रस्य प्रत्यक्त्वं प्रतीयते, किन्तु अप्रत्यक्त्वमेव, चन्द्रस्यात्मत्वा-प्रसिद्धेः । एवं ब्रह्मणोऽपि ज्ञानात् प्रागात्मत्वाप्रसिद्धेरनात्मत्वप्रसिद्धेश्च भ्रान्त्या शब्दो ब्रह्मेति उक्तेः प्रागेव ब्रह्म उक्तमज्ञो मन्यते न तु प्रत्यक् । आत्मशब्देनानुक्तत्वाच्च । अतोऽहं ब्रह्मेति धीर्न भवेत् । अनात्मा ब्रह्मेति वा धीर्भवेत् । तदा "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि श्रुतिविरोधः प्रत्यक्षविरोधश्च-स्यात् । आत्मादिशब्दैश्च ब्रह्मणो लक्ष्यत्वे न कश्चिद्विरोधः इत्युक्तम् । तस्मादात्माद्वैतमेव सिध्यति न शब्दाद्वैतं घटाद्वैतं वेति सिद्धम् । अतो वाचकात् शब्दात् वाच्याभेदे न वाच्यवाचके ते स्यातामिति युक्तमेवोक्त-मिति । ब्रह्मसिद्धिकारास्तु ब्रह्मसिद्धौ—

आनन्दमेकममृतमजं विज्ञानमक्षरम् ।
असर्वं सर्वमभयं नमस्यामः प्रजापतिम्[1] ॥

इति स्वीये श्लोके व्याकुर्वन्तः अक्षरपदेन ब्रह्मणः शब्दात्मकतामाह इत्याहुः । तत्र च शब्दात्मकस्यानन्दरूपत्वम्, चैतन्यरूपत्वञ्चाङ्गीकुर्वन्ति । ब्रह्मवादं च समर्थयन्ते ततश्च शब्दात्मकत्वमौपचारिकमेवेति मन्तव्यम् ।

औपाधिकभेदाभेदवादसमीक्षा

बहवो हि भेदाभेदवादिनः सन्ति । तत्र भास्कराचार्या आहुः सर्वं जगद्भिन्नाभिन्नम् । द्वयात्मकत्वेन प्रतिभासात्[2] । सन् घटः, सन् पटः, इतिसदात्मनोऽभेदो भासते । घटशकटादिरूपेणानेकत्वं च प्रतिभासते । अतः उभयात्मकत्वानुभवात् एकानेकात्मकं जगत् हेरम्बनरसिंहवदिति ।

चेद् उच्यते, हेरम्बनरसिंहादौ साध्य-वैकल्यात् । न खलु हेरम्बादिषु स्वरूपेणानेकात्मकत्वम् । विशिष्टावयवविन्यासेन एकद्रव्यत्वात् । अपि च

---

१. ब्रह्मसिद्धिः-ब्रह्मकाण्ड ।

२. ब्र० सू० भा० १।१।४ पृ० १८

"ब्रह्मैवेदं सर्वमित्यादि श्रुतेः, ब्रह्मणः सर्वात्मत्वावगमात् ब्रह्मात्मना सर्वमभिन्नम्, प्रमातृप्रमेयादिरूपेण भिन्नम्।" अन्यथा एकान्ताद्वैतपक्षे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधात् लौकिकव्यवहारलोपप्रसङ्गः। कर्मकाण्डानारम्भश्च प्रसज्येत। एकान्तभेदाभ्युपगमे ज्ञानकाण्डस्य निर्विषयत्वात् अनारम्भप्रसङ्गः। अतः प्रत्यक्षादेः प्रामाण्यसिद्धये लौकिकव्यवहारसिद्धये च ब्रह्मात्मना सर्वमभिन्नमिति कार्यकारणयोश्च लोके भेदाभेद इत्याहुः।

अत्रेदं चिन्त्यताम्—किं येन रूपेण सर्वस्य भेदः, तेनैवाभेदोऽपि उत रूपान्तरेण, तेनैव चेत् भेदाभेदरूपयोरनेकत्वात् वस्तुनो भेदो वा अभेदो वा स्यात् इति नोभयसिद्धिः। यदि रूपान्तरेण तर्हि तयोः रूपयोः रूपिणः सकाशात् अत्यन्तभेद एव उताभेद, उत भेदाभेदौ। आद्येतयोरन्योन्यं रूपरूपित्वमनुपपन्नम्। द्वितीये रूपिमात्रं वा स्यात् रूपमात्रं वा इति न रूपरूपित्वसिद्धिः। तृतीये—रूपयो रूपिणः सकाशादेव भेदाभेदौ तौ किमेकरूपेण भवतः उत उभाभ्याम्। एकेन चेत् कार्यकारणभेदाभेदयोरपि तथा स्यात्। द्वाभ्यां चेत् तयोरपि स्वकीयरूपिणः भिन्नाभिन्नत्वे सति अनवस्था स्यात्। अतो न्यायविरुद्धम्। यत् पुनः कर्मकाण्डानुपपत्तिरिति उक्तम्। तन्न समीचीनम्। भाष्यकारैः "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः[1]" इति सूत्रभाष्ये तत्परिहारस्य कृतत्वात्। यथा—"अभ्युपगम्य चेतं व्यावहारिकं भोक्तृभोग्यलक्षणं विभागं स्याल्लोकवदिति परिहारोऽभिहितः। न त्वयं विभागः परमार्थतोऽस्ति। यस्मात्तयोः कार्यकारणयोरनन्यत्वमवगम्यते। कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत्, कारणं परं ब्रह्म, तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते, इत्यादिना।

विशिष्टाद्वैतमतसमीक्षा

विशिष्टाद्वैतिनः "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"[2] इत्यादौ सर्वमित्यत्र सर्वशरीरकमिति अर्थं कृत्वा उपपादयन्ति। शरीरवाचकानां पदानां शरीरिलक्षकत्वं वाचकत्वं वा अङ्गीकुर्वन्ति। "यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरमिति"[3]

---

१. ब्रह्मसूत्र २।१।१४

२. छां० ३।१४।१

३. बृह० आ० ३।७।१५

"बृहदारण्यक-श्रुतेः"[1]। तन्न विचारसहम्। देवदत्तादिशब्दानां शरीर-विशिष्टवाचकत्वे यथा देवदत्तः सुखी, दुःखीत्यादिः आत्ममात्रविषय-व्यवहारः। एवं देवदत्तः कृशः, स्थूलः, सुन्दरः, इत्यादिशरीरमात्रविषय-व्यवहारो दृश्यते। अतः शब्दान्तरसामानाधिकरण्यानपेक्ष आत्ममात्रविष-यकः, शरीरमात्रविषयकश्च व्यवहारस्तथा पृथिव्यादौ व्यवहारादर्शनात् न पृथिव्यादीनां मुख्यशरीरत्वम्। अवयवसंथानविशेषविशिष्टशरीरवाचका-नामेव तद्विशिष्टात्मपरत्वव्युत्पत्तेः। अन्यथा घटो जगत्कर्ता इत्यपि विष्णु-विषयको मुख्यो व्यवहारः प्रसज्येत। अत्रेष्टापत्तौ सर्वेषामेव शब्दानां विष्णुवाचकत्वमेवाङ्गीक्रियताम्। किं प्रपञ्चस्य तच्छरीरत्वमङ्गीकृत्योक्त-व्युत्पत्तिकल्पनया प्रयोजनम् ?

एवञ्च पृथिव्यादौ ईश्वरशरीरत्वोपपत्तिः तन्नियम्यत्वगुणयोगात् न तु भोगायतनत्वरूपमुख्यशरीरमङ्गीकृत्य।

किञ्च न शरीरमात्रवाचकस्य शरीरिपरत्व-व्युत्पत्तिः कल्पयितुं शक्या। देह आत्मा, शरीरमात्मा इत्यादिप्रयोगस्य साधुताऽऽपत्तेः।

किञ्च—एतादृशकल्पने ये सर्वे लौकिकाः शब्दा त एव वैदिकाः, त एव च तेषामर्थाः, इति मीमांसकन्यायविरोधश्चास्मिन् पक्षे।

एवं तदनुगतो जीवाणुत्ववादश्च निराकृतः प्राचीनैः। आत्मानोऽणवः सन्तु, यदि विभुत्वे व्यवस्था न सुवचेति। एवम्—आत्मनामणुत्वे कदाचित् सर्वाङ्गीणसुखोदयस्य करशिरश्चरणाधिष्ठानस्य चानुपपत्तेः।

यदर्वाचीनकल्पनम्—उत्क्रान्तिगत्यागति-श्रवणान्यथानुपपत्या अणुर्ह्येवैष आत्माऽयं वा एते सिनीतः पुण्यं च पापं च" "बालाग्रशतभागस्य"[2] इत्यादि श्रुतिषु साक्षादणुत्व-श्रवणेन च अणव एव जीवाः। तेषामणुत्वेऽपि ज्ञान-सुखादीनां प्रदीपप्रभान्यायेन आश्रयातिरिक्तप्रदेशविशेषव्यापिगुणतया न सर्वाङ्गगीणसुखानुपलब्धिः, "द्रोणं बृहस्पतेर्भागम्" इत्यादि स्मृत्यनुरोधेन जीवानामंशत्वात् करशिरः चरणाद्याननुगतेषु सुखदुःखादियौगपद्यं काय-व्यूहगतेषु योगिनां भोगवैचित्र्यं चेति न काचिदनुपपत्तिः। एवं च जीवानामणुत्वेनासङ्करात् सुखदुःखादिव्यवस्था-विभोरीश्वरात् भेदश्च इति।

---

१. सू० १।१।१ श्रीभाष्यम् पृ० १४६
२. श्वेता० उप० ५।९

अत्रोक्तमद्वैतदीपिकायाम्—एवमपि कथं व्यवस्थासिद्धिः "चैत्रस्य पादे वेदना शिरसि सुखम्" इति स्वांशभेदगतसुखदुःखानुसंधानवत् मैत्रगतसुखदुःखानुसन्धानस्यापि दुर्वारत्वात् ।

ननु "अंशो ह्येष परमस्य", "ममैवांशो जीवलोके", अंशो नानाव्यपदेशात्" इति श्रुतिस्मृतिसूत्रैश्च जीवान्ब्रह्मांशा इति चेत् न ब्रह्मजीवयोर्भोगसांकर्यप्रसङ्गात् । तस्माज्जीवस्याणुत्वोपगमेन व्यवस्थोपपादनं न युक्तमिति । नापि तेन तस्येश्वरात् भेदसाधनं युक्तम् । 'उत्क्रान्त्यादिश्रवणात् साक्षादणुत्वश्रवणाच्च अणुर्जीवः' इति वदतः तव मते "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"। "अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानाम्", "गुहां प्रविष्टेपरमेपरार्ध्ये", इत्यादिश्रुतिषूपवेशश्रवणात् । "य एषोऽणिमा", एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा" इति श्रुतौ साक्षादणुत्वश्रवणाच्च परोऽप्यणुरेव सिध्येदिति कुतः परजीवयोर्विभुत्वाणुत्वाभ्यां भेदसिद्धिः ।

ननु "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः" ज्यायानन्तरिक्षात् ज्यायान् दिवः" इत्यादि श्रवणात् सर्वप्रपञ्चोपादानत्वाच्च परस्य सर्वगतत्वसिद्धेः तदणुत्वश्रुतयः उपासनार्था दुर्ग्रहत्वाभिप्राया वा नेयाः । प्रवेशश्रुतयश्च निर्वोढुं शक्या इति । "तमुत्क्रान्तं प्राणोऽनुक्रामति" इति प्राणाख्यबुद्ध्युत्क्रान्तेः प्रागेव जीवोत्क्रान्तिवचनात् । तथा "विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" इति नामरूपविमोक्षानन्तरमपि गतिश्रवणाच्चेति चेत्, नैतत् सारम्, "स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः" "घटसंवृतमाकाशं नीयमाने घटे यथा । घटो नीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपमः" इत्यादिश्रुतिषु जीवस्यापि विभुत्वश्रवणात् जीवो नाणुरिति सिद्धम्[1] । तत्राणुत्वादिश्रुतयः उपाधिपराः, विभुत्वादिश्रुतयश्च स्वरूपपरा इति मन्तव्यम् ।

जीवैकत्वपक्षे—श्रुतिः (प्रश्नोपनिषदि)—"इहैवान्तः शरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः, प्रभवन्ती"[2]त्यारभ्य पुरुषं प्रस्तुत्य "एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं

१. शास्त्रसिद्धान्तलेशसंग्रहः—पृ० २९३-तः ३३२ यावत्

२. प्रश्नोप० ६।२

गच्छन्ति" इत्यादिना तत्रैव नामरूपलयश्रवणात्[1]। पुरुष इति एकवचनात् एकवचनं ज्ञायते। "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते[2] ॥" इति अङ्गुष्ठमात्रजीवस्य ईश्वराभेद-श्रवणात् एकत्वमेव गम्यते, ईश्वरस्यैकत्वात्। कठवल्लीषु—"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके"[3] इति मरणानन्तरं जीवोऽस्ति वा न वेति पृष्ट्वा नचिकेतसः "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्"[4] इत्यत्र शुद्धजीवविषयत्वेन प्रश्नतात्पर्यं विवृतम्। तत् साधनत्वेन च "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति"[5] इत्यादिना ब्रह्मण एव स्वरूपमुक्तम्। अनेनापि जीवैकत्वमवगम्यते। एवम् "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः इत्यारभ्य "पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा पराः गतिः"[6] इत्यनेन तस्यैव प्राप्यत्वमुक्त्वा "एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते" इत्यनेन सर्वेषु भूतेषु गूढ एक इत्येकवचनेन बोधनादपि ब्रह्मणा जीवैकत्वमिति निश्चीयते।

"एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः" इति स्वाप्निक-पदार्थनिर्मातृत्वेनोक्तस्य जीवस्यैकवचनेनैकत्वमवगम्यते। एवं भगवद्-गीतायां—"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेष्वि"ति क्षेत्रभेदेऽपि जीवैकत्वस्य साक्षाद्बोधनाच्च एकएव जीवः। एवम् "अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः" इत्यत्र देहानां बहुवचनप्रयोगात् आत्मनः एकवचनप्रयोगाच्च "शरीरिणः" इत्यनेन जीवैकत्वमवगम्यते।

सशरीरमोक्षोऽपि "न ह वै[7]सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति", "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः" इति छान्दोग्येऽष्टमाध्यायोक्त-रीत्या मुक्तशरीराभ्युपगमे प्रियाप्रियसम्बन्धात् सुखदुःखप्रसक्तौ मोक्षेऽपि दुःखप्रसङ्गः। अतो नायं श्रुत्यभिमतः। अपि च ब्रह्मसूत्र-चतुर्थाध्याये चतुर्थपादे मोक्षनिरूपणप्रसङ्गे प्रथमं सूत्रम् "संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्" इति

---

१. प्रश्नोप० ६।५

२. कठ० उप० २।४।१२

३. कठ० उप० १।१।२०

४. कठ० उप० १।२।१४

५. कठ० उप० १।२।१५

६. कठ० उप० १।३।१०, ११

७. छा० उप० ५।८

स्वरूपाविर्भावमुक्त्वा "मुक्तः प्रतिज्ञानात्" इति द्वितीयसूत्रे आविर्भूतस्वरूपस्यैव मुक्तत्वमुक्तम्। तस्मान्नोपपद्यते सशरीरमोक्षः। मोक्षे शरीरसद्भावे स्वरूपाविर्भावासंभवात्। ब्रह्मलोकप्राप्तिरेव तु "जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणात् असन्निहितत्वाच्च" इति सूत्रेणोक्ता। न च तस्य मोक्षत्वमुक्तम्, "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्चेति" भगवता भोगसाम्यमभिहितम्। स च न मोक्षः, विषयभोगसद्भावे शरीरात्मभावस्यावश्यकत्वात्। अपि च तत्र "अनावृत्तिः शब्दादि"त्यनेनानावृत्तिमात्रमुक्तम्, न तु तस्य मोक्षत्वम्। तस्य मोक्षस्तु ब्रह्मलोके स्थित्वा ब्रह्म विचारयतः स्वरूपाविर्भावेनैव भवतीति। न तु सशरीरस्यैव मोक्ष इति सूच्यते।

द्वैतमतसमीक्षा—

द्वैतवादिनः जीवभेदसाधने "सत्यं भिदा, सत्यं भिदा, सत्यं भिदा" इति प्रसिद्धं वाक्यमुदाहरन्ति[1]। तत्तु प्रसिद्धश्रुतिस्मृतिष्वभावात् अनङ्गीकारार्हम्। यत्तु सुखदुःखादिवैचित्र्यात् जीवभेदानुमानम्, तत्र भेदे सिद्धे सुखदुःखादीनामितरव्यावृत्तत्वसिद्धिः, व्यावृत्तिसिद्धौ च भेदसिद्धिरिति अन्योन्याश्रयदोषः। यत्तु "द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ" इति मुण्डकश्रुतिमुदाहृत्य द्वित्वस्य भेदव्याप्तत्वात् जीवेश्वरभेदसिद्धिं वदन्ति। तस्यास्तु श्रुतार्थापत्त्या भेदसाधने[2] उपयोगः। अस्माकं तु "तत्त्वमसि" इति साक्षादेवाभेदश्रुतेः सत्त्वात् प्रबलया अनया श्रुत्या दुर्बलश्रुतार्थापत्तिर्बाधिता। जीवाणुत्वपक्षे घर्मकाले निदाघतप्तस्य गङ्गाजले निमग्नस्य एककाले सर्वाङ्गीणशैत्योपलब्धिर्बाधिता।

यदपि तैस्तामसानां जीवानां नैव मोक्षप्राप्तिः। "तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्" इति "आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि-जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ इति च गीतावाक्यम् तस्य मूलत्वेनाभ्युपगच्छन्ति।[3] तत्तु न समीचीनम्। "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत्तथार्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत् पश्यनृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवमित्यादिबृहदारण्यकश्रुतिविरुद्धत्वात्। मोक्षकाले

---

१. ब्र० सू० भा० १।२।४।१२

२. ब्र० सू० भा० १।२।४।१२

३. तदेव ३।४।४ अधिकरणम्

जीवानां तारतम्याङ्गीकारश्च[1] "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति" श्रुतिविरुद्धः, ब्रह्मण एकरूपत्वात्।

शुद्धाद्वैतवादसमीक्षा—

अस्मिन् मते—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" सूत्रे श्रीवल्लभाचार्याः अथ शब्दस्यारम्भार्थत्वमङ्गीकुर्वन्ति नत्वानन्तर्यार्थत्वम्। अनेन यः कश्चित् शमदमादिरहितोऽपि शास्त्रमध्येतुमधिकारीति सिध्यति, इत्यतः साधन-सम्पत्त्यानन्तर्यपक्षं च दूषयन्ति। तदिदं न शोभते। यः कश्चित् पठति चेत् बहिर्विषयासक्तस्य ज्ञानानुत्पादात् शास्त्रवैय्यर्थ्यम्। साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य तु परोक्षापरोक्षज्ञानोत्पत्तावपि लोकानुग्रहैकरसतया कृतार्थस्य प्रवचन-संभवात् उक्तशास्त्रोच्छेदो न संभवति। अत आनन्तर्याऽर्थत्वदूषणं न समञ्जसम्।

तत्तु समन्वयादित्यत्र समन्वयात् कार्येषु कारणतया अनुगमाद् ब्रह्मणः उपादानत्वसिद्धिरिति व्याख्या कृता। वस्तुतस्तु प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानु-परोधादिति सूत्रे ब्रह्मणः कारणत्वमुपादाननिमित्तत्वोभयरूपमिति वक्ष्य-माणत्वात् अस्य सूत्रस्यैव वैय्यर्थ्यप्रसङ्गः।

एतैः जीवाणुत्ववादः स्वीकृतः। स च द्वैतविशिष्टाद्वैतवादनिराकरणे-नात्रापि निराकृतप्रायः। ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्य परिणामवादमाश्रित्योप-पादने "कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा"[2] इति दूषणमुद्भाव्य "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्"[3] इति "आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि"[4] इति च सूत्राभ्यां विवर्तवादाश्रयेण समाहितं भवति। अस्मिन् मते तु शब्दमूलत्वा-दिति सूत्रांशेनार्वाचीनविकल्पविचारकुतर्कप्रमाणाभासशास्त्रकलितान्तःकरणैः दुराग्रहवादिभिरुक्तः अचिन्त्यशक्तिमत्त्वाद् ब्रह्मणः सर्वं समञ्जसमिति परिहारः। वस्तुतस्तु अचिन्त्यशक्तेरपि उपादानत्वाभावात् इदमयुक्तम्। स्वप्नप्रपञ्चो न सत्य इति "मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्"[5]

---

१. ब्र० सू० ४।४।१०।२१, २२ पृ०

२. ब्र० सू० २।१।२६

३. ब्र० सू० २।१।२७

४. तदेव २।१।२८

५. तदेव ३।२।३

इति सूत्रेण निर्धार्यते। वल्लभाचार्यस्तु स्वप्नप्रपञ्चः सत्य इत्याह। "मायामात्रं तु" इति सूत्रेण तु स्वतन्त्रसत्तायां प्रमाणं नास्तीति परिहृतम्। अस्मिन् मते भेदः सत्यः। किन्तु यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्" इति सूत्रेण यत्र यत्र भेदस्तत्र तत्र विकार इति न्यायेन ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य धर्मस्यानित्यत्वात् सर्वस्य विकारत्वात् जीवे अनादित्वमपि न सिध्यतीति तन्निरस्यते।

स्वाभाविक-भिन्नाभिन्नवादसमीक्षा—

निम्बार्काचार्येण कृतमात्मतत्त्वोपपादनमपि नाङ्गीकारमर्हति। तत्र "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"[1] इति सूत्रे धर्ममीमांसाशास्त्राध्ययनेन निश्चितकर्मतत्प्रकारतत् फलविषयकज्ञानवता कर्मफलस्य सान्तत्वसातिशयत्वनिश्चयवता मुमुक्षुणा ब्रह्मज्ञानजन्यानन्तनिरतिशयफलेच्छया ब्रह्मणि ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या इति व्याख्या कृता। तत्र ब्रह्मशब्दस्य रमाकान्तपुरुषोत्तमोऽभिधेय इति उक्तम्, तत् दुरुपपादम् "ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्" इति शिवस्यापि ब्रह्मशब्दाभिधेयत्वात्। तत्रैव "नमस्ताराय" इति रुद्राध्यायगतवाक्येन शिवस्य प्रणवार्थत्वबोधनात्।

"अवस्थितेरिति"[2] सूत्रव्याख्यानावसरे ते परमात्मनो नियन्तृत्वं जीवस्य नियम्यत्वं प्रतिपाद्य जीवात्मनि स्वनियम्ये परमात्मनो नियन्तृत्वेनावस्थितिरिति व्याख्याय जीवात्मपरमात्मनोर्भेदमुपपादयन्ति। एवमुत्क्रमिष्यत एवं भावात् इति पूर्वसूत्रव्याख्यानेऽपि शरीरादुत्क्रमणानन्तरं जीवात्मनो ब्रह्मसहभावमेव प्रतिपाद्य जीवात्मपरमात्मनोर्भेदं विवृण्वन्ति। तन्न समीचीनम्, श्रुतौ एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानात् परमात्मैव जीवात्मभावेनावतिष्ठते—इति "अवस्थितेः" सूत्राभिप्रायः समुचितः। न तु तत्र जीवात्मपरमात्मनोर्नियम्यनियामकत्वप्रदर्शनं सूत्राभिप्रेतमिति स्वीकार्यम्।

अपि च "आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि"[3] इति सूत्रव्याख्याने क्षेत्रज्ञवत् ब्रह्मण्यपि विकृतिः प्रदर्शिता। तदपि "निष्कलं निष्क्रियमिति" श्रुतिविरुद्धम्।

---

१. ब्र० सू० १।१।१

२. ब्र० सू० १।४।२२

३. ब्र० सू० २।१।२७

एतन्मते जीवोऽणुस्तस्य प्रभा च व्यापिनीत्यभिप्रायः। तत्तु अणुवाद-निराकरणेन निराकृतम्। एवञ्च "मायामात्रं तु कात्स्न्येनानभिव्यक्त-स्वरूपत्वात्" इति सूत्रे मायाशब्दस्याश्चर्यं सत्यमित्यर्थः कृतस्तैः, न मिथ्या इत्यर्थः स्वीकृतः। तदपि न शोभते। मायाशब्दस्य मिथ्याभूतार्थे एव प्रयोगात्। अतो मायामात्रमिति शब्दोऽपारमार्थिकार्थ इति। तदुक्तं महाभारते—

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद॥
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि।
मयैतत् कथितं सम्यक् तत्र मूर्तिचतुष्टयम्॥[1]

इति नारदं प्रति भगवता विश्वरूपप्रदर्शनानन्तरमुक्तेन मायाशब्दस्य मिथ्यात्वावगमात्। अतएव "मायामात्रमिदं सूत्रं मिथ्यार्थपरतयैव सिद्धान्तितम्।

शैवविशिष्टाद्वैतभाष्यसमीक्षा—

श्रीकण्ठाचार्यविरचितं शैव-भाष्यं पुराणतमविशिष्टाद्वैतपरतया उपनिषद्वाक्यानि योजयन्ति। रामानुजाचार्यास्तूपनिषद्वाक्यानि विशिष्टाद्वैत-परतया योजयन्तः उपनिषदो विष्णुसर्वोत्तमपरतया व्याचचक्षिरे। इदमपि रामानुजभाष्ये निरूपितं यत् भगवद्-बोधायनविरचितां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्र-वृत्तिं प्राचीनाचार्या संचिक्षिपुः। तदनुसारेण ब्रह्मसूत्राणि व्याख्यायन्ते इति वदन्तः श्रीरामानुजाचार्याः प्राचीनानां संक्षिप्तविशिष्टाद्वैतपरां व्याख्यां स्वग्रन्थमूलत्वेनाङ्गीकुर्वन्ति। स च सङ्क्षिप्तग्रन्थः श्रीकण्ठभाष्यमेवेति बहूनां पण्डितनामाशयः। तत्र च वैष्णवविशिष्टाद्वैते पूर्वोक्ता या अनुपपत्तयः शैवविशिष्टाद्वैतेऽपि ताः प्रसज्यन्ते। अतः पृथक् परीक्षणाय न प्रयत्यते। यतो हि तत्र शिवविष्णुरिति नाममात्रभेदो दृश्यते इति।

वीरशैवविशिष्टाद्वैतभाष्यसमीक्षा—

वीरशैवमते तु प्रपञ्चः सत्यः। जीवास्तु प्रतिशरीरं भिन्नाः। अस्य "शक्तिविशेषाद्वैतं विशिष्टाद्वैत"मिति वा नामधेयम्। तैर्जीवस्याणुत्वमङ्गी-क्रियते। मोक्षकाले जीवाः शिवरूपेण परिणमन्ते। यथा लोहः स्वर्णात्मना पारसमणिना अन्यथाभावं प्रतिपद्यते तद्वदिति ते वदन्ति। किन्तु एतदपि असारम्—मोक्षस्य जन्यत्वेऽनित्यत्वापत्तेः। अन्यत् सर्वं द्वैतवादिमतमिव निराकरणीयमस्तीति तत्रापि पृथक् प्रयासापेक्षां न मन्ये।

---

१. म० भा० शान्तिपर्व अ० ३३९ श्लो० ४५।४६

अविभागाद्वैतमतसमीक्षा—

एवं विज्ञानभिक्षुमतमपि अनुपपाद्यमेव। ते च प्रपञ्चमिथ्यात्वं नाङ्गीकुर्वन्ति। "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः"[1] इति सूत्रमन्यथा व्याचक्षते। विवर्तप्रतिपादकं "कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा"[2] "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्"[3] इति सूत्रद्वयम् न विवर्ततया स व्याचष्टे। एवं "ज्ञोऽत एव" इति सूत्रे आत्मा ज्ञाता ज्ञानकर्ता इति व्याचष्टे। तेन च ब्रह्मैक्यं दुरुपपादम्। एवं "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च"[4] इति सूत्रमपि जीवब्रह्मैक्यपरतया न व्याचष्टे। अपि तु यथा साङ्ख्यमतेऽन्तःकरणाद्भिन्नोऽपि जीवः तस्याऽऽत्मतया अन्तःकरणस्याहमिति प्रमाविषयः, अन्तर्यामितया च जीवादिलयाद्याधारतया च ब्रह्मैव सर्वेषां पारमार्थिकात्मा इति वदन्ति। किन्तु अविभागाद्वैतवादे अविभागप्रतिपादनेन तत्र जीवब्रह्मणोः जगद्ब्रह्मणोर्वा भेदाङ्गीकारात् इतरभेदवादिमतनिराकरणेनैव तदपि निराकृतं भवतीति न पृथक् प्रयस्यतेऽस्माभिः।

अचिन्त्यभेदाभेदवादसमीक्षा

अचिन्त्यभेदाभेदवादिमते जीवनानात्वं जीवेश्वरयोर्भेदः जीवाणुत्वमित्यद्वैतवादिमते इवाभ्युपगम्यन्ते। अत एतेषां मतेऽपि "नेह नानास्ति किञ्चन"[5], "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यादिश्रुतिविरोधः। जीवेश्वरभेदोऽपि "तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" "अयमात्मा ब्रह्मे"त्यादिश्रुतिविरुद्धः। अत एतेषां जीवाणुत्ववादो द्वैतमतवत् निराकर्तव्यः। अद्वैतत्वं चैतैश्चेतनत्वेन जात्या जीवानां परस्परमीश्वरेण च साम्यरूपमङ्गीक्रियते। परन्तु व्यक्तयो भिन्ना एव इति। अतो न मुख्यो अद्वैतवादस्तेषाम्। अंशो नाना व्यपदेशात्......" इत्यस्य सूत्रस्येश्वराद् भिन्नस्तदनुयातीति अर्थः कृतः। जीवब्रह्मणोः स्रष्टृत्वसृज्यत्वं नियन्तृत्वा-

---

१. ब्र० सू० २।१।१४

२. तदेव २।१।२६

३. तदेव २।१।२७

४. ब्र० सू० ४।१।३

५. ब्र० सू० विभुचैतन्यमीश्वरोऽणुचैतन्यं तु जीवः। नित्यज्ञानादिगुणकत्वमस्मदर्थंत्वञ्चोभयत्र। एकोऽपि बहुभावेनाभिन्नोऽपि गुणगुणिभावेन च पृ० २

दिना भेदश्च स्थिरीकृतः—"ब्रह्मदासा ब्रह्मदाशा" इति च ब्रह्मव्याप्यत्वात्, ब्रह्माधीनत्वात् इति विवृण्वन्ति। एतन्मतमपि द्वैतवादिमतमिवैव द्रष्टव्यम्।

अद्वैतवादसमीक्षा

उपनिषद्ब्रह्मसूत्रभगवद्गीतासु प्रसिद्धं श्रीगौडपादश्रीशङ्कराचार्य-सुरेश्वराचार्यादि-कृतमर्यादमिदानीमद्वैतदर्शनं निरूप्यते। तदुक्तं श्रुत्या—"सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति"[1] "अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः"[2] अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते"[3] इत्यादि-श्रुतिप्रसिद्धमद्वैतमतं निरुपाधिकं द्वैतसामान्याभावोपलक्षितं ब्रह्मेवा-भिधत्ते।

तत्र द्वैतमिथ्यात्वं जीवब्रह्मणोरभेदश्चावश्यकत्वात् निरुपणीयौ श्रुति-सूत्रादिसिद्धौ च। श्रुतिस्तावत् "वाचारम्भणविकारो नामधेयं मृत्तिका इत्येव सत्यम्[4]—"इति घटादिदृष्टान्तेन मृद्व्यतिरेकेण घटादेरसत्त्वमाश्रि-त्य मिथ्यात्वमुपपादयता "एकविज्ञानेन सर्वं विदितं भवतीति[5]........" अनेनैव प्रकारेण समर्थयन्त्या श्रुत्या प्रसिद्धम्। वाचारम्भणश्रुतेरयमर्थः—इयं हि श्रुतिः "उत तमादेशमप्राक्ष्यः येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति[6]........" इति प्रश्ने उत्तररूपेण प्रवृत्ता। एकस्मिन् विज्ञाते—अन्यस्य कथं विज्ञानं भवतीति चेत्, उच्यते—उपादानविज्ञानेनोपादेयं सर्वं ज्ञातं भवतीति, उपादेयस्योपादानव्यतिरेकेणाभावात्। अयमर्थो विकारो वाचारम्भणम्, वाचा केवलमारभ्यते घट इति, शराव इति च, न तु वस्तु अस्ति तत्। एतेन मृद्व्यतिरेकेण घटादीनामभावे घटशरीरादिपदानां का गतिः? तत् कृतस्य जलाहरणादिकार्यस्य व्यवहारस्य किमालम्बनमिति शङ्कायाः समाधानमुच्यते। केवलं व्यवहारमात्रमेतेषां न तु वस्तुतः सत्ता। मृत्तिकेत्येव सत्यमिति चोपादानसत्यत्वे तात्पर्यं, न तु मृत्तिकायाः

---

१. बृहदारण्यक ४।३।३२

२. मां० उप० ७

३. अद्वैतोपनिषत् १८

४. छान्दोग्य० उप० ६।१।४

५. ,, ६।१।६

६. ,, ६।१।१

सत्यत्वं शास्त्रतात्पर्यविषयः। अतः 'एव' इति शब्दस्य सार्थकता। उपादानरूपेण सत्यत्वं न तु स्वरूपेण। अतः प्रपञ्चमिथ्यात्वं श्रुतिसिद्धम्। जीवब्रह्मणोरैक्याभावे श्रुत्युक्तद्वैतपदार्थः बाध्यते। अतः जीवब्रह्मणोरभेदोऽङ्गीकर्तव्यः। स च "अनेन जीवेनात्मना अनुप्रविश्य......[१]" इति श्रुत्या तथा "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्......[२] "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वा अभिवदन्यदास्ते......[३] इति श्रुत्या च ब्रह्मण एव जीवरूपेण प्रवेशश्रवणात् "तत्त्वमसि"[४] अहं ब्रह्मास्मि[५] "अयमात्मा[६] ब्रह्म" इत्यादि श्रुत्या कण्ठतश्च सिद्ध्यति।

न च जीवानां परस्परं सुखदुःखादिवैचित्र्यात् भेदसिद्धौ जीवब्रह्मणोरभेदो दुर्वच इति वाच्यम्। वैचित्र्यसिद्धौ भेदसिद्धिः, भेदसिद्धौ वैचित्र्यसिद्धिरिति अन्योन्याश्रयात्। न च सर्वे आत्मानः समर्पिता इति श्रुत्या "न त्वेवाहं जातु नासं न त्वन्नेमे जनाधिपाः......[७] इति प्रत्यक्षेण च जीवभेदसिद्धिरिति वाच्यम्, तासां श्रुतिस्मृतीनां प्रत्यक्षसिद्धकाल्पनिकभेदानुवादत्वात्। परमार्थतस्तु न भेदः। इदञ्च "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः......[८] इति एकदेवपरेण वाक्येन एकात्मसिद्धेः। तथा च "अन्तवत इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः"[९] इति भगवद्गीतायां शरीरभेदेऽपि आत्मन एकवचनेन एकत्वबोधनात्। एवं "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्......"[१०] इत्यादिप्रवेशवाक्यैः एकस्यैवात्मनः सर्वशरीरेषु प्रवेशबोधनात्। "न त्वेवाहमि"त्यादौ प्रत्यक्षसिद्धभेदमनूद्य नाशाभावबोधनात् न तत्र जीवभेदे तात्पर्यम्। एवं "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" एको बहूनां यो विदधाति कामान्"[११]

---

१. छां० उप० ६।३।२
२. तैत्तिरी २।६
३. महावा० ३
४. छां० उप० ६।८।७
५. बृह० उप० १।४।१०,१०
६. मां० उप० २।
७. भग० गी० २।१२
८. श्वेताश्वतर उप० ६।११
९. भग० गीता० २।१८
१०. तैत्तिरी उप० २।६
११. कठ० उप० ५।१३

इति काठकवाक्यमपि कर्मफलस्य च काल्पनिकभेदवत्सु जीवेष्वेव संभवात् न जीवे बहुत्वप्रसक्तिः। अत्र च केवलमनुवादमात्रम्। प्रपञ्चस्य सत्यत्वं 'सन् घटः सन् पटः' इत्यादिप्रत्यक्षेण बोध्यते इति द्वैतिनः। तदपि नास्ति अधिष्ठानगतसत्यत्वस्यैव तत्रानुवादात्।

यद्वा व्यवहारकालबाध्यत्वरूपस्य व्यावहारिकसत्त्वस्य तत्र बोधनात्। यद्वा प्रत्यक्षस्य संदिग्धप्रमाणभावस्य यथा चन्द्रेऽल्पपरिमाणत्वज्ञानस्य जले गन्धवत्त्वादिप्रत्यक्षस्य च संदिग्धप्रमाणभावस्य निश्चितप्रामाण्यकेन श्रुतिवाक्येन बाधनात्। न च प्रत्यक्षस्य ज्येष्ठत्वात् श्रुतिं प्रति उपजीव्यत्वात् प्रत्यक्षेणैव श्रुतिबाधः, श्रुतिवाक्यस्य शब्दप्रमाणत्वेन शब्दस्य लक्षणादिवृत्तिसहिष्णुतया दुर्बलत्वाच्चेति वाच्यम्। यतः श्रुतेः शब्दस्वरूपमात्रमुपजीव्यम्, न तु तद्गतं सत्यत्वम्। असत्येनापि पदेन "नागः नगः" इत्यादिनार्थभेदस्यावगम्यमानत्वात्। नाग इत्यत्र दैर्घ्यस्य ध्वनिधर्मत्वेन तद्विशिष्टवर्णानामारोपितदीर्घत्वविशिष्टत्वेनारोपितत्वात्। अतश्च यदुपजीव्यं वर्णस्वरूपं तन्न बाध्यते। सत्यत्वं तु अनुपजीव्यम्। नाग इत्यादिषु आरोपितदीर्घत्वादिविशिष्टवर्णानामर्थबोधकत्वस्योक्तत्वात्।

यदनुपजीव्यं वर्णेषु सत्यत्वं तस्यैव च बाध्यमानत्वात्। ज्येष्ठत्वञ्च बाध्यत्वे तन्त्रम्। यथा इदं रजतमिति ज्ञानं नेदं रजतमिति पश्चाद्भाविबाधनिश्चयेन बाध्यते। तदुक्तं भट्टपादैः—

पूर्वात् परबलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयताम्।
अन्योऽन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत्[1]॥ इति

इत्थञ्च प्रत्यक्षविरोधाभावात् प्रपञ्चमिथ्यात्वं सिद्धं भवति। प्रपञ्चमिथ्यात्वे अनुमानमपि प्राचीनैरुक्तमेव। "प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् शुक्तिरुप्यवत्, स्वाप्निकपदार्थवद् वा। ब्रह्मसूत्राणि प्रपञ्चमिथ्यात्वं स्पष्टं वदन्ति। तथा हि "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः"[2] आरम्भणशब्दस्य "वाचारम्भणो विकारो नामधेयम्"[3] इति पूर्वं व्याख्यातमेवास्माभिः। अन्यच्च "कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा"[4] इति सूत्रमपि प्रपञ्च-

---

१. मी० द० बृहट्टीका, १
२. ब्र० सू० २,१,१४
३. छां० उप० ६,१,४
४. छां० उप० २,१,२६

स्य मिथ्यात्वं दर्शयति। तथाहि ब्रह्मसम्पूर्णप्रपञ्चाकारेणैव परिणमते उत एकदेशेन। नाद्यः सर्वांशे परिणतौ प्रपञ्चव्यतिरेकेण ब्रह्मणोऽभावात् ब्रह्मजिज्ञासाया अनुपपत्तेः। प्रपञ्चदर्शनेनैव ब्रह्मणो दृष्टत्वात् ब्रह्मजिज्ञासावैय्यर्थ्याच्च। न द्वितीयः ब्रह्मणः सावयवत्वे ''यत् सावयवं तदनित्यमिति व्याप्त्या ब्रह्मणोऽपि विनाशप्रसङ्गः। ततश्च ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म''[1] इति श्रुतिसिद्धमनन्तत्वन्नोपपद्यते। अतो ब्रह्मणो जगदुपादानत्वानुपपत्तिः इति पूर्वपक्षे प्राप्ते—''श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्''[2] ''आत्मनि चैवं विचित्राश्च[3] हि'', इति सूत्राभ्यां सिद्धान्तो वर्ण्यते। अयं भावः—न वयं ब्रह्मणः'' परिणामित्वं ब्रूमः, किन्तु विवर्तोपादानत्वम्। तच्च तदाकारपरिणास्यज्ञानाधिष्ठानम्। विवर्तत्वञ्चोपादानविषमसत्ताकोऽन्यथाभावः। इदञ्च स्वप्ने स्वाप्निकपदार्थेषु सिद्धम्। स्वप्नद्रष्टृपुरुषस्यान्यथाभावं विना तस्मिन् विचित्रसृष्टिदर्शनात्।

इत्थञ्च—''श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्''[4] इति सूत्रं शब्दमूलं ब्रह्म यथाशब्दं विवर्ततया अङ्गीकार्यमित्यर्थकं ज्ञेयम्। तत्रैव ''आत्मनि चैवं विचित्राश्च[5] हि'' इति स्वप्नपदार्थः दृष्टान्ततया उक्तः। स्वाप्नपदार्थस्य मिथ्यात्वञ्च मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्''[6] इति सूत्रे प्रतिपाद्यते। जीवब्रह्मणोरैक्यविषये ब्रह्मसूत्रमपि प्रमाणम्। तथा च ''आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति[7] च'' इति सूत्रे ब्रह्म आत्मत्वेनैव ज्ञातव्यम्। ''तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्''[8] इत्यादित्यपुरुषं प्रकृत्यैतरेयिणः समामनन्ति। ''त्वं वाऽहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि''[9] इति जाबालश्रुतिः। ''त्वं वाऽहमस्मि भगवो देवतेहं वै त्वमसि''[10] इति स्वस्मादभेदेनैव ब्रह्म द्रष्टव्यम्—

१. तैत्तिरी० २,१
२. ब्र० सू० २,१,२७
३. ब्र० सू० २,१,२८
४. ब्र० सू० २,१,२७
५. ब्र० सू० २,१,२८
६. ब्र० सू० ३,२,३
७. ब्र० सू० ४,१,३
८. ब्र० सू० शां० भा० ३,३,३७
९ ब्र० सू० भा० ३,३,३७
१०. वाराहोपनिषत् २,३४

इति ब्रवीति। ग्राहयन्ति च श्रुतिवाक्यानि जीवब्रह्मणोरभेदं "यथा तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, "अयमात्मा ब्रह्म" इति।

सगुणनिर्गुणयोर्व्यवस्था—

ननु "मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोवाक्यनादरः[1] सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः, सर्वस्याधिपतिः, स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपालः"[2] इत्याद्याः सगुणश्रुतयः सन्ति। "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति[3] धीराः"। "अदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थमिति"[4] "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यमनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते"[5] "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नातीति"[6] इत्यादयो निर्गुणश्रुतयः। तत्रैवंव्यवस्थाः सगुणश्रुतयः "उपासीत", इत्यादिविधिपरत्वात् कल्पितैरर्थैरपि उपासनसंभवात्, न परमार्थतः गुणसत्त्वपराः। निर्गुणश्रुतयस्तु केवलं वस्तुमात्रप्रतिपादनपरत्वात् स्वार्थतात्पर्यका इति व्यवस्था। अपि च निर्गुणश्रुतीनां तत्त्वपरत्वमिति न मन्यते तर्हि ताः श्रुतयो व्यर्था भवेयुः। परन्तु सगुणश्रुतीनां न वैयर्थ्यप्रसङ्गः। तासामुपासनायां प्रयोजनं भवत्येव। अतो निर्गुण-श्रुतयस्तत्त्वपरा इति मन्तव्यम्। तदेवं हि व्यवस्था "अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्"[7] इति सूत्रे बादरायणाचार्यैरेव प्रतिपादिता। अयमर्थः—न ब्रह्म सगुणं निर्गुणञ्च उभयरूपमिति अवगन्तव्यम्। किन्तु

१. छां० उप० ३,१४,२
२. ब्र० आ० ४,४,२२
३. मुण्ड० उप० १,६
४. मां० ७
५. कठ० उप० ३,१५
६. बृह० आर० ३,८,८
७. ब्र० सू० ३,२,१४

अरूपवदेव— निर्गुणमेव प्रतिपत्तव्यमिति। तत्प्रधानत्वात्—तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य प्रधानत्वात् तात्पर्यविषयत्वादिति।

देवताधिकरणे तु प्रमाणान्तरविरोधाविरोधयोस्सतोः वेदार्थः यथाश्रुति ग्रहीतव्यः। यद्यपि देवताविग्रहादौ इति नियमः। अत्र निर्गुणविरोधसत्त्वात् सगुणश्रुतेरन्यपरत्वात् (उपासनाविधिपरत्वात्) न स्वार्थे तात्पर्यमित्यर्थः। एतेन सगुणनिर्गुणश्रुत्योर्मध्ये सगुणश्रुत्यनुसारेण निर्गुणश्रुतेः हेयगुणरहितत्वमर्थ इति वदन्तः रामानुजीयाः प्रत्युक्ताः।

जीवब्रह्मणोरभेदः श्रुतिस्मृत्यनुमानलौकिकप्रमाणकः। तथाहि श्रुतिः— "अनेन जीवेनात्मना अनुप्रविश्य"[१], "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"[२] "नामानि रूपाणि कृत्वाभिवदन्यदास्ते....."[३] इत्यादयः प्रवेशश्रुतयः, तथा "प्रज्ञानं ब्रह्म"[४], "अहं ब्रह्मास्मि"[५], "तत्त्वमसि"[६], "अयमात्मा[७] ब्रह्म" इत्यादयः श्रुतयः साक्षादभेदं वदन्ति। स्मृतिश्च "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। "वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः" इति स्मृतयः[८], ब्रह्मसूत्राणि चाभेदं वदन्ति। तथाहि "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्"[९] इति सूत्रम्, तत्र प्रतर्दनाधिकरणे—इन्द्रेण प्रतर्दनं प्रति उपदेशः कृतः। "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं माममृतमुपास्स्व", "स एष आत्माऽजरोऽमरोऽमृत" इति च। तत्र प्राणशब्दार्थः इन्द्रो न भवति, किन्तु ब्रह्मैवेति निर्धारितम्। एवं सति प्राणोऽस्मीति अहङ्कारवादेनेन्द्रेणोपदेशः कथं सङ्गच्छते—इतिशङ्कायां तन्निराकरणसूत्रं "शास्त्रदृष्ट्या इति"। शास्त्रजन्या दृष्टिः शास्त्रदृष्टिरिति। शास्त्रञ्च "तत्त्वमसि" इति। तज्जन्यं ज्ञानमहं ब्रह्मास्मीति। तादृशज्ञानेन विशिष्ट इन्द्रः प्रतर्दनं प्रति ब्रह्म विजानीहि इत्यनुक्त्वा मामेव

---

१. छां० उप० ६,३,२

२. तैत्ति० २,६

३. महा० वा० ३

४. ऐत० उप० ३,५,३

५. बृह० आर० १,४,१०

६. छा० ६,८,७

७. मां० उप० २

८. भग० गीता ७,१९

९. ब्रह्मसूत्र १,१,३०

विजानोहीति उक्तवान्, अनेन जीवब्रह्मैक्यं सूत्रेण प्रतिपाद्यं भवति[१]। तथा "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च[२]" इति सूत्रम्। तत्र ईश्वरः परमात्मा कथं ज्ञातव्यः ? भेदेन वा अभेदेन वेति संशयेऽभेदेनैव ग्राह्यमिति बोधयति सूत्रम्। तथाहि आमनन्ति जाबालाः—आत्माभेदेन ग्राह्य इति "त्वं वाऽह-मस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि"[३] इति "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा[४]" इति सूत्रादपि जीवब्रह्मैक्यं सूच्यते। तथाहि अत्रानर्थ-निवर्तकःब्रह्मविज्ञानाय वेदा-न्तविचारः कर्त्तव्य इति सूत्रार्थः। तत्र च जीवगतानर्थः ब्रह्मज्ञानेन कथं निवर्तेत ? यदि जीवः ब्रह्मणोऽन्यः स्यात्। अतो न जीवो ब्रह्मणो भिन्नः। किन्त्वभिन्न एव। तथा च प्रयोगः जीवो ब्रह्माभिन्नः ब्रह्मज्ञाननिवर्त्याध्या सात्मकानर्थाश्रयत्वात्, यो यज्ज्ञाननिवर्त्याध्यासाश्रयः स तदभिन्नः। यथा शुक्त्यभिन्नेदमंशः। तथा च "यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्[५]" इति सूत्रे यत्र-यत्र विभक्तत्वं तत्र तत्र विकारत्वमिति व्याप्तिर्निर्दिश्यते।

प्रपञ्चस्तु सर्वोऽपि विभक्तः। जीवस्तु न विकारः। यदि विभक्तः स्यात् तर्हि विकारेण भवितव्यम्। "न जायते म्रियते वा" इति श्रुतिस्मृ-तिभ्यां जीवस्य विकारत्वाभावात् विभक्तत्वमपि नास्तीति वक्तव्यम्। तथा च तस्य भेदसामान्याभावे ब्रह्माभिन्नत्वं सिध्यति। ननु यदि जीवो ब्रह्म, न तर्हि विरुद्धधर्माश्रयत्वं तयोः उपपद्यते, जीवः किञ्चिज्ञो दुःखी, ईश्वरस्तु सर्वज्ञः, आनन्दरूप इति चेदत्रेदं समाधानम्—जीवस्य स्वतः सुखदुःखे न स्तः, स्वस्यासङ्गचैतन्यरूपत्वात्। सुखदुःखे तु अन्तःकरण-गते, अन्तःकरणस्य जीवेनाभेदाध्यासात् अन्तःकरणगतसुखदुःखे जीवे भासेते। यथा शरीरगत-जरामरणादि आत्मनि शरीराभेदाध्यासादेवेति प्रसिद्धम्।

---

१. ब्र० सू० १।१।११

२. ब्र० सू० ४।१।३

३. ब्र० सू० शां० भा० ३।३।३७

४. ब्र० सू० १।१।१

५. ब्र० सू० २।३।७

अद्वैतवेदान्ते विशेषान्तरम्

माण्डुक्यकारिकायामुक्तम्—

> स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम् ।
> परस्परं विरुध्यन्ते, तैरयं न विरुध्यते[1] ॥

इति गोडपादाचार्योक्तरीत्या भारतीया अभारतीयाश्च द्वैतवादाः सर्वे एव परस्परसिद्धान्तेष्वपि विरुद्धाः सन्ति । तत्र स्वसिद्धान्तानुयायिष्वपि किञ्चिद्भेदमात्रेण ते परस्परं विरुध्यन्ते । यथा वैष्णवेषु, ईशायिमतेषु इस्लाममतेषु च । तत्र रामानुजीयेषु उत्तरकला, दक्षिणकलेति भेदः, ईशायिमते केथोलिकप्रोटेस्टन्ट—इति भेदः । इस्लाममते सियासुन्नि-इत्यादिभेदः । तेषां च परस्परं विरोधः मरणान्तो युद्धान्तश्च श्रूयते दृश्यते चेति सर्वविदितम् ।

वेदान्ते तु श्रीशङ्करभगवत्पादकृतमर्यादे अवान्तरभेदः किञ्चित् किञ्चित् वर्तमानोऽपि यथा प्रतिबिम्बवादः, अवच्छेदवादः, आभासवादः, सृष्टिदृष्टिवादः, दृष्टिसृष्टिवादः, एकजीववादः, अनेकजीववाद इत्यादि—बहुभेदे सत्यपि अत्र तथा न कलहोऽद्वैतवादे, यथा द्वैतवादे दृश्यते । अतः युक्तमुक्तम् "अविवादोऽविरुद्धश्चेति" ।

अपि च द्वैतवादैरपि नाद्वैतवादस्य विरोधः । "द्वैतस्य व्यवहारसिद्धयर्थं व्यावहारिकसत्तामङ्गीकृत्य तत्त्वज्ञानोपकारकतया द्वैतमूलककर्मणामुपासनानाञ्च स्पष्टमङ्गीकारात् ।

द्वैतवादिनस्तु व्यावहारिकमपि पारमार्थिकमिति मत्वा अद्वैतिषु विरोधं कुर्वन्ति । अद्वैतिनस्तु तद्विरोधेन न खेदं लभन्ते । यथा अत्र दृष्टान्तः श्रीशङ्कराचार्यैरुक्तः—

"कश्चिद् भूमिष्ठ उन्मत्तः पुरत आगच्छन्तं मत्तगजारूढमाह—अहमपि गजारूढः मां प्रति त्वदीयं गजं प्रेरय न मे भीतिरिति । गजारूढस्तु भ्रान्तोऽयमिति ज्ञात्वा गजं न प्रेरयति । ते द्वैतदृष्टीन् स्वविरोधिनो न मन्यन्ते । अतोऽपरमार्थेन द्वैतेन परमार्थाद्वैतवादिनो न विरोधः । न केवलं प्रपञ्चसत्यत्ववादिनं प्रति अविरोधः, अपितु जीवनानात्ववादिनोऽपि प्रति न

---

१. गौडपादकारिका ३।१७

विरोधः। तदुक्तमाचार्यैः—"त्वयि मयि चान्यस्मिंश्च एको विष्णुः। व्यर्थं कुप्यसि मय्यसहिष्णुः" इति।

एवं शिवविष्ण्वादीनाम् अभेदादुपास्यमूर्तीनां भेदेनापि नाद्वैते विरोधः। तदुक्तम् ऋग्वेदे—"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" इति। अथवा "एको देवो बहुधा निविष्टः, इति[1]। एवं श्रुत्युक्तरीत्या चैकस्यैव परमात्मनः तत्तद्रूपेणोपास्यत्वाङ्गीकारात्। अत एवाचार्यैः गणेशभुजङ्गे—"यमेकाक्षरं निर्मलं निर्विकल्पं गुणातीतमानन्दमाकारशून्यम्[2]। परम्पारमोङ्कारमाम्नायगर्भं वदन्ति प्रगल्भं पुराणं तमीडे।" इति गणेशः परमात्मरूपेण स्तूयते।

एवम्, अनाद्यन्तमाद्यन्तपरन्तत्त्वमर्थं चिदाकारमेकं तुरीयं त्वमेवम्। हरिं ब्रह्म मृग्यं परब्रह्मरूपं मनोवागतीतं महाशैवमोडे[3]" इति शिवः परब्रह्मरूपेण स्तूयते। तथा देवीमुद्दिश्य—"जगज्जालमेतत् त्वयैवाम्ब सृष्टं, त्वमेवात्सीन्द्रियैरर्थजालम्" त्वमेकैव कर्त्री त्वमेकैव भोक्त्री[4] इत्यादिना देव्याः परब्रह्मरूपत्वमुच्यते। एवञ्च सत्यं ज्ञानं शुद्धमनन्तं व्यतिरिक्तं शान्तं गूढं निष्कलमानन्दमनन्यमित्याह। आदौ यं वरुणोऽसौ भृगवेऽजं तं संसारविनाशदध्वान्तं हरिमीडे।[5] इत्यादि बहुस्तोत्रैः विष्णोः परब्रह्मरूपत्वं स्तूयते। एवमुक्त्वा—श्रीरामस्य "विशुद्धं परं सच्चिदानन्दरूपं गुणाधारमाधारहीनं वरेण्यं, महान्तं विभान्तं गुहान्तं गुणान्तम्, सुखान्तं स्वयं धामरामं प्रपद्ये[6]।" इति श्रीरामस्य परब्रह्मरूपत्वम्। "सत्यं ज्ञानमन्तं नित्यमनाकाशं पराकाशम्[7]" इत्यादिना श्रीकृष्णस्य परब्रह्मत्वं स्तौति। अपि च बहवोऽद्वैतवादिनो विभिन्नदेवतानां समुपासका बभूवुः। यथा—

श्रीगौडपादाचार्या भगवतो नारायणस्योपासका बभूवुः। अपि च अद्वैतवादिनः श्रीमदप्पय्यदीक्षिताः शिवोपासका आसन्। भास्कररायाः

---

१. मुद्गलोपनि—३

२. स्तोत्राणि—७, पृ० ४

३. ,, २, पृ० १५

४. ,, २, पृ० १५७-८

५. स्तोत्राणि—१९, पृ० ३१९

६. स्तोत्राणि—१, पृ० ३७४

७. स्तोत्राणि—१, पृ० ३९२

सौन्दर्यलहरीव्याख्यातारः श्रीदेव्याः समुपासका आसन् श्रीस्वामिमधुसूदन-सरस्वत्यः भगवतः श्रीकृष्णस्य समुपासका बभूवुः। इत्थमनेके विभिन्नदेवोपासका अद्वैतवादमेव समर्थितवन्तः। अद्वैतवाद ईश्वरेष्वपि भेदं निरस्यति। अतः शैववैष्णवादिकलहस्यानवकाशः। अतएव श्रीशङ्कराचार्याः षण्मत-स्थापनाचार्या इति प्रसिद्धिः। शैववैष्णवशाक्तगाणपत्यकौमारसौर्यादिषण्णां मतानां सर्वेषां वैदिकत्वात् यां कामपि देवतामुद्दिश्य तासामुपासनया परम-श्रेयो लब्धुं शक्यते इति सिद्धान्तं प्रकटीचक्रुः। अतएव स्वरूपाविर्भावरूप-मोक्षं तु प्राप्तुमिच्छुः यां कामपि देवतामुपास्य मुक्तिं प्राप्तुं प्रभवतीति सिद्धान्तः प्रकाशितः। अतएव वैदिकमतानुयायिनामपि निर्गुणब्रह्मसाक्षा-त्कारेऽधिकारः सिद्धो भवति।

इत्थं सर्वमताविरुद्धत्वात् सर्वोत्कृष्टमिदं मतमिति तस्यान्तिमत्वेन निवेशः सम्पादितः।

——

उपसंहारः

भारतीयदर्शनेषु वेदप्रामाण्याभ्युपगन्तॄणां दर्शनानि यथामति सङ्क्षेपेण प्रदर्श्य विमृष्टानि। एवं पूर्वपक्षरूपेण चार्वाक-जैन-बौद्धदर्शनानां बौद्ध-दर्शनेष्ववान्तरभेदप्राप्तानां दर्शनानाञ्च यथा शून्यवादि-विज्ञानवादि-सौत्रान्तिक-वैभाषिकाणां च समालोचनमकारि।

वैदिकेषु मध्ये न्यायदर्शनमारभ्य वैशेषिक-सांख्ययोग-पूर्वमीमांसादर्शनानि, तथा उत्तरमीमांसदर्शने (वेदान्तप्रस्थाने) च औपाधिकभेदाभेद-विशिष्टाद्वैत-द्वैत-शुद्धाद्वैत-स्वाभाविकभिन्नाभिन्न-शैव-वीरशैव-अविभागाद्वैत-अचिन्त्य-भेदाभेद-अद्वैतवाददर्शनानि सङ्क्षेपेण प्रदर्श्य विमृष्टानि। सर्वाण्येतानि दर्शनानि वेदप्रामाण्यमभ्युपगच्छन्ति।

तेषु कानिचित् दर्शनानि वेदानां स्वतः प्रामाण्यं स्वीकुर्वन्ति। अन्यानि परतः प्रामाण्यमिति मन्यन्ते। तत्र सर्वे वेदान्तिनः स्वतः प्रामाण्यमिच्छन्ति, तथा सांख्याः, योगिनः पूर्वमीमांसकाश्चानैयायिकवैशेषिकौ परतः प्रामाण्यमीश्वरोच्चरितत्वात् वेदानामित्याहतुः। वेदान्ते द्वैतिनः शैवा वैष्णवाश्च सन्ति। तथा विशिष्टाद्वैतिनः शैवा वैष्णवाश्च भवन्ति। तत्र शैवविशिष्टाद्वैतिनः श्रीकण्ठाचार्यादयः शैवागमं प्रमाणीकृत्य तदनुसारेण वेदान्तान् व्याकुर्वन्ति।

वैष्णवविशिष्टाद्वैतिनो माध्वद्वैतिनश्च पाञ्चरात्रागमं वेदान्तविषये प्रमाणीकृत्य तदनुसारेण उपनिषदो भगवद्गीतां ब्रह्मसूत्राणि च व्याकुर्वन्ति। ब्रह्मसूत्रद्वितीयाध्यायद्वितीयपादेऽन्तिमं यदुत्पत्त्यसंभवाधिकरणं, तत् यद्यपि परमतनिराकरणप्रधानं, तथापि तस्य पाञ्चरात्रप्रामाण्यस्थापनपरतया व्याचक्षते।

तत्र पाञ्चरात्रमनुसृत्य जगत्सृष्ट्यादिकं जीवेश्वरस्वरूपादिकं मोक्षस्वरूपं चाभ्युपगच्छन्ति। श्रीशङ्कराचार्यास्तेषामनुयायिनश्चोपनिषदां भगवद्गीताया ब्रह्मसूत्राणां च मुख्यार्थपरतया व्याख्यां विधाय निर्विशेषब्रह्मवादं व्यवस्थापयन्ति।

अस्मिन् मते शिवपराणां विष्णुपराणां शक्तिपराणां च सर्वेषां वेदभागानां प्रामाण्यं सिद्धं भवति। इतरेषां तु तत्तद्देवतादिवेदभागमात्रप्रामाण्यमभ्युपगतं भवति। अद्वैतवादे सर्वेषामेव मतानामविरोधः सर्वमतसामञ्जस्यञ्च सिध्यति। अतएवैतन्मतस्यान्ते निवेशमकरवम्। लोकहितैषिणां करुणार्णवानां श्रीशङ्कराचार्याणां मतमेव सर्वदर्शनैकीकरणधुरं वहति। व्यवहारेऽपि अद्वैतवादो वा अभेददर्शनं वा एकतास्थापनायै सामर्थ्यं धारयति नान्यदिति मे मतिः। अस्याद्वैतवेदान्तस्य महद्वैशिष्ट्यमिदमप्यस्ति यज्जीवन्मुक्तिव्यवस्थापनम्। जीवतोऽपि मुक्तत्वम्, अधिगतात्मतत्त्वसाक्षात्कारस्य मुक्तस्यापि जीवत्त्वम् (प्रारब्धानुसारिप्रवृत्तभोगव्यवहारयोर्निर्वाहपुरःसरं लोकवेदमर्यादासंरक्षणं) वा इह जीवन्मुक्तत्वं बोद्धव्यम्। यत्राद्वैततत्त्वावबोधरहिताः संसारिणो जीवन्तोऽपि रागद्वेषाभिभूता न लोकमर्यादाया न वा शास्त्रमर्यादाया संक्षरणोपयोगिनो लोककल्याणाय प्रभवन्ति, तथैव विदेहमुक्तानां ब्रह्मीभूतानां क उपयोगो लोकशास्त्रमर्यादासंरक्षणद्वारा व्यावहारिकजगतीति जानन्ति विज्ञाः। एवं हि अद्वैतवेदान्तव्यवस्थायां विदेहमुक्तिर्व्यक्तेः आत्यन्तिकीं बन्धनिवृत्तिमभिव्यञ्जयति, तत्रैव जीवन्मुक्तिः व्यावहारिकजीवने रागादिदोषराहित्यमानयन्ती समाजस्य महदुपकरोति। ये हि जीवन्मुक्ता अस्या मुक्तेः प्राप्तरसास्वादास्ते लोकमर्यादापरिपालनपुरःसरं वेदमर्यादायाः सरंक्षणमेव कुर्वन्तो विचरन्ति, जीवन्मुक्तिव्यवस्थाञ्च समर्थयन्ति मर्यादारक्षणार्थमेव। एतद्रसास्वादविरहिता एव हि जीवन्मुक्तिं निराकुर्वन्तीति मन्यामहे।

अत एवोक्तम् विद्यारण्यमुनिना—

बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशाञ्चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे॥ इति।

एतद्वचनेनेदमुक्तं भवति, यत् यो हि पुमान् बुद्धाद्वैततत्त्वः स व्यवहारप्राप्ताम् शास्त्रोक्तमर्यादां नोल्लङ्घयिष्यति। उल्लङ्घयेच्चेत् नासावधिगताद्वैततत्त्वसाक्षात्कारः। एतावता प्रतीतं भवति यज्जीवन्मुक्तो महात्मा मुक्तोऽपि यावज्जीवं तथा व्यवहरति यद्दृष्ट्वा समाजो नार्य्यपथात् च्यवेत, जीवन्मुक्तात् तस्मान्महात्मन एव स्वयं परमपुरुषार्थपथादर्शमपि प्रत्यक्षमाकलयेत्। सोऽयमादर्शभूतो अपूर्वो जीवन्मुक्तानां व्यवहारपथावतारः। नूनमेतेनाद्वैतवेदान्तस्य जीवन्मुक्तिसिद्धान्तः किमप्यभिनवं वैशिष्ट्यमञ्चति।

इत्थमयं वादो न केवलं व्यवहाराविरोधित्वं भजते प्रत्युत व्यवहारानुगुण्य-मपि पुष्णातीति वयं प्रतीमः।

आचार्यश्रीशङ्करभगवत्पादाः स्वीयाल्पीयस्येव वयसि जीवन्मुक्ति-व्यवस्थां साधयन्तस्तदनुसारं बहून् शास्त्रोक्तान् व्यवहारान् लोके प्रत्यतिष्ठि-पन्। एतेषां जीवनेन प्रतीयते यत्तेऽद्वैततत्त्वप्रतिष्ठापनेन सहैव शास्त्र-मर्यादानुसारं लोकव्यवहारानपि शोधयामासुरिति।

द्वैतवादाग्रहिणोऽपि इदानीमचिरप्रवृत्ते 'एकात्मता यज्ञे' सोत्साहं सम्मिल्यानेकेष्वेकतारूपामद्वैतवेदान्तविशेषतामेवप्रकारान्तरेणाङ्गीकुर्वन्तीति पश्यामः।

एवं, यथाहि नित्यसच्चिदानन्दरूपोऽपि परमेश्वरो रामाद्यवतारे विप्रशापामोघत्वादिस्वयंकृतमर्यादापरिपालनाय स्वेच्छेयैव भृगुशापादि-सत्यत्वं लोके प्रकाशयितुं समये-समये नटवदभिनयति, तथैव जीवन्मुक्ताअपि परमेश्वरकृतमर्यादायाः स्वयं पालनबुध्या परेषाञ्च कृते तन्मर्यादापरिपाल-नादर्शोपस्थापनधिया च लोकसंग्रहार्थमेव सर्वान् शास्त्रोक्तव्यवहाराना-चरन्तीति महद्वैशिष्टयमद्वैतवेदान्ते जीवन्मुक्तिव्यवस्थाया व्यावहारिक-दृष्ट्यापीति मन्तव्यम्।

अतः षड्दर्शनव्याख्यातारः श्रीवाचस्पतिमिश्राः—

नत्वा विशुद्धविज्ञानं शङ्करं करुणाकरम्।
भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तत्प्रणीतं विभज्यते॥

आचार्यकृतिनिवेशनमप्यवधूतं वचोऽस्मदादीनाम्।
रथ्योदकमिव गङ्गाप्रवाहपातः पवित्रयति॥

इत्याचार्यान् स्तुवन्ति।

पद्मपादाचार्याश्च "लोकानुग्रहैकरसतया धृतशरीरस्य भगवतो भाष्य-कारस्य वचनमागममिति वदन्तस्तद्वेदतुल्यमिति कथयन्ति। तार्किका उदयनाचार्यादयः प्राभाकरा भाट्टाश्च शाङ्करदर्शनमेवोपनिषत्तात्पर्यविषय इति स्पष्टं लिखन्ति। अतएव सिद्धान्तबिन्दुव्याख्यातारो ब्रह्मानन्दसरस्वत्यः सकलमतमूर्धन्यमद्वैतमतमवतारयन्तीति आहुः। तथा श्रीशङ्करसुरेश्वरादि-

कृतमर्यादं वेदान्तदर्शनं सर्वेषु दर्शनीयतमं दर्शनमित्याहुः। अपि च सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा मधुसूदनसरस्वत्यः अद्वैतरत्नरक्षणग्रन्थादौ—

"निर्जित्य प्रतिपक्षान् द्वैतधियो दुष्टतार्किकम्मन्यान्।
अद्वैततत्त्वरत्नं रक्षितुमयमुद्यमः क्षमः स्यान्नः" ॥ इति

प्राहुः।

अन्यत्र श्रीशङ्करभगवत्पादान् इत्थं स्तुवन्ति—

अद्वैतार्णवपूर्णचन्द्रमभिदापद्माटवीभास्करम्,
विद्वत्कोटिसमर्चिताङ्घ्रियुगलं प्रद्वेषिकक्षानलम्।
हृद्याभेद्यसमस्तवेदजनितप्रोद्यद्विवेकाङ्कुरम्,
स्विद्यद्वागमृतं परात्परगुरुं श्रीशङ्करं तं भजे ॥ इति।

वार्तिककारा अपि प्राहुः—

आशैलादुदयात्तथास्तगिरितो भास्वद्यशोरश्मिभिः,
व्याप्तं विश्वमनन्धकारमभवद् यस्य स्म शिष्यैरिदम्।
आराज्ज्ञानगभस्तिभिः प्रतिहतश्चन्द्रायते भास्करः,
तस्मै शङ्करभानवे तनुमनोवाग्भिर्नमः स्यात् सदा ॥
तस्मै शङ्करभानवे तनुमनोवाग्भिर्नमः स्यात् सदा ॥

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
प्रहसन्ति ततः केऽपि समादधति साधवः ॥
ऋत्वब्धिशून्यनेत्राब्दे वैक्रमे शरदागमे।
भौमे सिते दशम्यां वै ग्रन्थः प्राकाश्यमाप्तवान् ॥

इति श्रीमत्स्वामिशिवानन्दाश्रमाध्यक्ष-परमहंसपरिव्राजकाचार्य-
पूज्यपादश्रीस्वामिचिदानन्दसरस्वतीशिष्येण
स्वामिगुरुपादानन्दसरस्वत्या विरचितः
"वैदिकदर्शनेष्वात्मस्वरूपविमर्शः"
इत्यभिधानो ग्रन्थः
समाप्तः।

॥ ॐ तत् सत् विश्वेश्वरार्पणमस्तु ॥

शोधकार्ये सहायकग्रन्थानां सूची

१. अद्वैतरत्नरक्षणम्— श्री मधुसूदनसरस्वतीप्रणीतम् । अनन्तकृष्ण-शास्त्रिणा संस्कृतम् ।

२. अद्वैतसिद्धिः— श्रीमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता बालबोधिन्याख्यया व्याख्ययोद्भासिता ।

३. अथ वेदाङ्गप्रकाशः— (निघण्टुः) यास्कमुनिनिर्मितो वैदिककोषः श्रीपण्डित युधिष्ठिरमीमांसकेन संशोधितः ।

४. अपरोक्षानुभूतिः— श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यविरचिता श्रीएस० सुब्रह्मण्यशास्त्रिणा संपादिता महेश-अनुसंधान संस्थानम्, माउण्टआबू, वाराणसी ।

५. आत्मतत्वविवेकः— श्री उदयनाचार्यविरचितः, आचार्य केदारनाथत्रिपाठिकृतराष्ट्रभाषानुवादोपेतः ।

६. आत्ममीमांसा— ले० दलसुख मालवणिया (हिन्दी) प्रकाशन —श्रीजैनसंस्कृतिसंशोधनमण्डल, बनारस-५

७. आत्मबोधः— श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितः, श्रीएस० सुब्रह्मण्यशास्त्रिणा संपादितः, महेशअनुसंधान-संस्थानम्, माउण्टआबू, वाराणसी ।

८. आत्मज्ञानोपदेशविधिः— श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितः, श्रीएस० सुब्रह्मण्यशास्त्रिणा संपादितः, महेशअनुसंधानसंस्थानम्, माउण्टआबू, वाराणसी ।

९. इष्टसिद्धिः— ज्ञानोत्तमकृतविवरणसारसंहिता । प्राच्यविद्या संस्थान—बरोडा ।

१०. ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः पणशीकरोपाह्ववासुदेवशर्मणा संस्कृताः ।

११. ईशादिदशोपनिषदः—शांकरभाष्यसमेताः (श्रीशंकराचार्य ग्रंथावली) प्रथमोभागः—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

१२. ईश्वरप्रतिपत्ति-
प्रकाशः— श्री मधुसूदनसरस्वतीप्रणीतः।

१३. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण (हिन्दी) ले० रामचन्द्र दत्ताश्रेय रानाडे। अनुवादक-रामानन्द तिवारी।

१४. उपदेशसाहस्री— श्रीमच्छङ्कराचार्यप्रणीता।

१५. उपनिषदां समुच्चयः—विनायक गणेश आप्टे—पुण्यपत्तने।

१६. उपदेशपञ्चरत्नम्— श्रीशंकरभगवत्पादाचार्यविरचितम् (प्रकरणाष्टकस्य) श्री० एस० सुब्रह्मण्यशास्त्रिणा संपादितम्, महेश-अनुसंधान-संस्थानम्, माउण्टआबू, वाराणसी।

१७. ऐतरेयोपनिषत्— आनन्दगिरिकृतटीकासंवलित शाङ्करभाष्यसमेता, संशोधकः "विनायक गणेश आपटे" पुण्यपत्तने प्रकाशिता।

१८. खण्डनखण्डखाद्यम्— महाकविश्रीहर्षमिश्रप्रणीतम्, श्रीमच्छङ्करमिश्रविरचित "शाङ्करी" सहित "तत्त्वबोधिनी" हिन्दी व्याख्योपेतम्।

१९. छांदोग्योपनिषत्— आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशाङ्करभाष्य समेता—

२०. तत्त्वत्रयम्— श्रीमल्लोकाचार्यचरण प्रणीतम्, सं० स्वामी भागवताचार्यः,

२१. तर्कसंग्रहः— अन्नंभट्टविरचितम्, व्याख्याकार-आचार्य-केदारनाथत्रिपाठी काशी-हिन्दू-बिश्व-विद्यालय, वाराणसी।

२२. त्रिपुरी श्रीमच्छङ्कराचार्यप्रणीता, श्री एस० सुब्रह्मण्य-शास्त्रिणा सम्पादिता। महेश-अनुसन्धान-संस्थानम्, माउण्ट आबू, वाराणसी।

२३. धम्मपद— (मूल-पाली-संस्कृत-छाया और हिन्दी अनुवाद) अनुवादक–डॉ० भिक्षुधर्मरक्षित त्रिपिटकाचार्य, मोतीलाल-बनारसी-दास, वाराणसी ।

२४. न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली— श्रीविश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्यकृता, सं०-श्रीहरिरामशुक्लः ।

२५. न्यायदर्शनम्— महर्षिगौतमप्रणीतम्, वात्स्यायनभाष्यसंवलितम्, सम्पादक-स्वामी द्वारिकादासशास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी ।

२६. न्यायबिन्दुः— आचार्यधर्मकीर्तिप्रणीतः, धर्मोत्तराचार्यप्रणीतटीकासमेतः ।

२७. न्यायरक्षामणिः— श्रीमदप्पय्य दीक्षितेन्द्रविरचितः, संपादकः—श्री एस० आर० कृष्णमूर्ति शास्त्री,

२८. न्यायकुसुमांजलिः— श्रीमदुदयनाचार्यविरचितः,

२९. न्यायसुधा— तन्त्रवार्तिकटीका—भट्टसोमेश्वर विरचिता सम्पादकः—पं० मुकुन्दशास्त्री ।

३०. पञ्चीकरणम्— श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितम् । श्री-एस० सुब्रह्मण्यशास्त्रिणा संपादितम्, महेश-अनुसंधान संस्थानम् माउन्ट आबू, वाराणसी ।

३१. पातञ्जलयोगसूत्रम्— भोजदेवकृतराजमार्तण्डवृत्तिसमेतम् संपादकः डॉ० रामशंकर भट्टाचार्यः,

३२. पातञ्जलयोगदर्शनम्—(वाचस्पतिमिश्रविरचित—तत्त्ववैशारदीविज्ञानभिक्षुकृतयोगवार्तिकविभूषितव्यासभाष्यसमेतम्)

३३. प्रमाणवार्तिकम्— आचार्य धर्मकीर्तिविरचितम्, सम्पादक—स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्धभारती ग्रन्थमाला, वाराणसी

३४. प्रमेयकमलमार्तण्डः— श्रीप्रभाचन्द्रविरचितः, सं० पं० महेन्द्रकुमारशास्त्री निर्णय सागर मुद्रणालये सम्मुद्रितः।

३५. प्रकरणपञ्चिका— महामहोपाध्याय श्रीमच्छालिकनाथमिश्र—विरचिता। श्री सुब्रह्मण्यशास्त्रिणा संपादिता काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः, वाराणसी।

३६. प्रशस्तपादभाष्यम्— प्रशस्तपादाचार्यप्रणीतम्। श्रीधरभट्टप्रणीतया न्यायकन्दलिव्याख्यया संवलितम्।

३७. प्रमेयपारिजतः— ले० म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, प्रधानसंपादकः—डॉ० मण्डनमिश्रः सहसम्पादकः—श्री शिवदत्तशर्मा

३८. बौद्धदर्शनमीमांसा— आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, चौक—वाराणसी।

३९. बौद्धधर्मदर्शन— आचार्य नरेन्द्रदेव, प्रकाशक-बिहारराष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

४०. ब्रह्मसूत्रप्रमुखभाष्य—पञ्चकसमीक्षणम्— प्रणेता—डॉ० रामशरण त्रिपाठी, प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी—१

४१. ब्रह्मसूत्रभाष्यम्— श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यप्रणीतम्, प्रकाशन—स्थानम्—कामकोटिस्थानम्—

४२. ब्रह्मसूत्रभाष्यम्— श्रीभास्कराचार्यं विरचितम्, सम्पादकः—पं० विन्ध्येश्वरीप्रदाद द्विवेदी, प्रकाशकः—चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो—वाराणसी।

४३. ब्रह्मसूत्र श्रीभाष्यम्— भगवद्वादरायणप्रणीतशारीरकमीमांसाया भाष्यं श्रीभगवद्रामानुजविरचितम् अभिनवदेशिक-श्रीवत्स-श्रीशैलसच्चक्रवर्ती (उत्तमूर) वीरराघवाचार्यविरचित भाष्यार्थदर्पण सहितम्।

४४. ,, (द्वितीयादिसर्वाध्यायरूपो द्वितीयोभागः)

४५. ब्रह्मसूत्राणामणुभाष्यम् — श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रादुर्भावितम्

४६. ब्रह्मसूत्रम् — श्रीनिम्बार्काचार्यप्रणीतवेदान्तपारिजातसौरभ भाष्यसहितम्। एवं वेदान्तकौस्तुभनामक टीकासहितम्, सम्पादकः—पण्डित श्रीढुण्ढिराजशास्त्री, प्रकाशकः जय कृष्णदास हरिदासगुप्त संस्कृत सिरीज, वाराणसी।

४७. ब्रह्ममीमांसाभाष्यम्—(वेदान्तपरिजातसौरभनामकम्) श्रीनिम्बार्काचार्येण प्रणीतम्। पण्डित विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदिना संस्कृतम्। वाराणस्याम् बाबू श्रीहरिकृष्णदासगुप्तेन विद्याविलासयन्त्रालये, मुद्रितम्।

४८. ब्रह्मसूत्रभाष्यम्— श्रीमच्छ्रीकण्ठाचार्यकृतम्, भाग १, श्रीमदप्पय्य दीक्षितकृत "शिवार्कमणिदीपिकाख्यव्याख्यासहितम्। रा० हालास्यनाथशास्त्रिणा संशोधितम्।

४९. ब्रह्मसूत्रभाष्यम्— (शैवविशिष्टाद्वैतम्) भाग—२ (श्रीमच्छ्रीकण्ठाचार्यकृतम्) द्वितीयतृतीयतुरीयाध्यायात्मकं द्वितीयं सम्पदम्। श्रीमदप्पय्यदीक्षितकृतशिवार्कमणिदीपिका, नयमणिमालया च सनाथीकृतम्। निर्णयसागरमुद्रणालये सम्मुद्रितम्।

५०. "ब्रह्मसूत्र" श्रीकरभाष्यम्— प्रथमो भागः श्रीपतिपण्डितभगवत्पादाचार्यविरचितः प्रधानसम्पादक - डॉ० जि० मरुळ्सिद्धय्यप्राच्यविद्यासंशोधनालयः, मैसूर विश्वविद्यालयः, मैसूर।

५१. "ब्रह्मसूत्र" श्रीकरभाष्यम्— द्वितीयाभागश्च।

५२. "ब्रह्मसूत्र" — विज्ञानामृतभाष्यम् विज्ञानभिक्षुप्रणीतम्। संपादकः—आचार्य केदारनाथ त्रिपाठी, प्रकाशकः काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः, वाराणसी।

५३. "श्रीमद्ब्रह्मसूत्र-गोविन्दभाष्यम्" — श्रीबलदेवविद्याभूषणविरचितम् संपादकः—प्रकाशकश्च — कृष्णदासः कुसुमसरोवरः मुद्रकः—रमनलाल बंसल, पुष्पराज प्रेस, मथुरा।

५४. ब्रह्मसूत्रस्य शक्तिभाष्यम् — महामहोपाध्यायपञ्चाननतर्करत्नभट्टाचार्य-विरचितम्। (समूलप्रथमाध्यायः) श्रीमद्गुरु-पदहालदारसरस्वतीदत्तधनेन जीवन्यायतीर्थं-भट्टाचार्येण प्रकाशितम्।

५५. बृहती — प्रभाकरमिश्रप्रणीता (शाबरभाष्यव्याख्या) सम्पादकः—शे० कु० रामनाथशास्त्री मद्र-पुरीय विश्वविद्यालयः

५६. सर्वमूल ग्रंथाः ब्रह्मसूत्रभाष्यम्- — श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाः-अखिल भारत-माध्वमहामण्डल पूर्णप्रज्ञविद्यापीठ पू० नगर बेंगलूर–२८

५७. भारतीयदर्शन (हिन्दी) — लेखक—सतीशचन्द्रचट्टोपाध्याय एवं धीरेन्द्र-मोहन दत्त, अनुवादक–हरिमोहन झा एवं नित्यानन्द मिश्र, प्रकाशक—पुस्तकभण्डार, पटना।

५८. भारतीयदर्शन — लेखक डॉ० राधाकृष्णन्—प्रथम भाग, अनुवादक—नन्दकिशोर गोभिल, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली—६

५९. भारतीय संस्कृति (हिन्दी) — लेखक म० म० गोपालशास्त्री (दर्शनकेसरी) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

६०. भारतीय दर्शन का इतिहास भाग १-२ — लेखक—डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, अनुवादक कलानाथ शास्त्री एवं सुधीरकुमार, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी—जयपुर—४

६१. वही—भाग ३— डा० सुरेन्द्रनाथदास गुप्त, अनुवादक, बसावडा, राजस्थान, हिन्दी ग्रंथ अकादमी-ए-२७।२ विद्यालय मार्ग तिलकनगर, जयपुर-४

६२. वही—भाग ४— अनुवादक मोहनलाल शर्मा, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी-जयपुर-४

६३. भारतीयदर्शन— ले० आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक—चौखम्बा ओरियंटालिया, पो० बा० नं० ३२ गोपालमन्दिर लेन, वाराणसी।

६४. भारतीयदर्शन— म० म० डॉ० उमेश मिश्र, हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन—राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, हिन्दी भवन, महात्मा गांधी मार्ग—लखनऊ।

६५. भाट्टदीपिका— श्रीमत्खण्डदेवप्रणीता। निर्णयसागराख्यमुद्रणयन्त्रालये मुद्रिता। सं०—पं० अनन्तकृष्ण शास्त्री

६६. भारतीयदर्शनों में आत्मा—लेखक—म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, अनुवादक—संपादक—श्रीशिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी।

६७. मनीषापञ्चकम्— श्रीमच्छङ्कराचार्य विरचितम्—(प्रकरणाष्टकस्य) एस० सुब्रह्मण्यशास्त्रिणा संपादितम् महेश—अनुसंधान—संस्थानम् वाराणसी, (माउण्ट बाबू)।

६८. मनुस्मृतिः— श्रीकुल्लूकभट्टविरचित व्याख्या समेता—सं० पं० श्री गोपालशास्त्री नेने, प्रका०—चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस—वाराणसी।

६९. मनोविज्ञानम्— आयुर्वेदरत्नाकर श्रीब्रजबिहारी चतुर्वेदी ।

७०. मध्यमकशास्त्रम्— नागार्जुनीयम्, बौद्धसंस्कृतग्रन्थावली, वैद्योपाह्व—श्री परशुराम शर्मणा संस्कृतम् दरभङ्गास्थ, मिथिलाविद्यापीठेन प्रकाशितम् ।

७१. श्रीमज्जैमिनि प्रणीते मीमांसादर्शने (तर्कपादः)— शाबरभाष्योपेतः तीर्थहल्ली सुब्बाशास्तिभिः संशोधितः ।

७२. याज्ञवल्क्यस्मृतिः— श्रीमद्योगीश्वर महर्षि याज्ञल्क्यप्रणीता नारायणराम आचार्येण संशोधिता च, निर्णय सागर मुद्रणालयम्, मुम्बई ।

७३. योगमनोविज्ञानकी रूप रेखा— ले० शान्तिप्रकाश आत्रेय, दर्शन प्रिन्टर्स—मुरादाबाद ।

७४. लक्षणावली— श्रीमदुदयनाचार्यकृता—प्रकाशकः—मिथिला संस्कृत विद्यापीठः दरभंगा ।

७५. वाक्यवृत्तिः— श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचिता (प्रकरणाष्टकस्य) पं० एस० सुब्रह्मण्यशास्त्रि संपादिता, महेश-अनुसंधान—संस्थानम्, माउण्ट बाबू, वाराणसी ।

७६. वेदान्तदीपः— श्री १०८ भगवद्रामानुजाचार्यविरचितः । संसोधकः-- श्रीमदाचार्य भतृनाथ स्वामो ।

७७. वेदार्थसंग्रहः— श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्य विरचितः प्रकाशक—जगन्नाथ प्रसाद, ई० जे० लाजरस एण्ड कं० काशी ।

७८. वैशेषिकसूत्रोपस्कारः— विद्वच्चूडामणि श्रीशङ्करमिश्रविरचितः, संपादकः—श्रीनारायणमिश्रः प्रकाशकः—चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी ।

८०. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि-प्रकरणद्वयम्— आचार्य वसुबन्धु प्रणीतम्, अनुवादकः— थुबतन छोगडुब शास्त्री, प्रकाशनविभागः— वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी

८१. वेदान्तसारः— श्रीसदानन्दयोगीन्द्रविरचितः — गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास लक्ष्मीवेङ्कटेश्वरस्टीम प्रेस, कल्याण, बम्बई।

८२. वाक्यपदीयम्— (ब्रह्मकाण्डम्) श्रीभर्तृहरिप्रणीतम्, मुख्यसंपादकः—डा० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी (वागीशः शास्त्री), प्रकाशकः—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयः, वाराणसी।

८३. विवरणप्रमेयसंग्रहः— श्रीमत्परमहंस प्ररिव्राजकाचार्य विद्यारण्य-मुनि कृतः। संपादकः–चण्डीप्रसादशुक्ल एवं श्रीकृष्णपन्त शास्त्री, प्रकाशकः—श्री गौरी-शङ्करगोयनका अच्युत ग्रन्थमाला, काशी।

८४. श्रीमद्भगवद्गीताभाष्यम्—श्री मच्छङ्कराचार्यविरचितम्, संशोधकः-हरिरघुनाथ भागवतः पुण्यपत्तनेऽष्टेकरे-कम्पनी, पुण्यपुत्तनम्।

८५. शतश्लोकी— श्रीशङ्करभगवत्पादविरचिता—श्री एस० सुब्रह्मण्यशास्त्रि संपादिता, महेश-अनुसंधान-संस्थानेन प्रकाशिता च वाराणसी। दक्षिणा मूर्ति सं० म० विद्यालय।

८६. शास्त्रदीपिका— श्रीमत्पार्थसारथिमिश्रप्रणीता बच्चा झा सूरिभिः संशोधिता, निर्णयसागरमुद्रणालये प्रकाशिता च मुम्बई।

८७. श्रीमाध्ववेदान्त— श्रीमन्मध्वाचार्यविरचितः प्रस्तोता—आचार्य ललितकृष्णगोस्वामी, प्रकाशकः—मुनिलाल प्रकाशन अधिकारी, श्रीनिम्बार्कपीठः, महाजनीटोला, प्रयागः।

८८. श्रीवल्लभवेदान्तः— (अणुभाष्यम्) श्रीवल्लभाचार्यविरचितम्, प्रकाशकः— मुनिलाल, निम्बाकाचार्यपीठः महाजनी टोला प्रयागः।

८९. श्लोकवार्तिकम्— श्रीमत् कुमारिलभट्टपादविरचितम्, संपादकः—स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, प्रकाशकः—तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी।

९०. श्रीशङ्करग्रंथावलिः— श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचिता प्रकाशकः—वाणी विलास यन्त्रालयः, श्रीरङ्गम्।

९१. षड्दर्शन समुच्चयः— परमार्हत श्रीमणिभद्रकृतः सं० डा० कामेश्वर नाथ मिश्रः, चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी।

९२. सर्वदर्शनसंग्रहः— माधवाचार्यप्रणीतः—(मधुसूदन सरस्वती कृत प्रस्थानभेदश्च) आनन्दाश्रमपण्डितैः संशोधितः, श्रीमत् गणपतराव नातू महोदयैः प्रकाशितः मुद्रितश्च पुण्यपत्तने।

९३. सर्वतन्त्रसिद्धान्तपदार्थलेश संग्रहः— भिक्षु गौरीशंकरेण संगृहीतः प्रका०—मनभरी देवी, ग्रामपुती—पो० भवानीखेर, हिसार।

९४. सर्ववेदान्तसिद्धान्त— श्रीमच्छङ्करपूज्यपादैर्विरचितः वाणीविलास मुद्रणालयः, श्रीरङ्गम्।

९५. सद्धर्मालङ्कारवतारसूत्रम्—बुद्धोपदिष्टम्, वैद्य परशुरामशर्मणा संशोधितम् मिथिलासंस्कृतविद्यापीठे प्रकाशितञ्च।

९६. सभाष्यतत्त्वाधिगमसूत्रम्— श्रीमदुमास्वातिविरचितम्, भाषानुवादकः—खूबचन्द्रजी, प्रका० शेठ मणिलाल रेवाशंकर जगजीवन जौहरी, जौहरी बाजार, खाराकुंआ, मुम्बई।

९७. सर्वसिद्धान्तसंग्रहः— श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचितः प्रकाशकः—काशी विश्वनाथ प्रेस, ढुण्ढिराजगणेश, वाराणसी।

९८. सर्ववेदान्तसारसंग्रहः—श्रीश्यामसुन्दर झा, श्री वी० टी० हिन्दू गुरुकुल संस्कृत महाविद्यालय, आठवां लाइन्स सूरत।

९९. सांख्यकारिका- (सांख्यतत्त्वकौमुदी-सहिता) — श्रीमदीश्वरकृष्णविरचिता प्रकाशकः—पाण्डुरंगजावजी, निर्णयसागर मुद्रणालय—मुम्बई।

१००. सांख्यकारिका— गौडपादभाष्योपेता,—श्रीमदीश्वरकृष्णविरचिता-प्रकाशकः—चौखम्बा संस्कृत सिरीज-आफिस वाराणसी।

१०१. सांख्यसारः— विज्ञानभिक्षुप्रणीतः टीकाकारः—रामशंकर भट्टाचार्यः, भारतीयविद्याप्रकाशन, वाराणसी—दिल्ली।

१०२. स्वरूपनिरूपणम्— श्रीशङ्कराचार्यविरचितम् (प्रकरणाष्टकस्य) श्री एस० सुब्रह्मण्यशास्त्रिसम्पादितम् प्रकाशक-महेश-अनुसंधान-संस्थानम्, वाराणसी माउण्ट आबू।

१०३. स्याद्वादमञ्जरी— हेमचन्द्राचार्यविरचिता, डॉ० जगदीशचन्द्र जैनेन संपादिता प्रकाशकः—श्रीरावजीभाई देसाई—आगास।

१०४. सिद्धान्तबिन्दुः— श्रीमन्मधुसूदनसरस्वतीस्वामिविरचितः सं० एस० सुब्रह्मण्यशास्त्री प्रकाशकः—महेश-अनुसंधान-यंस्थानम्, वाराणसी माउण्ट, आबू।

१०५. सिद्धान्तबिन्दुः— श्रीमत्पण्डितमधुसूदनसरस्वतीप्रणीतः श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचितदशश्लोकी व्याख्यानरूपः, संशोधकः—काशीनाथ अभ्यंकरः, प्राच्यविद्या संशोधनमन्दिर मुद्रणालये, पुण्यपत्तने, प्राकाश्यं नीतम्।

१०६. हिन्दुत्व— लेखक—रामदास गौड, सेवा उपवन–शिवप्रसाद गुप्त, काशी।

——

